आचार्य शान्तिदेवकृत

बोधिचर्यावतार

प्रवचनकार

परम पावन दलाई लामा

अनुवादक : आचार्य कर्मा मोनलम

[हिमालय बौद्ध संस्कृति संरक्षण सभा]

बोधिचर्यावतार

पर

परम पावन दलाई लामा जी

का

विशेष प्रवचन

★

अनुवादक तथा सम्पादक

आचार्य कर्मा मोनलम

बुद्धाब्द २५३१

ई० १९८७

धर्मशाला

हिमाचल प्रदेश (भारत)

बोधिचर्यावतार

पर

परम पावन दलाई लामा जी

का

विशेष प्रवचन

अनुवादक तथा सम्पादक
आचार्य कर्मा मोनलम

प्रकाशक : प्रथम संस्करण :

निजी सचिवालय,
थेगछेन छोलिङ
धर्मशाला, काङ्गडा
हिमाचल प्रदेश (भारत)

द्वितीय संस्करण :

हिमालय बौद्ध संस्कृति संरक्षण सभा

प्रथम संस्करण १९८३
१००० प्रतियाँ

द्वितीय संस्करण १९८७
३००० प्रतियाँ

SPECIAL DISCOURSE

BY

HIS HOLINESS THE DALAI LAMA

ON

BODHICARYĀVATĀR

OF

ACHARYA SHANTIDEVA

*

1987

Translated & Edited by :

Acharya Karma Monlam

द्वितीय संस्करण

बोधिचर्यावतार एक विश्व प्रसिद्ध बौद्ध ग्रन्थ है। इसकी रचना मूलरूप से संस्कृत में हुई है । इस ग्रन्थ का अनुवाद एवं प्रकाशन विश्व के कई देशों एवं भाषाओं में हो चुका है। इस ग्रन्थ की अनेक टीकाएं भी विभिन्न भाषाओं में प्रकाशित हुई हैं। सन् 1981 में परम पावन दलाई लामा जी ने मनाली (हि० प्र०) में इस धार्मिक ग्रन्थ पर सविस्तार प्रवचन दिया था जिसका आचार्य कर्मा- मोनलम ने हिन्दी अनुवाद किया और तत्पश्चात सन् 1983 में इसे सम्पादित कर एक पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया । यह हिन्दी में बोधिचर्यावतार की प्रथम टीका है। जन सामान्य के हित को ध्यान में रखते हुए इसे सरल और सुबोध हिन्दी में लिखा गया है तथा महत्वपूर्ण विषयों पर विस्तार पूर्वक व्याख्या की गई है ।

विश्व शान्ति, बौद्ध धर्म के विकास, विशेषकर भारत के हिमालयी प्रदेशों में बौद्ध धर्म के उत्थान हेतु "हिमालय बौद्ध संस्कृति संरक्षण सभा" की विशेष प्रार्थना पर परम पावन दलाई लामा जी ने इस वर्ष अक्टूबर में पुनः इस महाग्रन्थ पर मनाली में प्रवचन करने की अनुकम्पा प्रदान की है। जन कल्याण अर्थात् हिन्दी भाषा-भाषियों के हित और मानव उत्थान के लिए दलाई लामा जी की आज्ञानुसार इस ग्रन्थ के द्वितीय संस्करण के रूप में तीन हजार प्रतियां प्रकाशित की जा रही हैं।

हिमालय बौद्ध संस्कृति संरक्षण सभा उन सभी लोगों के प्रति आभार प्रकट करती है, जिन्होंने इस ग्रन्थ के द्वितीय संस्करण प्रकाशित करने में अपना बहुमूल्य योगदान दिया, जिसमें

(भारतीय) खम्पा सभा, मनाली द्वारा रु० 5000/- की आर्थिक सहायता उल्लेखनीय है। हिमालय बौद्ध संस्कृति संरक्षण सभा इस बहुमूल्य योगदान के लिए आभारी है। इसके अतिरिक्त श्री पृथ्वी चन्द. रंगरी, मनाली, श्रीमति शेमा यांगजीन, रंगरी, मनाली, श्री सोनम टाशी, समसी भुन्तर, और स्वर्गीय अम्दो ज्ञाछो जिन्होंने व्यक्तिगत रूप से आर्थिक योगदान प्रदान किया सभा उनके प्रति कृतज्ञ है।

अन्त में हिमालय बौद्ध संस्कृति संरक्षण सभा सीमान्त प्रदेशीय बौद्धों की तरफ से इस धार्मिक प्रवचन के लिए परम पावन दलाई लामा जी के प्रति अपनी कृतज्ञता अर्पित करते हुए उनकी धीर्घायु की कामना करती है।

अध्यक्ष
हिमालय बौद्ध संस्कृति संरक्षण सभा

विषय सूची

परम पावन दलाई लामा

THE DALAI LAMA

Thekchen Choeling
Mcleod Ganj–176219
Kangra Dist. H. P.

༄༅། །སེམས་མ་དུལ་བའི་དབང་གིས་རང་གཞན་ལ་གནོད་པའི་ལས་འདུ་བྱེད་པའི་སེམས་ཀྱི་རྒྱུན་ཆགས་རིམ་པ་བཞིན་ཐུབས་ནས། གཞན་དོན་ཁུར་དུ་འཁྱེར་བའི་ལྷག་པའི་བསམ་པ་བཟང་པོ་བདག་བས་གཞན་གཅེས་པའི་བྱང་ཆུབ་ཀྱི་སེམས་རིན་པོ་ཆེ་སྦྱོང་ཚུལ་སྟོན་པའི་གཞུང་གཙོ་བོར་གྱུར་པ། རྒྱ་གར་གྱི་མཁས་གྲུབ་ཆེན་པོ་རྒྱལ་སྲས་ཞི་བ་ལྷས་མཛད་པ། བྱང་ཆུབ་སེམས་པའི་སྤྱོད་པ་ལ་འཇུག་པ་འདི་ཉིད་ཀྱི་སྤྱིད་ཞ་ལོ་ཀུ་ལུ་ཀ་ལྷ་ཤིར་བྱེད་སྐབས་ལོ་ཙ་བ་ཀཆ་ཚེན་ལམ་ནལ་ཉིར་ཧིནྡིའི་སྐད་དུ་བསྒྱུར་བ་གྲུ་འཛུགས་འཁོར་ཚོའི་ནང་གསལ་བ་གས། ད་ལམ་ཞིག་ཐོག་པབ་ཏེ་དཔར་བསྐྲུན་བགྱིས་པ་འདི་ལ་བརྟེན་ནས། སྟོན་པ་སངས་རྒྱས་ཀྱི་འཚེ་མེད་ཞི་བའི་ཆོས་ཚུལ་གང་ལས་བྱུང་བའི་རྒྱ་གར་འཕགས་པའི་ཡུལ་གྱི་ནང་ཆོས་ལ་དོ་ཕང་བྱེད་མཁན་ཚང་མ་ཀྱི་རེ་འདོད་ཡུན་དུ་སྐོང་ཐུབ་པ་དང་། ལྷ་ཆགས་སྟང་གི་དབང་དུ་སོང་བའི་སྐྱེ་བོ་དུ་མར་ཕན་ཐོགས་ཡོང་བའི་རེ་སྨོན་ཡོད། བསྒྱུར་བ་པོར་ངང་ལེགས་བསྔོད་ཀྱི་མེ་ཏོག་བཅས། ཤཱཀྱའི་དགེ་སློང་བསྟན་འཛིན་རྒྱ་མཚོ། སྟོན་པའི་འདས་ལོ་ ༢༥༢༨ ཕྱི་ལོ་ ༡༩༨༡ བོད་རྒྱ་ལག་ཟླ་ཚེས་ལ།

प्रस्तावना

स्वयं अपने और दूसरे सभी के लिए हानिकारक इस अदान्त चित्त के दोषों को क्रमशः दूर करके परहित के लिए भद्र-अध्याशय 'परात्मपरिवर्तन' को बढावा देने वाला 'बोधिचित्त' अभ्यास का मूलभूत ग्रन्थ, ''बोधिचर्यावतार'' है, जिसकी रचना भारतीय महापण्डित आचार्य शान्तिदेव ने की थी। जब इसका प्रवचन कुल्लू–मनाली में हुआ, उस समय श्री कर्मा मोनलम ने हिन्दी अनुवादक का काम किया और तात्कालिक टेप-रिकार्डिंग भी हुयी, जिसको यहाँ लिपिबद्ध करके प्रकाशित किया जा रहा है।

आशा है कि इसके प्रकाशन से भगवान् तथागत के अहिंसा एवं शान्ति के मार्ग की जन्म-भूमि इस आर्य देश के बौद्ध-धर्म में जिज्ञासा रखने वाले निवासियों के मनोरथ की पूर्ति के लिए कुछ योगदान होगा और राग-द्वेष से प्रभावित लोगों को कुछ राहत मिल सकेगी।

अनुवादक के लिए प्रशंसा-सुमन सहित।

थेगछेन छोलिङ
धर्मशाला

शाक्य-भिक्षु तेनजिन ग्याछो,
(चौदहवें दलाई लामा)

बुद्धाब्द २५२७
ई० १९८३

दो शब्द

परम पावन दलाई लामा जी ने विनेयजनों के प्रार्थना पर १९८१ में कुल्लू मनाली में आठ दिनों तक 'बोधिचर्यावतार' पर प्रवचन दिया था। समयाभाव के कारण प्रवचन में मूलग्रन्थ का संक्षिप्त भावार्थ ही आ सका। मुझे उस समय प्रवचनों का हिन्दी में अनुवाद करने का सौभाग्य मिला था। परम पावन जी के आशीर्वाद से उस समय किये गये रिकार्डिङ्ग के आधार पर मैं ग्रन्थ को इस रूप में प्रस्तुत कर रहा हूँ।

मैंने यथाशक्ति प्रयास किया है कि यह अनुवाद परम पावन जी के प्रवचन का शब्दशः रूपान्तर हो, किन्तु साधारण लोगों के हित को ध्यान में रखकर यथासंभव सरल हिन्दी में लिखने का प्रयास किया है। अहिन्दी भाषी होने के कारण अनुवाद में त्रुटियाँ होना स्वाभाविक है।

परम पावन दलाई लामा जी ने मुल श्लोकों की व्याख्या करते समय जगह जगह पर प्रसंगवश अनेक महत्त्वपूर्ण उपदेश भी दिये हैं, जिन्हें सम्पादन के समय मैंने कोष्ठक "[ ]" में रखने का प्रयास किया है। आशा है कि जिज्ञासुओं को इस ग्रन्थ से बोधिचर्या के मूल अभिप्राय को समझने में सहायता मिलेगी।

मैं सारनाथ, केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान के प्राचार्य/निदेशक प्रोफेसर समदोङ रिनपोछे, संस्कृत विभाग के रीडर डॉ० कामेश्वरनाथ मिश्र तथा श्री चन्द्रचूडमाणी के प्रति सादर धन्यवाद प्रकट करता हूँ जिन्हों ने अत्यन्त व्यस्त कार्यक्रमों में रहते हुए भी मेरी इस पुस्तक के अनुवाद एवं सम्पादन में संशोधन और मार्गदर्शन के लिए अपना बहुत अधिक बहुमूल्य समय दिया है।

अन्त में इस कार्य के पुण्य से प्राणिमात्र के हृदय में बोधिचित्त की किरणों के फूटने और सर्वज्ञता प्राप्त होने की परिणामना करता हूँ, जैसा कि आचार्य शान्तिदेव का कथन है।—

"बोधिचर्यावतारं मे यद्विचिन्यतः शुभम्।
तेन सर्वे जनाः सन्तु बोधिचर्याविभूषणाः॥"

धर्मशाला, काङ्गडा।
बुद्ध पूर्णिमा
२६-५-१९८३

आचार्य कर्मा मोनलम

नमो रत्नत्रयाय

पूर्वपरिचय[1]

पहलादिन

'बोधिचर्यावतार' जिसका आज से संक्षेप में प्रवचन होना है, उसके रचयिता के बारे में कुछ जानकारी होनी चाहिए। आचार्य शान्तिदेव बाह्य आचरण से विनय-अनुशासन के अनुयायी थे, आन्तरिक आचरण से एक बोधिसत्त्व थे और नीतार्थतः एक महान् तान्त्रिक सिद्ध थे। पठन-पाठन और अभ्यास के विषयों में उनकी अनेक कृतियों में से तिब्बती भाषा में अनूदित ग्रंथों में 'शिक्षासमुच्चय' और 'बोधिचर्यावतार' प्रमुख हैं। व्यापक होते हुए भी संक्षेप में लिखा हुआ यह 'बोधिचर्यावतार' ग्रन्थ है जो भारत के बौद्ध-जगत् में बहुत प्रसिद्ध हुआ। अनेक भारतीय विद्वानों ने इस पर टीका, भाष्य आदि लिखा और समाज में प्रचारित किया।

उसी प्रकार तिब्बत में हर एक परम्परा ने इसे अपनाया है और अनेक विद्वानों की टीकाएँ भी इस पर उपलब्ध हैं। मैंने इसकी शिक्षा पूज्य खुनु लामा स्तनजिन ग्यलछेन से प्राप्त की है। दैनिक जीवन में इस शिक्षा को यथासम्भव व्यवहार में उतारने का प्रयत्न करता हूँ। अभ्यास न कर पाने पर भी इस ग्रन्थ को आदर का विषय मानकर इसमें वर्णित अभ्यासों में समर्थ होने की प्रार्थना करता हूँ।

इस ग्रन्थ का रचना-क्रम बहुत ही प्रभावशाली है और इसके चिन्तन से मनः प्रवृत्ति पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। 'बोधिचर्यावतार' का प्रवचन

---

१. यहाँ से परमपावन दलाईलामा जी के शब्दों का ही हिन्दी भाषान्तर है।

संभवतः मैंने तीन बार किया है और आज फिर एक बार इसका प्रवचन एवं पठन-पाठन करने का सुअवसर पाकर मैं अपने को सौभाग्यशाली समझता हूँ। आप श्रोतागण जो यहाँ पर समवेत हुए हैं, बहुत भाग्यशाली हैं, इसलिए ध्यानपूर्वक यह शिक्षा प्राप्त करें।

अब मैं इसका प्रवचन कारिकाओं के ऊपर संक्षिप्त व्याख्या के साथ करूँगा और आवश्यकता पड़ने पर कहीं-कहीं थोड़ा बहुत विस्तार में विश्लेषण भी करूँगा। हाँ, जैसा अभी मैंने बताया, धर्म की शिक्षा या प्रवचन सुनते समय हमारा चित्त शुद्ध होना चाहिए। यदि हम केवल अपनी ही मोक्ष-प्राप्ति के अभिलाषी हैं या मात्र इस जीवन काल की सुख सुविधा प्राप्त करने की इच्छा से इस महायान ग्रन्थ का प्रवचन करते हैं या सुनते हैं तो, इस ग्रन्थ के एक महायान कृति होते हुए भी, इसके पठन-पाठन से हमारे महायान-कार्यार्थ सिद्ध नहीं होंगे। इसके विपरीत आपके अतिरिक्त अनेक असंख्य प्राणी हैं, वे सभी हमारी तरह ही सुख शान्ति चाहने वाले हैं और कदाचित् दुःख नहीं चाहते, अतः 'हम प्राणिमात्र के सुख-कल्याण के लिए बोधिचित्त की उत्पत्ति और बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए इस ग्रन्थ की शिक्षा लेंगे' इस प्रकार के पूर्व-विचार से हम इस प्रवचन को सुनें तो इससे बहुत बड़ा कल्याणकारी अर्थ सिद्ध होगा। [क्या आप स्थानीय लोग मेरी भाषा को कुछ समझते हैं ? मैं यथासम्भव सरल भाषा में बोलने की चेष्टा करूँगा। आप इसे थोड़ा बहुत समझ लेंगे और तत्पश्चात् हिन्दी में जब इसका संक्षिप्त अनुवाद होगा तो आप उसे समझने का प्रयत्न करें।]

ग्रन्थ–नाम

ग्रन्थ का नाम जैसा इसके आरम्भ में है, 'बोधिचर्यावतार' या 'बोधिसत्त्वचर्यावतार' भी कहा जाता है। यहाँ पर (जङ छुब) 'बोधि' शब्द जो ग्रन्थ के नाम में प्रयुक्त है, यह एक बहुत गहन अर्थ वाला शब्द है, 'जङछुब'

का अर्थ है सभी ज्ञेय या जानने योग्य विषयों को जान कर, उसमें पारंगत होकर, अपने चित्त पर ग्रहण कर लेना। यह इस का अर्थ है और यहाँ पर दर्शित 'बोधि' महाबोधि (जङ छुब छेनपो) की ओर संकेत करता है। अतः यह बोधि सर्वश्रेष्ठ बोधि (बुद्धत्व) है। इस प्रकार की बोधि को अभ्यास के द्वारा प्राप्त करने को जो इच्छुक है; उसे बोधिसत्त्व कहा जाता है। चर्या तीन तरह की है, प्रस्थान रूपी चर्या (बोधिचित्त की उत्पत्ति), साधन रूपी चर्या (छह पारमितायें) तथा लक्ष्य रूपी चर्या (कर्म से सम्पन्न धर्मकाय)। इस प्रकार की चर्याओं में प्रवेश पाने के लिए निर्देश करने वाला यह जो ग्रन्थ या शास्त्र है, इसके लिए यहाँ 'अवतार' शब्द का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार यहाँ "बोधिचर्यावतार" कहा गया है।

इस ग्रन्थ के दस परिच्छेदों में से प्रथम परिच्छेद में बोधिचित्त के गुणों की चर्चा है; क्योंकि यह स्वाभाविक है कि कोई इसके गुण या विशेषताओं को जानकर ही इसमें प्रवेश की इच्छा कर सकता है। अतः सर्वप्रथम इसकी विशेषताओं की व्याख्या करते हैं। बोधिचित्त धारण करने के लिए शरणगमन सहित आठ अङ्गों की रीतियाँ बतलाते हैं और श्लोक संख्या के आधार पर दूसरा परिच्छेद 'पापदेशना' का है। इसके पश्चात शेष अङ्गों और वास्तविक बोधिचित्त की उत्पत्ति और धारण करने के विषय वाला तीसरा परिच्छेद, 'बोधिचित्त परिग्रहण' है।

इसके पश्चात् साधन-चर्या की व्याख्या में छह पारमिताओं का क्रमशः उल्लेख आता है, परन्तु 'दान-पारमिता' का परिच्छेद अलग से नहीं आता, यह अन्य परिच्छेदों में बिखरे रूप में, विशेषकर 'बोधिपरिणामना' (दसवें) परिच्छेद (जहाँ तन, धन, पुण्य आदि दूसरों के लिए परिणामित हैं) में वर्णित है। शील-पारमिता में शील की अपनी रूप रेखा पर जोर न देकर उसकी शुद्धि के उपाय अप्रमाद तथा संप्रजन्य-रक्षण पर क्रमशः चौथे और पाँचवें परिच्छेद में आते हैं। फिर क्षान्ति, समाधि, वीर्य तथा प्रज्ञा

पारमिताओं के अभ्यास के विषय पर एक-एक परिच्छेद आता है, और अन्त के परिणामना के एक परिच्छेद को मिलाकर इसमें कुल दस परिच्छेद हैं।

बोधिचर्यावतार का विषय-प्रतिपादन-क्रम एक ओर आर्य मैत्रेयनाथ के अभिसमयालङ्कार, सूत्रालङ्कार आदि में वर्णित उपाय–पक्ष के विस्तृत अर्थों पर आश्रित है, तथा दूसरी ओर बोधिचित्त के अभ्यास का विषय आचार्य नागार्जुन की रचना, 'रत्नावली' पर आधारित है; बोधिचित्त-उत्पत्ति के विषय में आर्य मैत्रेयनाथ, असङ्ग आदि की परम्परा को भी लिया गया है, परन्तु विशेष रूप में आचार्य नागार्जुन की 'रत्नावली' में वर्णित परात्मसमता (स्वयं और दूसरों को समान समझना) तथा परात्मपरिवर्तन (अपनी जगह दूसरों को लेने) की परम्परा पर जोर दिया गया है, और प्रज्ञा के विषय में आचार्य नागार्जुन के सिद्धान्तों को, जो आचार्य बुद्धपालित आदि द्वारा प्रतिपादित है, आधार माना गया है।

प्रत्येक ग्रन्थ में प्रारम्भ, मध्य और उपसंहार ये तीन विभाग होते हैं। प्रारम्भ में ग्रन्थ नाम, अनुवादक का नमस्कार, नमन और रचना प्रतिज्ञा आते हैं। इस ग्रन्थ का नाम संस्कृत में "बोधिसत्त्वचर्यावतार" और तिब्बती में "जङ-छुब-सेम्पए-चोद्पा-ला-जुगपा" है। यहाँ पर "सर्वबुद्धबोधिसत्त्वेभ्यो नमः" ।—अनुवादक के नमस्कार हैं। बुस्तोन की रचना में यह कहा गया है कि यह ग्रन्थ सूत्रपक्षीय अर्थों की व्याख्या करता है, अतः इसके अनुवादक के प्रणाम बुद्ध एवं बोधिसत्त्वों को किये गये हैं। पूर्वकाल में भारतीय भाषाओं से तिब्बती भाषा में अनुवाद हुए, पर आज तिब्बती भाषा से हिन्दी में अनुवाद होना है। [ऐसा लगता है कि यहाँ पर फिर एक दूसरा अनुवादक-नमस्कार होना चाहिए।]

भारत को 'आर्य-भूमि' कहा गया है, जहाँ अनेक धर्म, मत तथा सिद्धान्त उत्पन्न हुए और वास्तव में लगता है कि यह एक महान् देश है। इस भूमि पर असंख्य सिद्धान्तवादी, न्यायवादी जैसे बड़े-बड़े विद्वान् और

महान् सिद्ध हुए जिनकी विद्वत्ता को उनके मतान्तरों की मीमंसक एवं न्यायिक विवेचनाओं से पूर्ण रचनाओं से जान सकते हैं। इस प्रकार के मत-मतान्तर की रचनाओं का निष्पक्ष दृष्टिकोण से अगर हम अध्ययन करें तो बहुत महत्त्वपूर्ण ज्ञान के साधन प्राप्त होंगे। परन्तु विद्वानों के मतान्तर के मूल सिद्धान्त को बिना समझे यदि पक्षपातपूर्ण दृष्टि से हम उन रचनाओं का अध्ययन करते हैं तो यह हानिकारक भी सिद्ध हो सकता है। इस प्रकार (अगर हम पक्षपातपूर्वक ग्रन्थों का पठन-पाठन या अध्ययन) करते हैं तो धार्मिक अध्ययन से हम पुण्य की जगह पाप कमा सकते हैं। इसलिए सभी धार्मिक अनुयायियों को परस्पर सद्भावना रखनी चाहिए, जो जिस मत, सिद्धान्त या धर्म को मानते हैं, उनको उस धर्म या मत में बताई गई शिक्षा की सही-सही जानकारी और अभ्यास होना आवश्यक है। हिन्दू, मुसलिम, बौद्ध, सिख, जैन, पश्चिमी देशों के ईसाई, यहूदी आदि हर एक मत हमें अच्छे और कल्याणकारी मनुष्य बनाने की राह बताते हैं। इसलिए हमें सभी धर्मों के प्रति आदर और सद्भावना होनी चाहिए। सभी धर्मों के प्रति सद्भावना रखते हुए यह भी आवश्यक है कि अपने धर्म या मान्य सिद्धान्त को केवल विश्वास पर न छोड़कर उसकी सच्ची और गहरी जानकारी करें।

बोधिचर्यावतार

प्रथम परिच्छेद

बोधिचित्तानुशंसा

—:०:—

सुगतान् ससुतान् सधर्मकायान् प्रणिपत्यादरतोऽखिलांश्च वन्द्यान् ।
सुगतात्मजसंवरावतारं कथयिष्यामि यथागमं समासात् ॥ १ ॥

अब यहाँ से 'सुगतान् ससुतान्'·········आदि श्लोक के प्रथम दो चरण ग्रन्थकार का नमस्कार हैं। 'सुगत' शब्द में आया 'सु' अच्छे, सुन्दर आदि अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। यहाँ परित्याग रूपी सुगत तथा ज्ञान रूपी सुगत दो अर्थों का प्रयोग हुआ है। अर्थात् सुगत (बुद्ध) हर प्रकार के बुरे विचार, व्यवहार और आचरण का परित्याग करता है और तत्त्वज्ञान-प्राप्ति का फल, धर्मकाय एवं रूपकाय धारण करता है। इससे यह स्पष्ट है कि बौद्ध मत यह नहीं है कि भगवान् बुद्ध अधिकाल से ही स्वभावतः बुद्ध हैं अपितु बुद्ध भी किसी समय हम आप जैसे ही साधारण प्राणी थे, धीरे-धीरे अपने अभ्यास के द्वारा दोषों से मुक्त होते गये और अन्त में 'सर्वशुद्ध स्वभावकाय' को प्राप्त किया। यहाँ एक शोध्य धर्म है जिसकी शुद्धि संभव है उसे 'विशुद्ध-स्वभाव' कहते हैं जो एक प्रकार की आकस्मिक अशुद्धि से प्रभावित है। आकस्मिक अशुद्धियों की शुद्धि या समाप्ति की अवस्था को 'स्वभावकाय' कहते हैं।

यदि आकस्मिक अशुद्धि को समाप्त करने के साधन का ज्ञान प्राप्त करके उस पर चिन्तन का अभ्यास गहरा होता जाय और अशुद्धि तथा अज्ञान घटता जाय तो अन्त में सर्व-विशुद्ध ज्ञान की जो प्राप्ति होती है उसे ज्ञान-धर्म-काय कहते हैं। इस श्लोक में 'धर्मकायान्'—यह शब्द उस त्याग और ज्ञान-धर्मकाय को धारण करने वाले निर्माणकाय तथा सम्भोगकाय को संकेतित करता है। बुस्तोन की टीका में काय शब्द का अर्थ वर्ग (पुण्यसम्भार) भी माना गया है, इसलिए धर्मकाय के अर्थ में धर्मवर्ग (छोस्क्यी छोगस्) ऐसा शब्दान्तर आता है। अगर इस अर्थ को लिया जाय तो ऐसा लगता है कि धर्मकाय बोधिसत्त्व के निरोध तथा मार्ग के गुणों को भी सम्मिलित करता है। 'ससुतान्' का अर्थ तथागतपुत्र अर्थात् बोधिसत्त्व, संघ है। संक्षेप में यहाँ महायान त्रिशरण, बुद्ध, बुद्ध के मार्ग तथा निरोध धर्मों का ज्ञान, उनके धर्मों के अभ्यासी आर्यसंघ का वर्णन है। इसके अतिरिक्त अन्य गुरुओं, आचार्यगण एवं अन्यों को भी 'वन्द्यान्' कह कर नमस्कार किया गया है। आचार्य शान्तिदेव अपने ग्रन्थ रचना की सफलता के साथ-साथ पुण्य अर्जन के लिए और दूसरे लोगों की जो इस ग्रन्थ को पढेंगे, उनके मन में त्रिशरण के प्रति आदर उत्पन्न करके इस ग्रन्थ के अर्थ को जानकर विनेय जनों के ज्ञान और पुण्य की वृद्धि के लिए सर्वप्रथम वन्दना करते हैं।

श्लोक के अन्त के दो चरणों में ग्रन्थ रचना की प्रतिज्ञा है। यह प्रतिज्ञा सुगतपुत्र बोधिसत्त्वों की चर्याओं में प्रवेश के उपाय की रचना आगमानुसार संक्षेप में करने की है। यहाँ पर यह शंका हो सकती है कि अगर आगमानुसार रचना करते हैं तो इसमें कोई विशेष प्रयोजन नहीं है, परन्तु कही हुई बातों को दोहराने का दोष भी है। परन्तु आगमों में विस्तार में है और यहाँ पर संक्षेप में लिख रहें हैं, इसलिए दोहराने के दोष से यह क्रिया मुक्त है और जब आगमानुसार है तो स्वयं-कल्पित रचना होने का दोष भी नहीं है। वह कौन सा आगम है जिसके अनुसार ग्रन्थ रचना की गई है? सौ से कुछ अधिक बड़ी-बड़ी पोथियों में निहित बुद्ध-वचन, जिसके तिब्बती रूपान्तर को

'काग्युर' कहते हैं, वही आगम है। इस काग्युर में महायान और हीनयान दो व्यवस्थाओं की बात है। यह बोधिचर्यावतार महायान परम्परा के सूत्रों की व्याख्या है। आजकल संसार में श्रीलङ्का, थाईलैण्ड, बर्मा, लाओस, कम्पूचिया, वियतनाम आदि में मुख्यतः हीनयान परम्परा है और जापान, कोरिया, मङ्गोलिया, चीन* और तिब्बत में महायान परम्परा प्रचलित है। तिब्बत महायानी देश है परन्तु हीनयान परम्परा के अनेक व्यवहारों को यथोचित रूप में अपनाये हुए है, जैसे—विनय के नियमों, अभिधर्म के समापत्ति एवं अरूप के वर्णनों, सैंतीस बोधिपक्षीय व्यवस्थाओं आदि का सम्पूर्णतः अध्ययन-अध्यापन वहाँ किया जाता है और उनके साथ-साथ महायान परम्परा के अध्ययन-अध्यापन और तन्त्र का भी अध्ययन तथा अभ्यास किया जाता है। इसलिए तिब्बत में एक सम्पूर्ण बौद्ध धर्म की अध्ययन तथा अभ्यास की परम्परा है। यह वास्तव में एक अद्वितीय परम्परा है। तिब्बत में इस प्रकार का बौद्ध-शासन होने के कारण भारत के उत्तरसीमावर्ती, (लद्दाख, लाहुलस्पीति, कुल्लू से लेकर असम तक के) क्षेत्रों में इसी प्रकार की सम्पूर्ण और अमूल्य व्यवस्थाएँ परम्परागत रूप से प्रचलित है। महायान सूत्र या आगम जिनकी बोधिचर्यावतार व्याख्या करता है मुख्यतः प्रज्ञापारमितासूत्र, अवतंसकसूत्र आदि है और यह उन सूत्रों के अर्थ की स्थापना करता है।

नहि किञ्चिदपूर्वमत्र वाच्यं न च संग्रन्थनकौशलं ममास्ति।
अत एव न मे परार्थचिन्ता स्वमनो वासयितुं कृतं मयेदम्॥ २॥

इस श्लोक में भी ग्रन्थ रचना की प्रतिज्ञा है। इसमें अहंकार का परित्याग करते हुए प्रत्यक्षतः अपने लाभ के लिए यह रचना करता हूँ, ऐसा कहा गया है, परन्तु अप्रत्यक्ष रूप में यह परकल्याण के लिए भी है, क्योंकि जो ज्ञानपिपासु रचना-शैली को महत्त्व न देकर ग्रन्थ में निहित अर्थ को महत्त्व देते हैं

---

* १९४८ की साम्यवादी क्रान्ति से पहले चीन भी एक बौद्ध राष्ट्र था।

उनके लिए यह रचना उपयोगी सिद्ध हो सकती है। वैसे तो इस श्लोक में कहा गया है कि पहले किसी के द्वारा न बतायी हुई कोई भी बात इसमें नहीं है, तो भी एक सच्चे धर्म अभ्यास कर्त्ता के लिए धार्मिक उपदेश को एक ही बार सुन लेना पर्याप्त नहीं है। बार-बार सुनकर उसका अभ्यास करने हेतु चिन्तन तथा मनन होना चाहिए और बार-बार किसी विषय का अध्ययन करना चाहिए। इसलिए इस में पूर्व बातों को दुहराने जैसा कोई दोष नहीं प्रतीत होता।

धर्मोपदेश सुनते समय भी ये चार प्रतिसरण कहे गये हैं कि पुरुष का नहीं, धर्म का प्रतिसरण करो, शब्द का नहीं, अर्थ का प्रतिसरण करो, अर्थों में भी नेयार्थ का नहीं नीतार्थ का प्रतिसरण करो, उस नीतार्थ का विवेचन करने वाले मति के भी विज्ञान का नहीं, ज्ञान का प्रतिसरण करो। इसलिए जब नीतार्थ को हम महत्त्व देते हैं तो रचना-शैली या छन्द-विशेष महत्त्व नहीं रखते। इस तरह विवेचन करने वाले व्यक्ति के लिए यह ग्रन्थ बहुत ही लाभदायक सिद्ध हो सकता है।

मम तावदनेन याति वृद्धिं कुशलं भावयितुं प्रसादवेगः।
अथ मत्समधातुरेव पश्येदपरोऽप्येनमथोऽपि सार्थकोऽयम् ॥ ३ ॥

यहाँ पर आचार्य शान्तिदेव कहते हैं कि जब मैं इस ग्रन्थ को लिखने के लिए बैठा हूँ तो बार-बार रचना के विषय के ऊपर सोच विचार करने से मेरे हृदय में (बोधिचित्त के प्रति) श्रद्धा उभर आई है और यह स्वाभाविक प्रतीत हुआ कि मेरे विचार से मेलखाने वालों के हृदय या दृष्टिकोण पर भी यह (लाभदायक) प्रभाव अवश्य पड़ेगा, अतः यह कृति उन समान-धातुक लोगों के लिए लाभदायक होगी।

क्षणसंपदियं सुदुर्लभा प्रतिलब्धा पुरुषार्थसाधनी।
यदि नात्र विचिन्त्यते हितं पुनरप्येष समागमः कुतः ॥ ४ ॥

विषयप्रवेश

अब यहाँ से विषय-प्रवेश होता है। बुस्तोन के मत में यह श्लोक बोधि-

चित्तोत्पाद के आधार (मानव) शरीर का वर्णन करता है और अगले श्लोक में चैत्तिक आधार का वर्णन है। परन्तु ग्यलछबजे जैसे अनेक विद्वानों के मतानुसार यह श्लोक इस एक दुर्लभ जीवन की पहचान कर सदुपयोग करने की इच्छा प्रकट करता है और तत्पश्चात् "रात्रौ यथा मेघघनान्धकारे" ....आदि से इस दुर्लभ जीवन से कैसे पुरुषार्थ प्राप्त करना है, उन प्रक्रियाओं को बोधिचित्तोत्पाद से लेकर वर्णन करते हैं। यहाँ पर व्याख्या में कुछ अन्तर है। जो भी हो, यह श्लोक हमें यह बतलाता है कि हमारा यह मानव जीवन धर्म के अभ्यास के लिए एक विशेष सुविधा-साधन है, जो अत्यन्त दुर्लभ है। आज के इस अवसर से पूरा लाभ उठाना चाहिए जिससे अन्त में हमें पछताना न पड़े। इस जीवन में हमें सभी सुविधायें प्राप्त हैं। जैसे पहली बात—बौद्ध-धर्म से परिचय हुआ है, इसके अध्ययन या चिन्तन के लिए हम अन्धत्व-बधिरत्व जैसे इन्द्रिय-दोषों से मुक्त हैं; और आठ प्रकार की क्षणसंपत्ति भी हमें प्राप्त है, दस समृद्धियाँ भी उपलब्ध हैं। ऐसा दुर्लभ मानव जीवन अकारण ही प्राप्त नहीं होता। अतः यह मूल्यवान् मानव जीवन व्यर्थ में न व्यतीत करें, इस सुअवसर का पूरा लाभ उठाकर अपना भविष्य उज्ज्वल बनायें।

रात्रौ यथा मेघघनांधकारे विद्युत् क्षणं दर्शयति प्रकाशम्।
बुद्धानुभावेन तथा कदाचित् लोकस्य पुण्येषु मतिः क्षणं स्यात् ॥ ५॥

जैसे घनघोर अंधेरी बरसात की रात में बिजली की क्षणिक तरंग से अल्प समय के लिए प्रकाश हो जाता है उसी तरह सैकड़ों जन्मों में एक दो बार मानव जन्म मिल पाता है। इस दुर्लभ मानव जीवन काल में मुश्किल से कभी-कभी पुण्य कर्म की इच्छा अल्प समय के लिए उत्पन्न होती है, अतः इस पुण्य अवसर का लाभ उठाकर पुण्य-कर्म के उत्तरोत्तर वृद्धि का यत्न करके अपना जीवन सार्थक बनाना चाहिए।

तस्माच्छुभं दुर्बलमेव नित्यं बलं तु पापस्य महत्सुघोरम्।
तज्जीयतेऽन्येन शुभेन केन संबोधिचित्तं यदि नाम न स्यात् ॥६॥

सुख शान्तियों की प्राप्ति चाहते हैं, उन्हें कभी यह बोधिचत्त नहीं छोड़ना चाहिए।

भवचारकबंधनो वराकः सुगतानां सुत उच्यते क्षणेन।
स नरामरलोकवंदनीयो भवति स्मोदित एव बोधिचित्ते ॥ ९ ॥

जब कभी किसी सांसारिक कारा में जीने वाले एक अकिंचन पुद्गल के मन में अपने से अधिक दूसरों का कल्याण चाहने वाला यह बोधिचित्त उत्पन्न होगा, उसी क्षण से उस साधारण प्राणी को सुगतपुत्र के नाम से पुकारा जायेगा और इस परकल्याण पर अधिक महत्त्व देने वाले, हर प्राणी की सुख-सुविधा के अभिलाषी उस अमूल्य चित्त के गुणों के कारण वह बोधिसत्त्व सुरासुर तथा मानव-जगत् सभी के आदर का पात्र होगा।

अशुचिप्रतिमामिमां गृहीत्वा जिनरत्नप्रतिमां करोत्यनर्घाम्।
रसजातमतीव वेधनीयं सुदृढं गृह्णत बोधिचित्तसंज्ञम् ॥ १० ॥

जिस प्रकार रसजात (रसायन) से लोहे या तांबे जैसी धातुएँ सोने में परिवर्तित हो सकती हैं, उसी प्रकार आज का हमारा यह अपवित्र शरीर काम, क्रोध आदि क्लेशों का गुलाम होते हुए भी निर्मल बुद्धकाय में परिवर्तित होने के कारण भी यही बोधिचित्त है। इसलिए साधारण मनुष्य के अपवित्र शरीर को सुवर्ण रूपी प्रियदर्शी जिनकाय में परिवर्तित करने वाले इस रसायन रूपी बोधिचित्त का दृढ़तापूर्वक ग्रहण करना चाहिए। यह श्लोक सद्गुण प्राप्ति के लिए बोधिचित्त ग्रहण करने पर जोर देता है और अगला श्लोक उत्सर्ग धर्म को लेकर चित्त-ग्रहण का उपदेश देता है।

सुपरीक्षितमप्रमेयधीभिर्बहुमूल्यं जगदेकसार्थवाहैः।
गतिपत्तनविप्रवासशीलाः सुदृढं गृह्णत बोधिचित्तरत्नम् ॥ ११ ॥

उस अनन्त बुद्ध-ज्ञान से सूक्ष्म तौर पर विश्लेषण करने पर सिद्ध हुआ कि प्राणियों को सदा लाभ देने वाला यह बोधिचित्त अमूल्य है, अतः सुगति प्राप्त करने के लिए इस उत्तम चित्त का दृढ़ता से ग्रहण करना चाहिए।

कदलीव फलं विहाय याति क्षयमन्यत् कुशलं हि सर्वमेव ।
सततं फलति क्षयं न याति प्रसवत्येव तु बोधिचित्तवृक्षः ॥ १२ ॥

बोधिचित्त का एक अन्य गुण यह भी है कि इसकी फलप्रद-शक्ति कभी क्षीण नहीं होती। कहते हैं कि अन्य पुण्य कर्म अपना फल देकर समाप्त हो जाते हैं, जैसे केले के वृक्ष हैं। अर्थात् जितना मोक्षभागीय पुण्य कर्म है वह सभी मोक्ष प्राप्त होने पर या दूसरे शब्दों में फल प्राप्ति पर समाप्त हो जाता है। इसके विपरीत यह बोधिचित्त का वृक्ष अपना फल देकर कभी नहीं समाप्त होता, निरन्तर फलते हुए उत्तरोत्तर इसकी वृद्धि होती जाती है। जैसे कि यहाँ कुल्लू घाटी में सेब का वृक्ष है, जिससे आप हर साल फल प्राप्त करते हैं। एक सरल उदाहरण इस प्रकार है कि जैसे आज हमने इस सभा के शुरू में शरणगमन करते समय कहा था कि प्राणिमात्र के कल्याण के लिए मुझे बुद्धत्व प्राप्त हो, अगर इसके स्थान पर हम यह कहें कि मुझे मोक्ष की प्राप्ति हो, तो, जैसे ही हमें मोक्ष प्राप्त होगा वैसे ही यह सभी पुण्य समाप्त हो जायेगा। क्योंकि जिस लक्ष्य के लिए हमने इच्छा की, वह लक्ष्य, मोक्ष प्राप्त होने पर पूरा हो गया। दूसरी ओर जब हम प्राणिमात्र के कल्याण के लिए बुद्धत्व प्राप्ति की इच्छा करते हैं, तो जब तक संसार में दुःखी प्राणी हैं, प्राणिमात्र की सुख-कल्याण की हमारी इच्छा या लक्ष्य की पूर्ति नहीं होती, इसलिए यह पुण्य (बोधिचित्त) निरन्तर अपना फल देता रहेगा। इसलिए हमें प्रणाम, परिक्रमा, यहाँ तक कि धूप अर्पण जैसे किसी भी धार्मिक कार्य के शुरू में शरण-गमन तथा चित्त की उत्पत्ति करना अत्यावश्यक है।

कृत्वापि पापानि सुदारुणानि यदाश्रयादुत्तरति क्षणेन ।
शूराश्रयेणेव महाभयानि नाश्रीयते तत्कथमज्ञसत्त्वैः ॥ १३ ॥

जैसे एक बहुत कमजोर और डरपोक व्यक्ति एक वीर तथा शक्तिशाली योद्धा का सहारा लेकर शत्रुओं के चक्रव्यूह जैसी भयानक परिस्थितियों को पार कर सकता हैं, उसी तरह एक साधारण मनुष्य अपना पुण्य कर्म और

मनोबल कमजोर होते हुए भी बोधिचित्त की शक्ति का सहारा लेकर कठिन परिस्थिति को पार कर सकता है। अतः वह सुगति से अतिसुगति की अवस्था प्राप्त करने की शक्ति देने वाले इस बोधिचित्त का सहारा क्यों न लें, अर्थात हर विवेकशील मनुष्य को इस का सहारा लेकर सदुपयोग करना चाहिए।

युगान्तकालानलवन्महान्ति पापानि यन्निर्दहति क्षणेन ।
यस्यानुशंसानमितानुवाच मैत्रेयनाथः सुधनाय धीमान् ॥ १४ ॥

जैसे इसके पूर्व श्लोक में कहा गया है कि सुगति से अतिसुगति अवस्था प्राप्त होने के अलावा गम्भीर दुष्कर्म के महापापों से भी क्षण भर में मुक्त हो सकता है। जैसे महाप्रलय काल की अग्नि जम्बूद्वीप को भस्म कर डालती हैं, उसी प्रकार बोधिचित्त की ज्वाला से अनेक कल्पों में किये महापापों को क्षण भर में भस्म कर सकते हैं, इत्यादि अनेक अनुशंसाओं का आर्य मैत्रेयनाथ ने सुधन को गण्डव्यूहसूत्र में यथार्थ उपदेश दिया है।

दूसरा दिन

अब यह प्रश्न हमारे सामने आता है कि ऐसे अनेक गुण धारण करने वाले उस बोधिचित्त का स्वरूप क्या है? मूलतः इसका वही स्वरूप है जो 'अभिसमयालङ्कार' में कहा गया है, "चित्तोत्पादः परार्थाय सम्यक्सम्बोधिकामता[1]।"—अर्थात् प्राणिमात्र के कल्याण के लिए बोधि-प्राप्ति की सुदृढ़ इच्छा वाले चित्तविशेष को बोधिचित्त कहते हैं। अभी हमारे पास प्राणिमात्र के कल्याण के लिए न तो साधन है न क्षमता। इसलिए परकल्याण की सम्पूर्ण शक्ति रखने वाले बुद्धत्व प्राप्ति के अभिलाषी चित्त का सहारा लेकर परकल्याण को लक्ष्य बनाने वाले उस मनोविज्ञान को द्वयाभिलाषी बोधिचित्त कहते हैं। यहाँ पर यह भी प्रश्न आता है कि वह बोधिचित्त कैसे उत्पन्न

[1] द्र०—अभिसमयालङ्कार १९, पृ० ५।

होता है ? प्रार्थना या इच्छा मात्र से यह उत्पन्न नहीं होगा, परन्तु नियमित अभ्यास के द्वारा जब हमें यह विश्वास हो जाता है कि अपनी सुख-सुविधा का एक मात्र साधन यह बुद्धत्व है और परकल्याण का भी एकमात्र स्रोत यह बुद्धत्व है, इसलिए हमें बुद्धत्व प्राप्त करना चाहिए, ऐसी एक सुदृढ़ इच्छा परकल्याण की अभिलाषा से प्रेरित होकर दैनिक आचरण में उत्पन्न होगी, इस प्रकार के सच्चे मन की अभिलाषा या चित्तावस्था को बोधिचित्त कहते हैं, जिसका लक्ष्य परकल्याण है।

परन्तु अभी हमारे मन में बुद्धत्व प्राप्ति की इच्छा स्वयं अपने कल्याण के स्वार्थ भाव से प्रेरित है, क्योंक हम यह सोचते हैं कि अगर मुझे बुद्धत्व प्राप्त हो जाये तो मुझे अपार ज्ञान तथा सुख-शान्ति मिलेंगे, जिससे हम आज वंचित हैं। इसी प्रकार बोधिचित्त की उत्पत्ति भी है, क्योंकि बुद्धत्व की प्राप्ति बोधिचित्त के विना कदाचित् संभव नहीं, इसलिए हम बोधिचित्त उत्पैत्ति किये विना रह नहीं सकते। इस प्रकार का विचार वास्तव में बोधिचित्त नहीं होता । अतः वास्तविक बोधिचित्त की उत्पत्ति के अभ्यास की दो परम्परायें हैं। प्रथम है, आर्य मैत्रेयनाथ, असङ्ग आदि से उपदिष्ट जो 'सात हेतु और फल' के उपदेश की है तथा दूसरी है, आर्य मञ्जुघोष से उपदिष्ट आचार्य नागार्जुन, शान्तिदेव आदि की परम्परा जो परात्मसमता एवं परात्मपरिवर्तन का शिक्षा देती है । परात्मसमता एवं परात्मपविर्तन (अपना और दूसरों का स्थान-परिवर्तन) की परम्परा पर इस ग्रन्थ के ध्यान-पारमिता परिच्छेद में वर्णन हैं, और ये सात हेतु और फल के उपदेश भी बहुत ही महत्वपूर्ण है । इसलिए मैं इस पर संक्षेप में प्रकाश डालूँगा। आर्य मैत्रेयनाथ ने कहा, "उसका (बोधिचित्त का) मूल करुणा है"। अतः जितनी गहरी करुणा हमारे हृदय में होगी उतना ही प्रबल या प्रभावशाली बोधिचित्त होगा। सांसारिक प्राणियों को दुःख से दुःखी देखकर उनके दुःखों को दूर करने वाली भावात्मकता या इच्छा को करुणा कहते हैं। बोधिसत्त्व जिसके हृदय में महाकरुणा है वह इस तरह से प्राणि-

मात्र को प्रेम तथा सद्भाव से देखता है, जैसे एक माँ अपने एकलौते बेटे के सुख-कल्याण के लिए लाड़-प्यार और स्नेह-सद्भाव रखती है। यह महा-करुणा समानरूप से हर एक प्राणी की दुःख-निवृत्ति चाहती है और उसे हर प्रकार के सांसारिक दुःखों से मुक्ति दिलाना चाहती है, इसलिए यह निष्पक्ष और असीमित है।

अतः जीवमात्र के प्रति समान और निष्पक्ष दृष्टि से करुणोत्पाद के लिए सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि हर एक प्राणी के लिए समान प्रेम, स्नेह और सद्भाव हो, क्योंकि जब हम सभी प्राणियों को प्रेम और समान दृष्टि से देखने की क्षमता रखेंगे हर प्राणी के प्रति निष्पक्ष करुणा का कल्याण भाव उत्पन्न हो सकता है। इस प्रकार की समान दृष्टि उत्पन्न करने के लिए हर प्राणी को सर्वाधिक स्नेह का पात्र 'माँ' समझने का अभ्यास करना चाहिए। जब तक हम किसी को निकट सम्बन्धी या अपना समझते हैं तो राग, किसी को शत्रु या पराया समझते हैं तो द्वेष और किसी को अपने से असम्बन्धित समझते हैं तो उपेक्षा होती है, हर प्राणी के प्रति हमारी निष्पक्ष और समान दृष्टि नहीं हो सकती। इसलिए माँ या सर्वाधिक स्नेही के निकट सम्बन्धी की दृष्टि पैदा करके उनके द्वारा अपने पर कितना स्नेह और कृपा है, जैसे अपनी इस जन्म की माँ ने कितना स्नेह और अनुकम्पा की है, वैसे ही कृपालु सभी प्राणी हैं, ऐसा समझने पर हम काम, द्वेष आदि से मुक्त हो सकते हैं। इसी प्रकार अभ्यास करना चाहिए। हमारी यह परम्परा है कि जब कभी पूजा-पाठ करते हैं तो 'प्राणिमात्र के लिए', सभी माँ-प्राणी, (षट् जाति सत्त्व) जैसे शब्द अनायास ही हमारे समाज के वयोवृद्ध एवं अशिक्षित लोगों के मुँह से भी निकल जाते हैं, यह महायान धर्म का प्रत्यक्ष प्रभाव है, जो एक अनमोल तथा महत्वपूर्ण चीज है और महायानी अभ्यास का केन्द्रबिन्दु है। जिस दुःख से हम अपने मातृभूत प्राणियों को निवृत्ति देना चाहते हैं उस दुःख की सही पहचान होना अति-

२

आवश्यक है, क्योंकि दुःख की सही पहचान न होने पर आंशिक दुःख की निवृत्ति को ही सम्पूर्ण दुःख की निवृत्ति की गलत अवधारणा होने का डर है।

दुःख की सही पहचान के लिए अपने सभी विशेष तथा सामान्य सांसारिक दुःखों को अच्छी तरह जाने बिना कदाचित् हम असंख्य सांसारिक प्राणियों के दुःख दर्द को नहीं समझ सकते। यह दुःख तीन प्रकारों का है— पहला, 'दुःख का दुःख' दूसरा 'परिणाम दुःख' और तीसरा 'व्याप्त–संस्कार-दुःख'। इन तीन प्रकार के दुःखों को जानकर उनसे छुटकारा पाने की इच्छा उत्पन्न होनी चाहिए। इनमें से तीसरा, 'व्याप्त–संस्कार–दुःख' सभी दुःखों की जड़ है अर्थात् कर्म और क्लेश के अधीन सभी परतंत्र हैं, और जब तक परतन्त्र हैं जब तक स्वतन्त्र नहीं हो सकता, स्वतन्त्रता का अभाव ही दुःख है। आज हमारा यह अलक्षित मानव शरीर पूर्व कर्मों तथा क्लेशों का फल है और अनिश्चित परिस्थितियों से प्रभावित है। भविष्य में भी इसी प्रकार प्रभावित होने वाला यही सांसारिक शरीर असीमित दुःखों का कारण बनता है। इस प्रकार के जन्म-चक्र या शरीर से जब हम छूटेंगे तभी सुख शान्ति मिल सकती है और दुःख का अन्त हो सकता है। हमें 'इस अशुचि शरीर का अन्त होना चाहिए' ऐसा विचार हृदय की गहराई से जब उत्पन्न होगा तभी दुःख के सच्चे स्वरूप को जानेंगे। इस तरह जब हमें अपने दुःखों को पहचान कर इनसे मुक्त होने के सच्चे और दृढ़ संकल्प उत्पन्न होंगे, उसी के आधार पर असंख्य प्राणियों के विषय में भी हम समझ सकते हैं और उन प्राणियों के कल्याण के लिए बुद्धत्व प्राप्ति की इच्छा उत्पन्न हो सकती है। इसलिए बाद के विचारों के उत्पन्न होने के लिए पूर्व के विचार अति आवश्यक हैं अतः धर्म के अभ्यास हेतु सर्वप्रथम दुःख का परिचय होना चाहिए, परन्तु दुःख का परिचय या चिन्तन हमें निराश करने के लिए नहीं है, क्योंकि दुःख के परिचय के पश्चात् दुःख के कारण समुदय का, उसके बाद दुःख निवृत्ति अर्थात् निरोध तथा अन्त में बुद्धत्व के मार्ग का उपदेश मिलता है। अगर

ऐसा न होकर हम केवल दुःख पर ही चिन्तन मनन करते रहें तो यह निराशा का कारण बन सकता है। भगवान तथागत ने चार आर्य सत्यों का यह महत्वपूर्ण उपदेश इसलिए दिया है कि हमें सर्वप्रथम दुःख का ज्ञान हो, उसके बाद दुःख के कारण समुदय को जानें, उस दुःख तथा समुदय के अन्त के लिए निरोध प्राप्त करने की शक्ति उत्पन्न करें, और निरोध की प्राप्ति के लिए मार्ग व्यवस्था को अपनाने की दृढ़ इच्छा उत्पन्न हो। इसलिए दुःख की सही पहचान अत्यन्त आवश्यक है।

इस क्रम से चित्त का अभ्यास करने पर जब प्राणि-मात्र के सुख-कल्याण की इच्छा उत्पन्न हो और उस इच्छा से प्रेरित होकर बुद्धत्व प्राप्ति की इच्छा उत्पन्न होगी, चित्त की उस अवस्था को बोधिचित्त उत्पत्ति की संज्ञा मिलेगी।

> तद्बोधिचित्तं द्विविधं विज्ञातव्यं समासतः।
> बोधिप्रणिधिचित्तं च बोधिप्रस्थानमेव च॥ १५॥

इस प्रकार का बोधिचित्त भी संक्षेप में दो तरह का है, चित्त-उत्पत्ति की दृष्टि से दोनों समान हैं परन्तु एक तो मात्र बोधिचित्त की उत्पत्ति है और दूसरा बोधिचित्त उत्पत्ति के ऊपर छह पारमिताओं को व्यवहार में लाने की प्रतिज्ञा करता है। 'अभिसमयालङ्कार' में उदाहरण के आधार पर बाइस प्रकार के और सीमा के आधार पर चार प्रकार के भेद मिलते हैं, परन्तु यहाँ संक्षेप में बोधिप्रणिधान तथा बोधिप्रस्थान दो भेद हैं।

> गन्तुकामस्य गन्तुश्च यथा भेदः प्रतीयते।
> तथा भेदोऽनयोर्ज्ञेयो याथासंख्येन पंडितैः॥ १६॥

जैसे एक व्यक्ति किसी गन्तव्य स्थल पर जाने की इच्छा करता है, दूसरा व्यक्ति उस स्थल पर जाने के लिए क्रियाशील होता है, वह वास्तव में जाता है। इसका यह अर्थ है कि जो पर-कल्याण के लिए बुद्धत्व प्राप्ति की

इच्छा करता है, जैसे कहीं जाने की इच्छावान् होता है, वह चित्त बोधिप्रणिधान चित्त है और पर-कल्याण हेतु बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए छह पारमिताओं को व्यवहार में उतारने की प्रतिज्ञा करके अभ्यास करता है, जैसे जाने की इच्छावाले व्यक्ति की चलने में क्रियाशीलता वह बोधिप्रस्थान चित्त है।

बोधिप्रणिधिचित्तस्य संसारे ऽपि फलं महत्।
नत्वविच्छिन्नपुण्यत्वं यथा प्रस्थानचेतसः ॥ १७ ॥

अब यहाँ पर इन दोनों प्रकार के बोधिचित्तों का तुलनात्मक वर्णन इस प्रकार है। बोधिप्रणिधान-चित्त से सांसारिक जीवन में अनेक महत्वपूर्ण फल प्राप्त हो सकता है, परन्तु बोधिप्रस्थान-चित्त जैसा निरन्तर असंख्य पुण्य फल नहीं मिल सकता, अर्थात् बोधिप्रस्थान-चित्त अनेक प्रकार से अधिक प्रभावशाली और अनन्त फलप्रद है। परन्तु यह निरन्तर पुण्य फल देता कैसे है? कहते हैं---

यतः प्रभृत्यपर्यन्तसत्त्वधातुप्रमोक्षणे ।
समाददाति तच्चित्तमनिवर्त्येन चेतसा ॥ १८ ॥
ततः प्रभृति सुप्तस्य प्रमत्तस्याप्यनेकशः ।
अविच्छिन्नाः पुण्यधाराः प्रवर्तन्तेन भःसमाः ॥ १९ ॥

अनन्त प्राणिमात्र के सुख-कल्याण के लिए जब चित्त उत्पन्न होगा उस समय से लेकर निरन्तर फल की वृद्धि होती रहेगी क्योंकि, असीमित प्राणियों के अनन्त कल्याण करने की प्रतिज्ञा से यह चित्त प्रभावित होने से उस बोधिसत्त्व के चेतन-अचेतन, सोते, जागते, प्रमत्त आदि हर अवस्था में पुण्य की निरन्तर वृद्धि होती रहती है।

बोधिप्रस्थान चित्त के असामान्य गुणों का यह वर्णन केवल ग्रन्थ रचयिता की कल्पना नहीं है, यह भगवान तथागत के उपदेश के आगम के अनुसार तथा युक्तिसंगत है।

इदं सुबाहुपृच्छायां सोपपत्तिकमुक्तवान्।
हीनाधिमुक्तिसत्त्वार्थं स्वयमेव तथागतः॥ २०॥

बौद्धमतावलम्बियों के लिए 'सुबाहु-परिपृच्छा' सूत्र का आगम प्रस्तुत किया गया है, जिसमें भगवान तथागत ने उन अनियत गोत्र श्रावक जनों को बोधिसत्त्व **यान** की ओर आकर्षित करने के लिए बोधिप्रस्थान चित्त के विशेष गुणों का वर्णन किया है। यहाँ आगम ही नहीं, न्यायसंगत युक्ति से भी हम यह गुण जान सकते हैं।

शिरःशूलानि सत्त्वानां नाशयामीति चिन्तयन्।
अप्रमेयेण पुण्येन गृह्यते स्म हिताशयः॥२१॥
किमुताप्रमितं शूलमेकैकस्य जिहीर्षतः।
अप्रमेयगुणं सत्त्वमेकैकं च चिकीर्षतः॥ २२॥

अगर प्राणियों के सिर दर्द जैसे एक विशेष दुःख को दूर करने की इच्छा भी प्राणियों के सुख-कल्याण का चित्त होने के कारण असीमित पुण्य प्राप्त कराती है, तो हर एक प्राणी का समस्त दुःख दूर करके असीमित गुणों से युक्त करने की इच्छा से अनन्त पुण्य प्राप्त होना स्वाभाविक तथा न्यायसंगत है। (यह चित्त गुरूजनों से शिक्षा प्राप्त करके दिन प्रतिदिन के निरन्तर अभ्यास से उत्पन्न होता है। यह बिना प्रयत्न के सरलता से उत्पन्न होने वाला नहीं।)

कस्य मातुः पितुर्वापि हितांशसेयमीदृशी।
देवतानामृषीणां वा ब्रह्मणां वा भविष्यति॥ २३॥

हितैषी भावना की दृष्टि से किसी भी प्रकार के उपकार करने की इच्छा इस (बोधिचित्त) की तुलना नहीं कर सकती। जगत् में सबसे अधिक हित-चिन्तक के उदाहरण केवल अपने माता-पिता ही हो सकते हैं, इसी तरह शक्तिशाली देवताओं, ऋषियों अथवा चार अप्रमाणों की भावना करने

वाले ब्रह्मा जैसे किसी के हृदय में यह उपकार की भावना नहीं हो सकती क्योंकि—

तेषामेव च सत्त्वानां स्वार्थेऽप्येष मनोरथः।
नोत्पन्नपूर्वः स्वप्नेऽपि परार्थे संभवः कुतः॥ २४॥

परोपकार के लिए बुद्धत्व प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न होने से पहले, स्वयं अपने ऊपर की दुःख–पीड़ा को पहचानना चाहिए और जब इन सत्त्वों के हृदय में स्वयं अपने सुख-शान्ति के लिए ऐसी कोई चित्त की उत्पत्ति स्वप्न में भी नहीं हुई तो समस्त प्राणियों के लिए वह कैसे हो सकती है? अर्थात् कोई भी साधारण उपकार की भावना बोधिचित्त की हितैषी भावना के तुलनीय नहीं हो सकती।

सत्त्वरत्नविशेषो ऽयमपूर्वो जायते कथम्।
यत्परार्थाशयो ऽन्येषां न स्वार्थे ऽप्युपजायते॥ २५॥

अन्य साधारण लोग स्वयं अपने लाभ के लिए भी जिस चित्त को उत्पन्न नहीं कर पाते ऐसे अदभुत, अपूर्व तथा सर्वश्रेष्ठ-चित्त की उत्पत्ति का होना कितने हर्ष की बात है।

जगदानन्दबीजस्य जगद्दुःखौषधस्य च।
चित्तरत्नस्य यत्पुण्यं तत्कथं हि प्रमीयताम्॥ २६॥

सभी प्राणियों के आनन्द के स्रोत, अभ्युदय तथा निःश्रेयस के मूल कारण तथा हर प्राणी के सभी दुःखों को शान्त करने वाला इस अमृत रूपी चित्त का पुण्य–गुण असीमित तथा अनन्त है। 'रत्नावली' में कहा है कि असंख्य प्राणियों को लक्ष्य बनाकर, उनके असीमित दुःखों का अन्त करके उन में अनन्त गुण पैदा करने की दृढ़ इच्छा की पूर्ति के लिए जब अनन्त काल तक प्रयत्न करता है तो उस चित्त के गुणों की व्याख्या करना असम्भव है। अतः एक बोधिसत्त्व परकल्याण के लिए बुद्धत्व-प्राप्ति हेतु चार अचिन्तनीय

(अभ्यासों) के द्वारा सरलता से पुण्य-संचय करता है। वह अभ्यास इसी चित्त के बल पर आधारित है।

हिताशंसनमात्रेण बुद्धपूजा विशिष्यते।
किं पुनः सर्वसत्त्वानां सर्वसौख्यार्थमुद्यमात् ॥ २७ ॥

जब परहित की इच्छा मात्र से ही बुद्ध-पूजा से भी बढ़कर पुण्य होता है, तो यह कहने की क्या आवश्यकता है कि हर एक प्राणी के सम्पूर्ण सुख सुविधा के लिए प्रयत्न करने से कितना पुण्य अर्जित होगा। इस प्रसंग में यह प्रश्न आ सकता है कि क्यों हम को (या एक बोधिसत्त्व को) ऐसे परकल्याण के लिए प्रयत्न करने की आवश्यकता है, जब कि हर प्राणी अपने सुख-शान्ति के लिए प्रयत्न करता है ? —उत्तर है कि—

दुःखमेवाभिधावन्ति दुःखनिःसरणाशयां।
सुखेच्छयैव संमोहात् स्वसुखं घ्नन्ति शत्रुवत् ॥ २८ ॥

यह एक तथ्य है कि हर प्राणी दुःख की निवृत्ति और सुख शान्ति की प्राप्ति चाहता है, परन्तु अज्ञान के कारण दुःख के हेतुओं की सही पहचान नहीं कर पाने से वह दुःख से छुटकारा चाहते हुए भी दुःख में डूबा रहता है। सुख शान्ति प्राप्त करने के लिए हमें दूसरों का उपकार करना चाहिए और किसी भी प्रकार की हानि करने से दूर रहना चाहिए लेकिन अनेक प्राणी मोह के कारण यह सब भूल जाते हैं और अपने सुख कल्याण के साधन नष्ट कर डालते हैं, जैसे कोई अपने शत्रुओं को नष्ट करता है अर्थात अज्ञान के कारण पथभ्रष्ट हो जाता है, इसलिए बोधिसत्त्व को प्राणिमात्र की चिन्ता करनी पड़ती है।

यस्तेषां सुखरंकाणां पीडितानामनेकशः।
तृप्तिं सर्वसुखैः कुर्यात् सर्वाः पीडाश्छिनत्ति च ॥ २९ ॥

नाशयत्यपि संमोहं साधुस्तेन समः कुतः।
कुतो वा तादृशं मित्रं पुण्यं वा तादृशं कुतः ॥ ३० ॥

अज्ञान के कारण दुःख से पीड़ित अनजान प्राणियों को तात्कालिक प्रत्यक्ष क्लेश–शमन के सुख से लेकर अन्ततोगत्त्वा बुद्धत्व तक की सुख-शान्ति प्रदान करने की इच्छा रखने वाला इस बोधिचित्त के समान पुण्य कहाँ है ? अज्ञान को समाप्त करके सही मार्ग दर्शन कराने वाला और सुख या दुःख हर परि-स्थिति में साथ देने वाला इसके समान कल्याण-मित्र कहाँ है ? अतः इससे बढ़ कर पुण्य कहाँ है ?

कृते यः प्रतिकुर्वीत सोऽपि तावत्प्रशस्यते।
अव्यापारितसाधुस्तु बोधिसत्त्वः किमुच्यताम् ॥ ३१ ॥

लोक व्यवहार में जब कोई किसी के उपकार के प्रति कृतज्ञता या प्रत्यु-पकार करने पर प्रशंसा का पात्र बनता है, तो एक बोधिसत्त्व जो बिना उपकार या प्रार्थना किये हर एक प्राणी के प्रति उपकार करता है, वह वास्तव में अपार प्रशंसा का ही पात्र है।

कतिपयजनसत्रदायकः कुशलकृदित्यभिपूज्यते जनैः।
क्षणमशनकमात्रदानतः सपरिभवं दिवसार्धयापनात् ॥ ३२ ॥
किमु निरवधिसत्वसंख्यया निरवधिकालमनुप्रयच्छतः।
गगनजनपरिक्षयाक्षयं सकलमनोरथसंप्रपूरणम् ॥ ३३ ॥

कोई दान दाता कुछ लोगों को तिरस्कार के साथ एक समय का साधा-रण भोजन देकर भी पुण्य कर्म की संज्ञा से पूजित किया जाता है एवं लोग उसका आदर करते हैं तो—बोधिसत्त्व के उस पुण्य की व्याख्या हम नहीं कर सकते जो असंख्य प्राणियों को सदा के लिए वास्तविक सुख आनन्द के स्रोत 'अनुत्तर सम्बोधि' का अपार दान, प्रेम और आदर के साथ करता है।

इति सत्रपतौ जिनस्य पुत्रे कलुषं स्वे हृदये करोति यश्च ।
कलुषोदयसंख्यया स कल्पान् नरकेष्वावसतीति नाथ आह ।। ३४ ।।

इसलिए भगवान् बुद्ध ने कहा है[1] कि उस महादान-दाता को यदि कोई व्यक्ति शारीरिक हानि पहुँचाता है, अथवा कुछ क्षण के लिए भी उसके प्रति कलुषित विचार मन में ले आता है तो जितने क्षण वे बुरे विचार रहेंगे उतने ही कल्पों के लिए नरक का दुःख उसे भोगना पड़ेगा ।

अथ यस्य मनः प्रसादमेति प्रसवेत्तस्य ततोऽधिकं फलम् ।
महता हि बलेन पापकर्म जिनपुत्रेषु शुभं त्वयत्नतः ।। ३५ ।।

परन्तु बोधिसत्त्व के प्रति सद्भाव या श्रद्धा रखें तो उससे भी अधिक पुण्य फल की निरन्तर वृद्धि होती रहेगी । इसके अतिरिक्त बोधिसत्त्वों का एक विशेष गुण यह भी है कि उनके प्रति किसी का कुकृत होने पर भी उनके पुण्य संचय में बाधा नहीं पड़ती ।

तेषां शरीराणि नमस्करोमि यत्रोदितं तद्वरचित्तरत्नम् ।
यत्रापकारोऽपि सुखानुबन्धी सुखाकरांस्तान् शरणं प्रयामि ।। ३६ ।।

अतः जिसके हृदय में वह श्रेष्ठ चित्त रत्न है, उसे आदर पूर्वक प्रणाम करता हूँ और जिसके प्रति अपकार होने पर भी सुख-कल्याण का वह स्रोत है उसका शरणगत होता हूँ ।

।। बोधिचित्तानुशंसा नामक प्रथम परिच्छेद समाप्त ।।

---

1 प्रशान्तविनिश्चय-प्रातिहार्यसूत्र ।

द्वितीय परिच्छेद

पापदेशना

—: o :—

तच्चित्तरत्नग्रहणाय सम्यक् पूजां करोम्येष तथागतानाम् ।
सद्धर्मरत्नस्य च निर्मलस्य बुद्धात्मजानां च गुणोदधीनाम् ।। १ ।।

उस अनमोल रत्न रूपी बोधिचित्त को सदा के लिए दृढ़ता से ग्रहण करना चाहता हूँ, इसलिए सर्वप्रथम तथागत बुद्धों की, निर्मल सद्धर्म रत्न की और त्याग, ज्ञान तथा परकल्याण जैसे गुणों के सागर बोधिसत्त्वों की मैं पूजा करता हूँ।

यावन्ति पुष्पाणि फलानि चैव भैषज्यजातानि च यानि सन्ति ।
रत्नानि यावन्ति च सन्ति लोके जलानि च स्वच्छमनोरमाणि ।। २ ।।

और उनके आराधना हेतु जगत् में जितने सुन्दर और सुगन्धित पुष्प, स्वादिष्ट फल, गुणकारी औषधियाँ, मनोरम रत्न और निर्मल जल हैं।

महीधरा रत्नमयास्तथान्ये वनप्रदेशाश्च विवेकरम्याः ।
लताः सुपुष्पाभरणोज्ज्वलाश्च द्रुमाश्च ये सत्फलनम्रशाखाः ।। ३ ।।

तथा रत्नों के पर्वत, एकान्त रमणीय वनखंड, फूलों से सुसज्जित वृक्ष और फलों से लदे हुए झुकी डालों वाले वृक्ष हैं।

देवादिलोकेषु च गन्धधूपाः कल्पद्रुमा रत्नमयाश्च वृक्षाः ।
सरांसि चाम्भोरुहभूषणानि हंसस्वनात्यन्तमनोहराणि ॥ ४ ॥

अकृष्टजातानि च शस्यजातान्यन्यानि वा पूज्यविभूषणानि ।
आकाशधातुप्रसरावधीनि सर्वाण्यपीमान्यपरिग्रहाणि ॥ ५ ॥

आदाय बुद्ध्या मुनिपुंगवेभ्यो निर्यातयाम्येष सपुत्रकेभ्यः ।
गृह्णन्तु तन्मे वरदक्षिणीया महाकृपा मामनुकम्पमानाः ॥ ६ ॥

देव-जगत् आदि अन्यान्य जगत् में गन्ध, धूप, कल्पवृक्ष, रत्नवृक्ष, अकृष्ट, पच्य आदि तथा इनके अतिरिक्त पूजा के योग्य आभूषण जैसे हँसों के मधुर कूजन से युक्त सुन्दर कमलों से सुसज्जित सरोवर तथा तालाब आदि आकाशधातु व्याप्ति--पर्यन्त पूजनीय प्राकृतिक साधनों को कल्पित करके मुनिपुंगव एवं उनके पुत्रों (बोधिसत्त्वों) के चरणों में अर्पित करता हूँ। दक्षिणा के श्रेष्ठ पात्र, कृपा के सागर! मुझ पर अनुकम्पा करके मेरा यह सब उपहार सहर्ष स्वीकार करें।

अपुण्यवानस्मि महादरिद्रः पूजार्थमन्यन्मम नास्ति किंचित् ।
अतो ममार्थाय परार्थचित्ता गृह्णन्तु नाथा इदमात्मशक्त्या ॥ ७ ॥

अतः मात्र परकल्याण चाहने वाले प्रभु अपनी दिव्य शक्ति से यह स्वीकार करें, क्योंकि दुर्भाग्य तथा दरिद्रता के कारण मेरे पास और कोई पूजा की वस्तु नहीं है।

ददामि चात्मानमहं जिनेभ्यः सर्वेण सर्वं च तदात्मजेभ्यः ।
परिग्रहं मे कुरुताग्रसत्त्वा युष्मासु दासत्वमुपैमि भक्त्या ॥ ८ ॥

हमारे पास उपकार के लिए कुछ भी नहीं है, लेकिन यह हमारा सौभाग्य है कि हम यह मानव शरीर अर्पित कर सकते हैं; अतः इस श्लोक में कहा गया है, 'हे भगवान् मुझमें जब तक साँस है इस एकमात्र अपनी वस्तु इस शरीर को सच्चे हृदय से आप के चरणों में अर्पित करता हूँ,

तथागत बुद्धों एवं जिन-पुत्रों से यह निवेदन है कि वे इसे स्वीकार करें। आज से सदा परोपकार के लिए मैं आपका दास हूँ।'

परिग्रहेणास्मि भवत्कृतेन निर्भीर्भवे सत्त्वहितं करोमि।
पूर्वं च पापं समतिक्रमामि नान्यच्च पापं प्रकरोमि भूयः॥ ९॥

अब जब आपने मुझे स्वीकार कर लिया हैं तो मैं प्रसन्न तथा निडर होकर इस भवधातु में प्राणियों का उपकार करूँगा और यह **स्वाभाविक** है कि जब तक हमारा मन अशुद्ध तथा विवश है हम परकल्याण के लक्ष्य को नहीं प्राप्त कर सकते, अतः पूर्वकृत पापों का अनुशोधन करूँगा और भविष्य में कभी अन्य पाप-कर्म नहीं करूँगा।

रत्नोज्ज्वलस्तम्भमनोरमेषु मुक्तामयोद्भासिवितानकेषु।
स्वच्छोज्ज्वलस्फाटिककुट्टिमेषु सुगन्धिषु स्नानगृहेषु तेषु॥ १०॥
मनोज्ञगन्धोदकपुष्पपूर्णैः कुम्भैर्महारत्नमयैरनेकैः।
स्नानं करोम्येष तथागतानां तदात्मजानां च सगीतवाद्यम्॥ ११॥

अब यहाँ से मन-कल्पित आराधना का अर्पण हो रहा है,—जैसे भगवान के स्नान के लिए चन्दन आदि सुगन्ध युक्त, चमकदार तथा स्वच्छ स्फटिक की फर्श वाले प्रकाशमान रत्नों के सुन्दर स्तंभों वाले तथा मोतियों के जाल के वितान वाले स्नान-गारों में रत्नों के अनेक कलशों के निर्मल तथा सुगन्धित जल से तथागतों और जिनपुत्रों का मधुर गीतवाद्य के साथ स्नान कराता हूँ।

प्रधूपितैर्धौतमलैरतुल्यैर्वस्त्रैश्च तेषां तनुमुन्मृषामि।
ततः सुरक्तानि सुधूपितानि ददामि तेभ्यो वरचीवराणि॥ १२॥

और तत्पश्चात् उनके दिव्य शरीरों को धूप से सुगन्धित तथा स्वच्छ वस्त्रों से पोछकर यथोचित रंगों का (भिक्षुओं के काषाय रंग आदि का) धूपित उत्तम चीवर भेंट करता हूँ।

दिव्यैर्मृदुश्लक्ष्णविचित्रशोभैर्वस्त्रैरलंकारवरैश्चतैस्तैः ।
समन्तभद्राजितमंजुघोषलोकेश्वरादीनपि मण्डयामि ।। १३ ।।

(गृहस्थ रूपी) तथागत तथा बोधिसत्त्वों के लिए रेशमी या मखमल जैसे कोमल, कीमती और सुन्दर वस्त्र तथा सैकड़ों आभूषण उनकी वेशभूषा के अनुसार भेंट करता हूं। और विशेषकर आर्य समन्तभद्र, अजित, मंजुघोष तथा लोकेश्वर आदि बोधिसत्त्वों को भी इन उत्तम आभूषणों से विभूषित करता हूँ।

सर्वत्रिसाहस्रविसारिगन्धैर्गन्धोत्तमैस्ताननुलेपयामि ।
सूत्तप्तसून्मृष्टसुधौतहेमप्रभोज्ज्वलान् सर्वमुनीन्द्रकायान् ।। १४ ।।

सभी मुनिवरों के उन विशुद्ध सुवर्ण की तरह प्रकाशमान सुन्दर दिव्य शरीरों को समूचे त्रिसहस्र लोकधातु में फैलाने वाले उत्तम गन्धद्रव्यों से अनुलिप्त करता हूँ।

मान्दारवेन्दीवरमल्लिकाद्यैः सर्वैः [सुगन्धैः कुसुमैर्मनोज्ञैः ।
अभ्यर्चयाम्यर्च्यतमान् मुनीन्द्रान् स्रग्भिश्च संस्थानमनोरमाभिः ।।१५।।

उन परम पूजनीय मुनिवरों को मन्दारव, पद्म, उत्पल आदि सुन्दर पुष्पों तथा मिश्रित फूलों की माला अर्पित करता हूँ।

स्फीतस्फुरद्गन्धमनोरमैश्च तान्धूपमेघैरुपधूपयामि ।
भोज्यैश्च खाद्यैर्विविधैश्च पेयैस्तेभ्यो निवेद्यं च निवेदयामि ।। १६ ।।

सर्वत्र सुगन्ध से वासित करने वाले श्रेष्ठ धूप के मेघ अर्पित करता हूँ और साथ ही साथ अनेक प्रकार के भोज्य, खाद्य और पेय के नैवेद्य भी।

रत्नप्रदीपांश्च निवेदयामि सुवर्णपद्मेषु नविष्टपंक्तीन् ।
गन्धोपलिप्तेषु च कुट्टिमेषु किरामि पुष्पप्रकरान् मनोज्ञान् ।। १७ ।।

सुवर्ण कमलों की तरह सुन्दर दीप पात्रों में सुसज्जित रत्न–प्रदीपों का दीपदान और सुगन्धित स्वच्छ भूमि पर सुन्दर पुष्प बिखेरता हूँ।

प्रलम्बमुक्तामणिहारशोभानाभास्वरान् दिग्मुखमण्डनांस्तान् ।
विमानमेघान् स्तुतिगीतरम्यान् मैत्रीमयेभ्योऽपि निवेदयामि ॥१८॥

मनोहर विमानमेघों को जो सदा स्तुति और गीतों की मधुर गूंज से भरे हैं, लटकते हुए मुक्तामणि-हारों से सुशोभित हैं और जो अनन्त दिशाओं को विभूषित करते हैं, करुणामय बुद्धों तथा बोधिसत्त्वों को उपहार रूपी भेंट करता हूँ।

सुवर्णदण्डैः कमनीयरूपैः संसक्तमुक्तानि समुच्छ्रितानि ।
प्रधारयाम्येष महामुनीनां रत्नातपत्राण्यतिशोभनानि ॥ १९ ॥

सुवर्ण–दण्ड वाले, अनेक रत्नों से विभूषित किनारों वाले, सुन्दर आकार के तने हुए मनोहर रत्न छत्रों को मुनिवरों पर सदा अर्पित करता हूँ।

अतः परं प्रतिष्ठन्तां पूजामेघा मनोरमाः ।
तूर्यसंगीतिमेघाश्च सर्वसत्त्वप्रहर्षणाः ॥ २० ॥

इनको सुनकर प्राणियों के दुःखनाशक मधुर ध्वनि वाद्य आदि के अनेक आराधन मेघ सदा छाये रहें।

सर्वसद्धर्मरत्नेषु चैत्येषु प्रतिमासु च ।
पुष्परत्नादवर्षाश्च प्रवर्तन्तां निरन्तरम् ॥ २१ ॥

(यहाँ पर ऊपर अंकित सभी प्रकार की पूजाओं के सदा चलते रहने की प्रार्थना की गयी है) मार्ग तथा निरोध में समाविष्ट धर्म-रत्न, तथागतों के ज्ञान के प्रतीक (बुद्ध अस्थि रखे) स्तूपों और प्रतिमाओं पर निरन्तर रत्न-पुष्प आदि की वर्षा होती रहे।

मञ्जुघोषप्रभृतयः पूजयन्ति यथा जिनान् ।
तथा तथागतान् नाथान् सपुत्रान् पूजयाम्यहम् ॥ २२ ॥

(यहाँ से 'अनुत्तर आराधना' का वर्णन आता है ।) जिस प्रकार ऊँची-भूमि (ज्ञान-स्तर) पर स्थित महासत्त्व मञ्जुघोष आदि बोधिसत्त्वों द्वारा बुद्धों की पूजा होती है उसी तरह मेरी भी अपनी समाधि तथा प्रणिधान की शक्ति से हर एक तथागत एवं बोधिसत्त्वों के प्रति असाधारण पूजा हो ।

स्वराङ्गसागरैः स्तोत्रैः स्तौमि चाहं गुणोदधीन् ।
स्तुतिसंगीतिमेघाश्च संभवन्त्वेष्वनन्यथा ॥ २३ ॥

(इस श्लोक का अर्थ या तो हम ऊपर कहीं आराधना के संदर्भ में स्वर-पूजा समझ सकते हैं, या वाक्-प्रणाम के अर्थ में ले सकते हैं ।) उन सभी गुण सागरों के प्रति मैं असंख्य स्तुति ध्वनियों से गुण गाता हूं और मेरे प्रयास के बिना भी ध्वनियों के बादल से सदा स्तुति की ध्वनि निःसृत हो। दैनिक जीवन में हम अपने घरों में दीपदान, दक्षिणा-जल आदि जो भी पूजा की सामग्री उपहृत करते हैं; उसका शुद्ध तथा स्वच्छ होना अत्यन्त आवश्यक है । अगर हमारे पास अधिक सामग्री न हो, फिर भी हम प्रकृति की असीमित वस्तुओं की कल्पना से उपहार करके बहुत अधिक पुण्य कमा सकते हैं । यह प्रश्न जरूर उठ सकता है कि इस तरह के कल्पित उपहार से पुण्य कैसे कमाया जा सकता है ? प्रत्यक्ष रूप में न होने पर भी सच्चे हृदय से आदर के साथ होने वाली कल्पित पूजा से पुण्य अवश्य कमाया जा सकता है, क्योंकि जब हमारे मन में मिथ्या दृष्टि उत्पन्न होती है तो उसके कल्पित होने पर भी उससे पाप कमाते हैं, उसी प्रकार पुण्य का भी कमाना संभव है, यह युक्ति-संगत है । एक आसान बात कह दूं कि हम रोज भोजन करते हैं तो यदि खाने से पहले त्रिरत्न को प्रार्थना के द्वारा हम अर्पित करें तो पुण्य संचय होगा । इस तरह के अभ्यास से दान देने की प्रेरणा मिलेगी और कृपणता (कन्जूसी) समाप्त करने में मदद मिलेगी ।

सर्वक्षेत्राणुसंख्यैश्च प्रणामैः प्रणमाम्यहम् ।
सर्वत्र्यध्वगतान् बुद्धान् सहधर्मगणोत्तमान् ।। २४ ।।

(शारीरिक प्रणाम की व्याख्या) नमस्कार के पात्र त्रिकाल के शरण रत्नों को असंख्य बुद्ध क्षेत्रों-बराबर अपने शरीर की कल्पना करके झुककर प्रणाम करता हूँ ।

सर्वचैत्यानि वन्देऽहं बोधिसत्त्वाश्रयांस्तथा ।
नमः करोम्युपाध्यायान् अभिवन्द्यान् यतींस्तथा ।। २५ ।।

और बोधिचित्त के मूलाधार अर्थात् बोधिचित्त से प्रेरित छह पारमिताओं के अभ्यास, इन अभ्यासों की व्याख्या करने वाले प्रज्ञापारमिता सूत्रों, बोधिचित्त वाले व्यक्तियों तथा उन स्थानों, जहाँ-जहाँ बोधिसत्त्वों को बोधिचित्त की उत्पत्ति हुई हो और उनके स्तूपों की वन्दना करता हूँ । उपाध्यायों और आचार्यों जैसे (त्रियानमार्गाभ्यास) के महान् तपस्वियों को भी नमस्कार करता हूँ । [इस प्रकार की जितनी आदर सूचक शारीरिक चेष्टाएँ हैं सभी शरीर की वन्दना में आती है और हम लोग जब नमस्कार के लिए हाथ जोड़ते हैं, उस समय दोनों अँगूठे अन्दर मोड़ लेना चाहिए । यह भी एक बौद्ध परम्परा है । इस प्रकार जोड़े हुए हाथों को मूर्द्धा, मस्तक, कण्ठ तथा हृदय, चार स्थलों या नाभि को लेकर पाँच स्थलों पर क्रमशः रखकर पञ्चाङ्ग[1] भूमि स्पर्श नमस्कार या (दण्डवत्) काटे वृक्ष की तरह पूरे शरीर से भूमि पर लेटकर चरण स्पर्श करना, जैसा कि भारतीय परम्परा में पाया जाता है, नमस्कार करने की अनेक विधियाँ हैं । जिस नमस्कार विधि को हम अपनाते हैं उसे सम्पूर्ण होना चाहिए, क्योंकि अधूरी विधि से वन्दना करने पर अधूरी पुण्य-फल प्राप्त होंगे और यहाँ तक की कभी-कभी पाप का भाजन भी बन सकते हैं ।]

---

1. दो हाथ, दो घुटने तथा मस्तक ।

जब हम नमस्कार करते हैं, तो उस व्यक्ति या लक्ष्य के प्रति आदर भाव उत्पन्न होता है और अपने को छोटा समझते हैं, अतः यह नमस्कार करने की क्रिया अहंकार के प्रतिकारक हैं। धर्मोपदेश के पूर्व धर्म गद्दी पर बैठने से पहले हम इसलिए नमस्कार करते हैं कि एक तो हम धर्म का आदर करते हैं और दूसरे हमें ऊँची गद्दी पर बैठने पर अहंकार उत्पन्न हो सकता है, अतः नमस्कार करके गद्दी पर बैठने पर भी निःस्वभावता और शून्यता भावना होनी चाहिए। आप गड़शा, किनौर, लद्दाख के लोग 'छग्छल्' (नमस्कार) कहने का ऐसा ही तात्पर्य है। स्तुति जैसे शब्दों में प्रकट होने वाला यह वाक्य का नमस्कार है और सच्चे मन से आदर एवं स्तुति करने की इच्छा चित्त का नमस्कार है।

बुद्धं गच्छामि शरणं यावदाबोधिमण्डतः।
धर्मं गच्छामि शरणं बोधिसत्त्वगणं तथा ॥ २६ ॥

(अब शरणगमन की पाठ आता है।) 'बुद्धत्व' की प्राप्ति काल तक बुद्धों, महायान धर्म तथा महायान धर्म के अभ्यास से ऊँची भूमि को प्राप्त बोधिसत्त्वों के संघ की शरण जाता हूँ। यहाँ पर पापदेशना होने से पहले शरणगमन का क्रम इसलिए आता है कि सही तथा प्रभावशाली पापदेशना हेतु चार-बल[1] सहित सही पापदेशना होनी चाहिए। आश्रय-बल में शरणगमन तथा चित्तोत्पाद आता है जो पापदेशना में बहुत महत्त्व रखते हैं।

विज्ञापयामि संबुद्धान् सर्वदिक्षु व्यवस्थितान्।
महाकारुणिकांश्चापि बोधिसत्त्वान् कृतांजलिः ॥ २७ ॥

आश्रय-विशेष समस्त दिशाओं में स्थित करुणा पूर्ण बुद्धों एवं बोधिसत्त्वों को मैं हाथ जोड़कर यह निवेदन करता हूँ कि—

---

1. आश्रय-बल, दोष-प्रतिवहन-बल, प्रतिपक्ष-समुदाचार-बल तथा दूषण-बल।

अनादिमति संसारे जन्मन्यत्रैव वा पुनः।
यन्मया पशुना पापं कृतं कारितमेव च ॥ २८ ॥
यच्चानुमोदितं किंचिदात्मघाताय मोहितः।
तदत्ययं देशयामि पश्चात्तापेन तापितः ॥ २९ ॥

मैंने अनन्त काल से असंख्य जन्मों में अज्ञानवश जिन्हे स्वयं किया हो, दूसरों से करवाया हो, या दूसरों के पापकर्मों का अनुमोदन किया हो, उन सभी दुष्कर्मों के अपराधों के लिए पश्चात्ताप के साथ सच्चे मन से देशना करता हूँ, क्योंकि अब मैंने उन पापों को पहचान लिया है। देशना का तिब्बती में "ब्शगस्" शब्द बनता है, जिसका अर्थ छेदना होता है। जैसे हम लकड़ी आदि वस्तु को छेदकर अन्दर के पदार्थों को जानते हैं, उसी प्रकार पाप को गुप्त न रखकर किसी के प्रति प्रकट करते हैं तो स्पष्ट हो जाता है। इसी लिए यहां देशन (ब्शगस्–पा) शब्द का प्रयोग किया गया है।

रत्नत्रयेऽपकारो यो मातापितृषु वा मया।
गुरुष्वन्येषु वा क्षेपात्कायवाग्बुद्धिभिः कृतः ॥ ३० ॥
अनेकदोषदुष्टेन मया पापेन नायकाः।
यत्कृतं दारुणं पापं तत्सर्वं देशयाम्यहम् ॥ ३१ ॥

इससे पहले सामान्य तौर पर पापदेशना की गयी है। यहाँ विशेष रूप से त्रिरत्न, माता पिता, और गुरुजनों के प्रति किये गये पापों की देशना की जा रही है। कहते हैं, शरण के आश्रय त्रिरत्न, आदर के पात्र माता-पिता पूजा के भाजन गुरुजन तथा करुणा के पात्र दुःखी प्राणियों के प्रति मोहवश जितना पाप, काय, वाग और मन से किया गया है, उन समस्त पापों की देशना तथागतों के सामने करता हूँ।

सही और प्रभावशाली देशना के लिये पहले किये गये पाप के प्रति गहरा दुःख या पश्चात्ताप होना चाहिए। जब हम अपने किये गये पापों के

प्रति इतने व्याकुल हों जैसा किसी व्यक्ति के मन में अज्ञानवश जहर खाने के बाद पता लगाने से होता है। तब हम इस जीवन में पाप-कर्म से दूर रहेंगे और भावी- जन्मों में भी कुछ दुष्कृत कम करेंगे, अतः पाप की शुद्धि के लिये पश्चाताप होना अति आवश्यक है, जिसके लिए आगे आने वाले श्लोकों पर विचार करना है।

कथं च निःसराम्यस्मान्नित्योद्विग्नो ऽस्मि नायकाः।
मा भून्मे मृत्युरचिरादक्षीणे पापसंचये ॥ ३२ ॥
कथं च निःसराम्यस्मात् परित्रायत सत्वरम्।
मा ममाक्षीण पापस्य मरणं शीघ्रमेष्यति ॥ ३३ ॥

मुझ पर अनेक ऐसे पाप हैं, जिनके फल निश्चित ही मुझे भोगने होंगे, कदाचित हम उन पापों की देशना नहीं कर पाते या पाप के शोधन से पूर्व मैं मर सकते हैं। अतः भगवान् से यह प्रार्थना करते हैं कि वह पाप देशना से पहले मुझे अचानक मरने से बचाये।

कृताकृतापरीक्षोऽयं मृत्युर्विश्रम्भघातकः।
स्वस्थास्वस्थैरविश्वास्य आकस्मिकमहाशनिः ॥ ३४ ॥

यह मौत का समय बहुत अनिश्चित है। दैनिक जीवन के काम-काज को खत्म करने का समय नहीं देता, इन्तजार नहीं करता, और इसका भी कोई प्रश्न नहीं कि कोई रोगी है या स्वस्थ। इसलिए भगवान् से मेरा यह विवशतापूर्ण प्रार्थना है कि मुझे पाप-देशना करने का पर्याप्त समय मिले।

प्रियाप्रियनिमित्तेन पापं कृतमनेकधा।
सर्वमुत्सृज्य गन्तव्यमिति न ज्ञातमीदृशम् ॥ ३५ ॥

जीवन काल में मैने अपने निकट संबन्धियों की रक्षा तथा सुख सुविधा के लिए और शत्रुओं को वश में करने के लिए अनेक पाप किये हैं, जो आज

मृत्यु के समय मेरे साथ है; परन्तु मैंने अब तक यह नहीं जाना कि मुझे इन सब सम्बन्धियों को छोड़कर अकेले जाना होगा।

अप्रिया न भविष्यन्ति प्रियो मे न भविष्यति।
अहं च न भविष्यामि सर्वं च न भविष्यति॥ ३६॥

प्रिय सम्बन्धियों के प्रति रागवश उनके पालन-पोषण या रक्षा के लिए हम जीतोड़ कोशिश करते हैं और अप्रिय लोगों के प्रति क्रोधकर उन्हें अपने वश में करने के प्रयत्न करते हैं, द्वेष करते हैं, परन्तु मृत्यु के समय समाप्त हो जाएगा। यहाँ तक कि राग द्वेष और क्रोध करने वाला स्वयं भी नहीं रहेगा। इसके साथ-साथ अपने जीवन काल में कमाई हुई धन-दौलत, घर-मकान सब समय पर नष्ट हो जाते हैं, तो प्रिय-अप्रिय के प्रति राग द्वेष करने में कोई औचित्यता नहीं है।

तत्तत्स्मरणतां याति यद्यद्वस्त्वनुभूयते।
स्वप्नानुभूतवत्सर्वं गतं न पुनरीक्ष्यते॥ ३७॥

सोते समय जो स्वप्न देखते हैं वह जागरण के समय मात्र स्मरण की वस्तु है, उससे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता, उसी तरह ये सभी अच्छे बुरे सम्बन्ध मृत्यु के समय मात्र स्मरण की वस्तु है, और विगत कुछ भी न कभी लौट कर आता है, न हमें फिर देखने को मिलता है। अतः किसी के प्रति राग, मोह और किसी के प्रति क्रोध द्वेष जैसी अनुचित भावना नहीं होनी चाहिए।

इहैव तिष्ठतस्तावद् गता नैके प्रियाप्रियाः।
तन्निमित्तं तु यत्पापं तत् स्थितं घोरमग्रतः॥ ३८॥

जन्म या मृत्यु से मित्र बन्धुओं का बदल जाना एक सामान्य बात है। केवल इस वर्तमान जीवन काल में भी अनेक प्रिय और अप्रिय अतीत हो जाते हैं और अनेक मित्र शत्रु में या शत्रु मित्र में बदल जाते हैं, अतः यह सांसारिक संबन्ध अनिश्चित है। परन्तु इनके कारण किया गया पाप अपने सामने है।

एवमागन्तुकोऽस्मीति न मया प्रत्यवेक्षितम् ।
मोहानुनयविद्वेषैः कृतं पापमनेकधा ॥ ३९ ॥

यहाँ अपना परिवर्तनशील स्वरूप न जानते हुये मित्र-बन्धुओं के प्रति राग, शत्रुओं के प्रति द्वेष और मध्यस्थ लोगों के प्रति ईर्ष्या करने के कारण मैने अनेक पाप कर्म किये हैं, जिनका फल अवश्य भोगना होगा ।

रात्रिदिवमविश्राममायुषो वर्धते व्ययः ।
आयस्य चागमो नास्ति न मरिष्यामि किं न्वहम् ॥ ४० ॥

हमारे मन में यह धारणा रहती है कि हम आराम से जी रहे हैं, त्रस्त नहीं हैं, परन्तु वास्तव में हम गतिशील है । दिन-रात तथा क्षण-प्रतिक्षण परिवर्तन होता ही रहता है और जो आयु भाग्य में लिखी है उसमें अलग कहीं से कुछ जोड़ना भी असम्भव है, अतः मृत्यु निश्चित है और क्षण-प्रतिक्षण हम मृत्यु की ओर अग्रसर हैं । इससे यह शिक्षा लेनी चाहिए कि पहले की तरह ही, जितना समय जीवन का बाकी है वह भी अनजाने ही समाप्त होने वाला है और मृत्यु का आना निश्चित होते हुए भी हम यह नहीं जानते कि वह कब, किस आयु में आने वाली है । अतः यह प्रयत्न होना चाहिए कि शेष जीवन-काल में यथासम्भव धर्म-अभ्यास तथा पुण्य-संचय करके इसका सदुपयोग करें ।

इह शय्यागतेनापि बन्धुमध्येऽपि तिष्ठता ।
मयैवेकेन सोढव्या मर्मच्छेदादिवेदना ॥ ४१ ॥

मृत्यु के समय मित्र-बन्धुओं से चारों ओर घिरे होने पर भी खाट पर पड़े हुये मृत्यु-संवेदना को मुझे अकेला ही अनुभव करना पड़ेगा ।

यमदूतैर्गृहीतस्य कुतो बन्धुः कुतः सुहृत् ।
पुण्यमेकं तदा त्राणं मया तच्च न सेवितम् ॥ ४२ ॥

मौत जब हम को पंजे में पकड़ लेगी, उस समय कोई भी अपना मित्र-बन्धु सहायता नहीं कर सकता । उस समय मात्र अपना पुण्य-कर्म साथ

देता है। इसीलिए जीवन काल में पुण्य-संचय का प्रयत्न करना चाहिए जिससे अन्त में पछताना न पड़े।

अनित्यजीवितासङ्गादिदं भयमजानता।
प्रमत्तेन मया नाथा बहु पापमुपार्जितम् ॥ ४३ ॥

अपने शरण तथागत बुद्धों को पुकार कर कहते हैं कि इस जीवन-काल की सुविधा और धन-दौलत के लिए मैंने मिथ्या जीविका जैसे गलत तरीके से बहुत अधिक पाप कमाये हैं, क्योंकि मुझे इन पापों के भयंकर परिणाम का ख्याल ही नहीं था।

अङ्गच्छेदार्थमप्यद्य नीयमानो विशुष्यति।
पिपासितो दीनदृष्टिरन्यदेवेक्षते जगत् ॥ ४४ ॥
किं पुनर्भैरवाकारैर्यमदूतैरधिष्ठितः।
महात्रासज्वरग्रस्तः पुरीषोत्सर्गवेष्टितः ॥ ४५ ॥

जब हाथ पैर जैसे अंगों को काटने के स्थान पर ले जाये जाने वाले व्यक्ति को इतना भय होता है कि उसका गला सूखने लगता है, आँखें लाल हो जाती हैं और डर से दीन-दुनियाँ बदल जाया करती है तो तीव्र रोग से ग्रस्त होकर, भयंकर रूप वाले यमदूतों से पकड़े जाने की अवस्था के महाभय का कैसे वर्णन हो सकता है? उस समय न दवा कुछ फायदा करती है, न मित्र-बन्धु, वे सभी निराश हो जाते हैं और उस समय परिचर्या का भी असर नहीं होता, एक मात्र अपना पुण्य ही साथ दे सकता है।

जीवन काल में सुख सुविधा के लिए हम धन-दौलत कमाते हैं, परन्तु यदि हमें अच्छे मित्र-बन्धु उपलब्ध हैं तो धनी न होने पर भी हम सुखी रह सकते हैं। लेकिन ऐसे भयंकर मृत्यु के समय अच्छे मित्र-बन्धु भी कुछ कर नहीं सकते। हमको अकेले ही उस परिस्थिति का सामना करना है, यहाँ तक कि इस शरीर को भी, जो कि गर्भधारण (प्रतिसन्धि) के समय से हमारे साथ है, छोड़कर जाना पड़ता है।

कातरैर्दृष्टिपातैश्च त्राणान्वेषी चतुर्दिशम् ।
को मे महाभयादस्मात् साधुस्त्राणं भविष्यति ॥ ४६ ॥

त्राणशून्या दिशो दृष्ट्वा पुनः संमोहमागतः ।
तदाहं किं करिष्यामि तस्मिन् स्थाने महाभये ॥ ४७ ॥

उस मृत्यु काल में हम घबराहट के साथ कातर निगाहों से हर दिशा में सहारा और शरण के लिए खोजने पर किसी के न मिलने के कारण अत्यन्त दुःखी होंगे।—

अद्यैव शरणं यामि जगन्नाथान् महाबलान् ।
जगद्रक्षार्थमुद्युक्तान् सर्वत्रासहरान् जिनान् ॥ ४८ ॥

इसलिए हम को आज ही उन दीन-दुःखियों के नाथ, अपने सही ज्ञान के उपदेश से प्राणियों का मार्ग दर्शन करके शरण देने वाले लोकनाथ-बुद्ध की शरण में जाकर पुण्य-संचय करना चाहिए।

तैश्चाप्यधिगतं धर्मं संसारभयनाशनम् ।
शरणं यामि भावेन बोधिसत्त्वगणं तथा ॥ ४९ ॥

इसी प्रकार वास्तविक शरण बुद्ध-ज्ञान-धर्म रत्न के प्रति, आर्य संघ और बोधिसत्त्वों के प्रति भी शरणगमन करना चाहिए।

समन्तभद्रायात्मानं ददामि भयविह्वलः ।
पुनश्च मञ्जुघोषाय ददाम्यात्मानमात्मना ॥ ५० ॥

इस घोर भय से व्याकुल होकर बोधिसत्त्व समंतभद्र को आत्मदान करता हूँ और स्वेच्छा से अपना यह शरीर मंजुघोष को समर्पित करता हूँ।

तं चावलोकितं नाथं कृपाव्याकुलचारिणम् ।
विरौम्यार्तरवं भीतः स मां रक्षतु पापिनम् ॥ ५१ ॥

भय से व्याकुल मैं महाकरुणा के स्वामी अवलोकितेश्वर को शरण के लिए कातर स्वर से पुकारता हूँ।

आर्यमाकाशगर्भं च क्षितिगर्भं च भावतः।
सर्वान् महाकृपांश्चापि त्राणान्वेषी विरौम्यहम् ॥ ५२ ॥

शरण के लिए मै आर्य आकाशगर्भ तथा क्षितिगर्भ आदि महाकारूणिकों को भी पुकारता हूँ।

यं दृष्ट्वैव च संत्रस्ताः पलायन्ते चतुर्दिशम्।
यमदूतादयो दुष्टास्तं नमस्यामि वज्रिणम् ॥ ५३ ॥

जिसे देखकर यमदूत आदि भी डर से चारों ओर भागने लगते हैं उस वज्रपाणि की शरण जाता हूँ।

(इस प्रकार से शरणगमन करने पर हमें शरण मिलती कैसे है ? बौद्ध धर्म के त्रिशरण में बुद्ध-शरण निर्देशक है, संघ शरण प्राप्ति का सहायक है और धर्म वास्तविक शरण है, क्योंकि धर्म के अभ्यास से ही ज्ञान तथा बुद्धत्व की प्राप्ति सम्भव है।)

अतीत्य युष्मद्वचनं सांप्रतं भयदर्शनात्।
शरणं यामि वो भीतो भयं नाशयत द्रुतम् ॥ ५४ ॥

अब तक आप (बुद्धों) के उपदेशों को नहीं माना, परन्तु अनेक महाभयों को देखा, अब उपदेशों की सही अभ्यास करके मैं शरण लेना चाहता हूँ। अतः मुझे अपने उपदेशों के अभ्यास का मार्ग-दर्शन देकर शरण प्रदान करें।

[यह शरणगमन, बौद्ध और अबौद्ध के बीच की सीमा रेखा है। हर एक धर्म में अपनी अपनी शरण व्यवस्था है। बौद्धधर्म में बुद्ध, धर्म और संघ ये तीन शरण है। जब हम वास्तव में हृदय से उनपर विश्वास के साथ आदर करते हैं तो हम अपने आप बौद्ध बन जाते हैं, हम बुद्ध के अनुयायी हैं। त्रिशरण पर सच्चे मन से विश्वास करने और भरोसा रखने की क्रिया को शरणगमन कहते हैं। ऐसा आदर और विश्वास उत्पन्न होने के लिए

कारण को जानना चाहिए—कि मैं इस संसार में अनेक दुःखों से पीड़ित हूँ और उनसे मैं छुटकारा चाहता हूँ। अतः मुझे त्रिरत्न की शरण में जाना होगा, क्योंकि उनके पास दुःख निवृति के उपाय तथा शक्तियाँ हैं।

अभी हम जिस त्रिशरण के प्रति आदर और विश्वास के साथ शरण-गमन करते हैं, वह 'हेतु–शरणगमन' है। जब शरण जाकर धर्म-अभ्यास के द्वारा मार्ग एवं निरोध की अवस्थायें हम प्राप्त करेंगे तो वह 'फल-शरण' धर्म-रत्न है, मार्ग एवं निरोध के ज्ञान से हम जब आर्य-पुद्गल में परिवर्तित होंगे तो वह 'फल-शरण' संघ-रत्न होगा, और मार्ग एवं निरोध के अभ्यास के विकास की चरमसीमा पर पहुँचकर, हमें सभी दोषों से मुक्त तथा गुणों से युक्त सर्वज्ञबुद्धत्व प्राप्त होता है, वह 'फल-शरण' बुद्ध-रत्न है। इसलिए इसे फल शरणगमन् कहते हैं, क्योंकि हम फलस्वरूप त्रिशरण की प्राप्ति हेतु शरणगमन् करते हैं।

यहाँ पर शरण को बताने वाले बुद्ध के प्रमाण-पुरुष होने का ज्ञान भी होना चाहिए, क्योंकि अगर शरण का उपदेशक स्वतः प्रमाण नहीं है, तो उसके उपदेश या धर्म भी प्रमाण नहीं हो सकते, या ऐसा भी समझ सकते है कि जब बुद्ध प्रमाण-सिद्ध होता है, तो उसके उपदेश "धर्म" भी प्रमाण होंगे और उस उपदेश का अभ्यास करने वाला संघ भी प्रमाण होगा। अच्छे हेतुओं से अच्छे फल प्राप्त होना स्वाभाविक है।

यहाँ प्रश्न आता है कि बुद्ध को हम प्रमाण-पुरुष कैसे सिद्ध कर सकते हैं?......................यह कहकर बुद्ध को प्रमाण नहीं मान सकते कि वह ३२ सुलक्षणों तथा ८० अनुव्यञ्जनों से युक्त हैं या वह ज्ञान से भरपूर हैं। परन्तु उनके दिये गये उपदेशों के युक्तिसंगत परीक्षण से बुद्ध को प्रमाण सिद्ध कर सकते हैं। बुद्ध की शिक्षा के लक्ष्य अभ्युदय तथा निःश्रेयस दोनों भागों के सूक्ष्म परीक्षण से यह विश्वास किया जा सकता है कि बुद्ध एक प्रमाण-पुरुष है और उनके मार्ग दर्शन सही हैं। अतः हमें इसे अपना

कर उनका शरणगमन करना चाहिए। संक्षेप में हम यह देख सकते है कि किस प्रकार और किस क्रम से भगवान् बुद्ध ने बतलाया है कि हमारे दैनिक व्यवहार में काम, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष जैसी प्रक्रियाएँ कैसे उत्पन्न होती हैं और किस तरह उनकी निराकृति हो सकती है। ऐसी अपने अनुभव की सरल शिक्षा से कितना लाभ होता है। उदाहरण के तौर पर 'वध-कर्म' को लें, तो भगवान् बुद्ध ने "किसी की जान मत लो" इतना कहकर नहीं छोड़ा। उन्होंने क्रमशः यह बतलाया कि कैसे वध-कर्म त्यागना चाहिए, उस कर्म की जड़ क्या है, कैसे हिंसा की-इच्छा उत्पन्न होती है ? ऐसे सूक्ष्म विशलेषण से वध-कर्म (हिंसा) का संकल्प, राग-द्वेष जैसे क्लेश उत्पन्न होता है, और क्लेश अज्ञान से उत्पन्न होता है । तथा अज्ञान की क्या स्वरूप है, कैसी उसकी धारणा है ? क्या उसकी निवृत्ति का उपाय है ? सत्स्वभाव के धारण करने वाले अज्ञान के विरोध में विपरीत निःस्वभावता की धारणा वाली प्रतिपक्ष की शिक्षा मिलती है और यह स्वाभाविक है कि दो विपरीत गुण वाले पदार्थों में एक की वृद्धि से दूसरे की कमी होती है। अतः प्रहाण-उपायों के निरन्तर अभ्यास से अज्ञान के दोष कम होते जायेंगे। यह एक विश्वसनीय तथ्य है। संक्षेप में भगवान् बुद्ध के उपदेशों का सारांश इतना है कि हम "उदार चित्त वाले हो, सब के कल्याण चाहने वाले हों"। यह अत्यन्त महत्वपूर्ण शिक्षा है, क्योंकि संसार में यह कोई नहीं कहेगा कि परकल्याण करना कोई बुरी बात है। परन्तु इसे अपने व्यवहार में अपना सकते हैं या नहीं, यह एक अलग प्रश्न है।]

एक और महत्वपूर्ण शिक्षा तथागत ने यह भी दी है कि सभी अच्छे या बुरे धर्म (वस्तु) जिन से सुख-दुःख की उत्पत्ति होती है और उनको भोकने वाला पुरुष या आत्मन् सभी स्वभावों से शून्य हैं।

अतः आचार्य नागार्जुन ने लिखा है,—

सर्वदृष्टिप्रहाणाय यः सद्धर्ममदेशयत् ।
अनुकम्पानुपादाय तं नमस्यामि गौतमम् ॥[1]

अर्थात् परकल्याण के मूल, महाकारुणा से प्रेरित होकर प्राणियों की आत्मदृष्टि जैसे दुःख के कारणों के समूल-प्रहाण हेतु सम्यक् धर्म का उपदेश देने वाले गौतम बुद्ध को सादर प्रणाम। जब आचार्य नागार्जुन ने ठोस प्रमाण के आधार पर बुद्ध को प्रमाण-पुरुष जानकर जो प्रणाम किया है, वह एक अद्वितीय बात है। जैसे पहले कहा गया है, हम भगवान् की शरण में जाते हैं तो वास्तव में शरण मिलता कैसे है? वास्तविक शरण धर्म की अभ्यास है, बुद्ध वचनों को व्यवहार में अपनाने पर ही शरण मिलती है, क्योंकि पाप और दोष के दुःख या ड़र से धर्म शरण देता है। अविद्या, राग तथा द्वेष जैसे दोषजनित दुष्कर्मों के फलस्वरूप दुःख भोगना पड़ता है। कारण-सहित दुःखों का अन्त हमारा लक्ष्य है, जिसके लिए अविद्या का अन्त होना आवश्यक है। क्लेश के निराकरण के लिए युगनद्ध शमथ और विपश्यना की समाधि होनी चाहिए। ऐसी समाधि निरन्तर अभ्यास से संभव है, इसलिए सर्वप्रथम बुरे व्यवहारों की शुद्धि के लिए शील की शिक्षा मिलती है। सभी प्रकार के शीलों के मूल-आधार दस अकुशल कर्मों की सही पहचान और उनका परित्याग है। इसी से कर्म-फल की व्यवस्था की शुरूआत होती है। इन दस अकुशल कर्मों में से तीन शरीर से सम्बन्ध (कायिक), चार वचन से सम्बन्ध (वाचिक) तथा तीन चित्त से सम्बन्ध (मानसिक) रखने वाले होते है। अगर हम इन दस अकुशल कर्मों को सही रूप से पहचान कर उनका निराकरण करते हैं तो हम अपने आपको तथागत बुद्ध का अनुयायी कह सकते हैं और साथ ही साथ अपने चित्त को वश में भी कर सकते।

1, द्र०–मध्यमकशास्त्र २७, पृ० २५८।

यदि ऐसा हमारा आचरण और व्यवहार होता है तो आप लोगों का यहाँ धूप और हवा में बैठकर यह उपदेश लेना और मेरा गद्दी पर बैठकर उपदेश देना दोनों सार्थक होगा, यही बात यहाँ बोधिचर्यावतार में भी आई है।

इत्वरव्याधिभीतो ऽपि वैद्यवाक्यं न लङ्घयेत्।
किमु व्याधिशतैर्ग्रतस्श्चतुर्भिश्चरुत्तरैः ॥ ५५ ॥

जैसे एक साधारण रोगी को रोग से मुक्त होने के लिए वैद्य के वचन के अनुसार आचरण करना पड़ता है, उचित तरीके से दवाई खानी पड़ती है, उसी प्रकार राग आदि रोगों को दूर करने के लिए बुद्ध वचनों का अनुसरण करने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है अतः बुद्ध उपदेशों को व्यवहार में अपनाना आवश्यक है।

एकेनापि यतः सर्वे जम्बुद्वीपगता नराः।
नश्यन्ति येषां भैषज्यं सर्वदिक्षु न विद्यते ॥ ५६ ॥
तत्र सर्वज्ञवैद्यस्य सर्वशल्यापहारिणः।
वाक्यमुल्लंघयामीति धिग् मामत्यन्तमोहितम् ॥ ५७ ॥

राग, द्वेष जैसे मात्र एक रोग के कारण इस जम्बुद्वीप के सभी प्राणी नष्ट हो सकते हैं। यह इतना भयंकर रोग है परन्तु इसका निवारक औषधि कहीं भी नही मिल सकती। अतः इस मानसिक रोग का उपचार सर्वज्ञ-वैद्य बुद्ध के उपदेश से हो सकता है, क्योंकि क्लेशों का उनके प्रतिपक्ष के पालन से प्रहाण हो सकता है, जो सर्वज्ञ-वैद्यराज-बुद्ध के उपदेशों में निहित है, जिस से प्रत्येक सांसारिक रोग पीड़ा को शान्त किया जा सकता है।

अत्यप्रमत्तस्ष्ठिामि प्रपातेष्वितरेष्वपि।
किमु योजनसाहस्रे प्रपाते दीर्घकालिके ॥ ५८ ॥

साधारण छोटी-मोटी खाई में गिरने के डर से अगर हम बहुत सावधान

रहते हैं तो हजारों योजन गहरी दुर्गती की उस खतरनाक खाई में गिरने से हमेशा हमको सावधान रहना अत्यन्त आवश्यक है।

अद्यैव मरणं नैति न युक्ता में सुखासिका।
अवश्यमेति सा वेला न भविष्याम्यहं यदा ॥ ५९ ॥
अभयं केन मे दत्तं निःसरिष्यामि वा कथम्।
अवश्यं न भविष्यामि कस्मान्मे सुस्थितं मनः ॥ ६० ॥

हमारे लिए मृत्यु निश्चित है। 'हम आज नहीं मारने वाले हैं' ऐसा विचार करना गलत है क्योंकि हमको किसी से अमर होने का वरदान तो नहीं प्राप्त है। अतः पुण्य-संचय और पाप निवृत्ति के लिए आज ही प्रयत्न करना चाहिए, यही हमें मृत्यु जैसे दुःख तथा भय से शरण दे सकता है।

पूर्वानुभूतनष्टेभ्यः किं मे सारमवस्थितम्।
येषु मेऽभिनिविष्टेन गुरूणां लंघितं वचः ॥ ६१ ॥

जो कुछ हमने किया है वे आज केवल स्मरण के विषय मात्र हैं, उनसे कोई लाभ नहीं, परन्तु ऐसे व्यर्थ कार्यों के प्रति काम, लोभ आदि के कारण अपने गुरुजनों का आज्ञोल्लंन किया है।

जीवलोकमिमं त्यक्त्वा बन्धून् परिचितांस्तथा।
एकाकी क्वापि यास्यामि किं मे सर्वैः प्रियाप्रियैः ॥ ६२ ॥

इस जीवन काल के प्रियों या परिचितों को एक साथ छोड़कर, यहाँ तक की अपने इस शरीर को भी त्याग कर, अकेले किसी अज्ञात दुर्गम रास्ते से गुजरना है, तो फिर इन सब प्रिय या अप्रिय लोगों के प्रति राग-द्वेष करना व्यर्थ है।

इयमेव तु मे चिन्ता युक्ता रात्रिदिवं सदा।
अशुभान्नियतं दुःखं निःसरेयं ततः कथम् ॥ ६३ ॥

मया बालेन मूढेन यत् किंचित् पापमाचितम्।
प्रकृत्या यच्च सावद्यं प्रज्ञप्त्यावद्यमेव च।। ६४।।

क्लेशवश किये गये दुष्कर्मों से मात्र दुःख ही दुःख मिलता है, तो दिन रात उससे छुटकारा पाने का चिन्तन तथा प्रयत्न होना चाहिए।

यहाँ यह अर्थ है कि अबतक अविद्या के कारण प्रकृतिसावद्य तथा प्रज्ञप्तिसावद्य अनेक पापों के फल स्वरूप आने वाले दुःखों के चिन्तन से ड़र कर प्रभुओं के सामने प्रत्यक्ष रूप से हाथ जोड़कर बारम्बार प्रणाम करके पाप देशना करता हूँ। ऐसे पाप जो स्वभाव से दुष्कर्म है (प्राणिवध, चोरी, व्यभिचार, असत्यभाषण, लोभ, प्रतिहिंसा आदि) इन्हें जो कोई भी प्राणि करेगा उसे पाप होगा, इसे प्रकृतिसावद्य कहते हैं और अपने व्रत (प्रतिज्ञा) के उल्लंघन से पाप सिद्ध होने वाले कर्म को प्रज्ञप्तिसावद्य कहते हैं। जिनका सबन्ध विशेष रूप से प्रव्रजित लोगों से है। पूर्वोक्त (बोधि) चित्तोत्पाद तथा शरणगमन को 'आश्रय-बल' कहते हैं। वस्तुतः अधिकांश अकुशल कर्म या तो शरण-स्थल (त्रिरत्न) के प्रति अनादर आदि से होते हैं या प्राणियों के प्रति। अतः शरणस्थल के प्रति शरणगमन् और प्राणियों के प्रति चित्तोत्पाद होना आवश्यक है। इसके पश्चात 'दूषण-बल' अर्थात पहले किये गये अकुशल कर्मों के प्रति सच्चे मन से पश्चात्ताप होना चाहिए। ऐसे पश्चात्ताप के साथ-साथ जान पर खतरा होने पर भी फिर कभी पाप न करने का दृढ़ निश्चय होना चाहिए, इसे 'दोष-प्रतिवहन-बल' कहते हैं। अतः अगले श्लोक में कहा गया है—

तत्सर्वं देशयाम्येष नाथानामग्रतः स्थितः।
कृताञ्जलिर्दुःखभीतः प्राणिपत्य मुहुर्मुहुः।। ६५।।

अत्ययमत्ययत्वेन प्रतिगृह्णन्तु नायकाः।
न भद्रकमिदं नाथा न कर्तव्यं पुनर्मया।। ६६।।

पापदेशना के साक्षी नायकों से मैं यह जानते हुए प्रार्थना करता हूँ

कि मैंने जो अनेक अनुचित भूलें की है, उनकी देशना स्वीकार करें और यह भी प्रतिज्ञा करता हूँ कि भविष्य में ऐसे पाप कभी नहीं करूँगा।

इस प्रकार तीनों बलों सहित प्रणाम्, पूजा-पाठ, मन्त्र तथा अक्षरशताका के जप, परिक्रमा, साच्छ ड़ालना, दान आदि पुण्य कर्म को 'प्रतिपक्ष-समुदाचार-बल' कहते है और इस प्रकार के पुण्य परिपूर्ण तथा विशुद्ध होंगे। भविष्य में पाप निरोध के लिए प्रतिपक्ष-उपायों को अपनाया जा सकता है परन्तु भूतकाल के पापों की शुद्धि के लिए हम केवल देशना कर सकते हैं, मात्र यही एक उपाय है। अतः सच्चे हृदय से पश्चात्ताप के साथ पाप देशना होनी चाहिए। यह देशना तीनों क्लेशों की प्रतिपक्ष है॥

॥ पापदेशना नामक द्वितीय परिच्छेद समाप्त ॥

तृतीय परिच्छेद

बोधिचित्त-परिग्रह

पुण्य-अनुमोदन :—

अपायदुःखविश्रामं सर्वसत्त्वैः कृतं शुभम् ।
अनुमोदे प्रमोदेन सुखं तिष्ठन्तु दुःखिताः ।। १ ।।

(अब यहाँ से अनुमोदन अङ्ग आता है।) अनन्त काल की दुर्गति तथा सांसारिक दुःखों से मुक्त होकर सुगति का विश्राम पाने के लिए जो कुछ पुण्य प्राणियों ने संचय किया है और आज सुगति प्राप्त हुई है, उन के पुण्य कर्मों का सहार्ष अनुमोदन करता हूँ।

संसारदुःखनिर्मोक्षमनुमोदे शरीरिणाम् ।
बोधिसत्त्वत्वबुद्धत्वमनुमोदे च तायिनाम् ॥ २ ॥

श्रवकों एवं प्रत्येकबुद्धों ने अपनी-अपनी बोधि-प्राप्ति के लिए जो भी पुण्य किये हैं, उनका अनुमोदन करता हूँ और जिन प्राणियों ने सांसारिक दुःखों से मुक्ति पाया है उनका भी अनुमोदन करता हूँ।

चित्तोत्पादसमुद्रांश्च सर्वसत्त्वसुखावहन् ।
सर्वसत्त्वहिताधानाननुमोदे च शासिनाम् ॥ ३ ॥

सब प्राणियों के रक्षक बोधिसत्त्वों के बोधिचित्त तथा प्रमुदिता भूमि आदि दशभूमियों का अनुमोदन करता हूँ।

(परन्तु इसका अर्थ इस प्रकार लें कि बोधिसत्त्वों का प्राप्य लक्ष्य बुद्धत्व और उस बुद्धत्व को प्राप्त करने के उपाय प्रथम भूमि से लेकर दसवीं भूमि तक की फल-प्राप्ति का अनुमोदन करना ।) हर एक प्राणी का कल्याण करने वाले बोधिचित्त-उत्पत्ति के पुण्य-समुद्र और उस चित्तोत्पाद से प्रेरित परोपकार के आचरण का प्रसन्नतापूर्वक अनुमोदन करता हूँ ।

[अनुमोदन करना एक ऐसा उपाय है जिससे बहुत कम प्रयत्न से अत्यन्त अधिक पुण्य कमाया जा सकता है । अतः अपने पास-पड़ोस के जान पहचान के लोगों के पुण्य कर्म को देखकर अनुमोदन करना चाहिए । हमारी दृष्टि से दूर बुद्ध एवं बोधिसत्त्वों के पुण्यों का अनुमोदन करने के साथ साथ प्रत्यक्ष मित्र-बन्धु तथा पड़ोसियों के कुशल कर्मों का ईर्ष्या-द्वेष छोड़कर सहर्ष अनुमोदन करना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि उस पुण्यकर्त्ता का मन शुद्ध या अशुद्ध चाहे जैसा भी हो, परन्तु अनुमोदनकर्त्ता स्वयं को महान् पुण्य का संचय हो सकता है । इस प्रकार अनुमोदन करने से ईर्ष्या दूर होती है । यह ईर्ष्या का प्रतिपक्ष है ।]

धर्मचक्र प्रवर्त्तन-अनुरोध :—

इसके पश्चात् धर्मचक्र प्रवर्त्तन-अनुरोध अङ्ग आता है ।

सर्वासु दिक्षु संबुद्धान् प्रार्थयामि कृताञ्जलिः ।
धर्मप्रदीपं कुर्वन्तु मोहाद्दुःखप्रपातिनाम् ॥ ४ ॥

प्रत्येक दिशा में स्थित सद्यः बुद्धत्व को प्राप्त करके धर्मोपदेश के लिए अभिमुख बुद्धों से मेरी हाथ जोड़कर यह प्रार्थना है कि वे दुःख के अन्धकार में डूबे प्राणियों को मोक्षमार्ग का प्रकाश दिखाने वाला धर्म दीप जलायें । (इस से धर्म त्याग के अकुशल कर्मों की शुद्धि होती हैं ।)

महापरिनिर्वाण में प्रवेश न करने की प्रार्थना :—

निर्वातुकामांश्च जिनान् याचयामि कृताञ्जलिः ।
कल्पाननन्तांस्तिष्ठन्तु मा भूदन्धमिदं जगत् ॥ ५ ॥

महापरिनिर्वाण के लिये अभिमुख बुद्धों से यह प्रार्थना है कि वे महा-परिनिर्वाण प्राप्त न करें और असंख्य कल्पों तक स्थित रहें क्योंकि भगवान् बुद्ध की अनुपस्थिति में ये दुःखी सांसारिक सत्त्व अज्ञानवश विपश्यना जैसे मार्ग के न दिखाये जाने पर जगत् अन्धे के समान होगा । अतः हमें अन्धकार में त्याग न दें ।

परिणामना-अङ्ग :—

एवं सर्वमिदं कृत्वा यन्मयासादितं शुभम् ।
तेन स्यां सर्वसत्त्वानां सर्वदुःखप्रशान्तिकृत् ॥ ६ ॥

इस प्रकार नमस्कार से लेकर महापरिनिर्वाण-प्रवेश न करने की प्रार्थना तक की षडङ्गचर्या से जो पुण्य मैं ने कमाये हैं उनसे सम्पूर्ण जगत के दुःख का निवारण हो । (यह सर्व सामान्य परिणामना है ।)

ग्लानानामस्मि भैषज्यं भवेयं वैद्य एव च ।
तदुपस्थायकश्चैव यावद् रोगापुनर्भवः ॥ ७ ॥

वह बोधिसत्त्व अब विभिन्न परिस्थितियों के लिए यथोचित विशेष परिणामना करता है, जैसे यहाँ पर यह परिणामना की गयी है कि जब तक संसार में रोगियों की व्याधि दूर नहीं होती मैं ओषधि, वैद्य और परिचारक के रूप में उनका कल्याण सिद्ध करूँ ।

क्षुत्पिपासाव्यथां हन्यमान्नपानप्रवर्षणैः ।
दुर्भिक्षान्तरकल्पेषु भवेयं पानभोजनम् ॥ ८ ॥

मेरे पुण्य कर्म से भूखे और प्यासे लोगों के लिए आन पान की वर्षा हो, तथा दुर्भिक्षान्तर-कल्प (दूसरे अकाल प्रलय) के दौरान खाने पीने की वस्तु में मैं परिवर्तित होऊँ ।

दरिद्राणां च सत्त्वानां निधिः स्यामहमक्षयः ।
नानोपकरणाकारैरुपतिष्ठेयमग्रतः ॥ ९ ॥

दरिद्र प्राणियों के लिए मैं अक्षय धन की खान बनकर उन्हें यथोचित आवश्यकता की वस्तु स्वरूप प्राप्त होऊँ ।

आत्मभावांस्तथा भोगान् सर्वत्र्यध्वगतं शुभम् ।
निरपेक्षस्त्यजाम्येष सर्वसत्त्वार्थसिद्धये ॥ १० ॥

अपना शरीर, धन-दौलत तथा त्रैकालिक कुशल कर्मा भी बिना आसक्ति के समस्त प्राणियों के हित के लिए दान करता हूँ ।

सर्वत्यागश्च निर्वाणं निर्वाणर्थि च मे मनः ।
त्यक्तव्यं चेन्मया सर्वं वरं सत्त्वेषु दीयताम् ॥ ११ ॥

(यह उचित भी है क्योंकि) अनासक्त भाव से शरीर, धनदौलत एवं पुण्यों के त्याग से ही निरूपधिशेष परिनिर्वाण प्राप्त हो सकता है जिसके हम इच्छुक हैं । एक और तथ्य यह भी है कि एक ओर यह शरीर और धन-दौलत क्षणभंगुर है, दूसरी ओर जैसे भी हो हमें इन सब को छोड़ना है । जब छोड़ना ही है तब प्राणि-मात्र के कल्याण के लिए इसे समर्पित करना सर्व श्रेष्ठ उपाय है ।

यथा सुखीकृतश्चात्मा मयायं सर्वदेहिनाम् ।
घ्नन्तु निन्दन्तु वा नित्यमाकिरन्तु च पांसुभिः ॥ १२ ॥

क्रीडन्तु यम कायेन हसन्तु विलासन्तु च।
दत्तस्तेभ्यो मया कायश्चिन्तया किं ममानया ।। १३ ।।

जैसे, जब हम एक वस्तु किसी को देते हैं तो वह प्राणी उस वस्तु का स्वामी होता है और उसको अपनी इच्छा के अनुसार प्रयोग करने का अधिकार होता है। उसी प्रकार यहाँ यह अर्थ है कि सहर्ष जब प्राणियों के लिए यह शरीर दान कर चुका हूँ तो चाहे वे इसकी हत्या करें, निन्दा करें, मारपीट करें या इसके साथ खिलवाड़ करें, हँसी मजाक करें, और विलास करें मुझे कोई चिन्ता नहीं।

कारयन्तु च कर्माणि यानि तेषां सुखावहम्।
अनर्थः कस्यचिन्मा भून्मामालम्ब्य कदाचन ।। १४ ।।

उपयोग कर्ता के लिये अहितकारी कर्मों के अतिरिक्त सभी कार्यों के लिये इस शरीर का उपयोग हो और कभी भी काम, क्रोध आदि क्लेशों के कारण बनकर उनके लिये अनर्थसिद्ध न हों।

येषां क्रुद्धाप्रसन्ना वा मामालम्ब्य मतिर्भवेत्।
तेषां स एव हेतुः स्यान्नित्यं सर्वार्थसिद्धये ।। १५ ।।

जिनके मन में मेरे इस शरीर को देखकर क्रोध या श्रद्धा उत्पन्न हो वे विचार उस प्राणी के कल्याणार्थ सिद्ध हों।

अभ्याख्यास्यन्ति मां ये च ये चान्ये ऽप्यपकारिणः।
उत्प्रासकास्तथान्ये ऽपि सर्वे स्युर्बोधिभागिनः ।। १६ ।।

इसी प्रकार चाहे कोई मेरी निन्दा करें—अन्य शारीरिक कष्ट पहुँचाये, अथवा उपहास जैसा कोई भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष भला-बुरा सम्बन्ध हो, वे सब उनकी बोधि-प्राप्ति का हेतु बनें।

अनाथानामहं नाथः सार्थवाहश्च यायिनाम् ।
पारेत्सनां च नौभूतः सेतुः संक्रम एव च ॥ १७ ॥

अनाथों का मैं नाथ, यात्रियों का सार्थवाह, बड़ी ददियाँ पार करने की नौका, छोटी नदीयों को पार करने का पुल और समुद्र पार करने का जहाज आदि यथोचित वस्तु बन कर उपकार करूँ।

[द्वीपार्थिनामहं द्वीपः[1]]
दीपार्थिनामहं दीपः शय्या शय्यार्थिनामहम् ।
दासार्थिनामहं दासो भवेयं सर्वदेहिनाम् ॥ १८ ॥

द्वीप चाहने वालों के लिए द्वीप, अन्धकार में पड़े लोगों के लिए दीपक या बैठने-सोने की जगह चाहने वालों के लिए शय्या और दास चाहने वालों के लिए दास बनकर मैं परकल्याण सिद्ध करूँ।

चिन्तामणिर्भद्रघटः सिद्धविद्या महौषधिः ।
भवेयं कल्पवृक्षश्च कामधेनुश्च देहिनाम् ॥ १९ ॥

मैं प्राणियों के हित-हेतु चिन्तामणि, भद्रघट, सिद्ध विद्या, (पारद-गोली), महौषधि, कल्पवृक्ष और कामधेनु बनूं।

पृथिव्यादीनि भूतानि निःशेषाशवासिनाम् ।
सत्त्वानामप्रमेयाणां यथा भोगान्यनेकधा ॥ २० ॥

---

1. भोट भाषा में 'दीपार्थिनामहं दीपः' तो है ही इसके साथ 'द्वीपार्थिनामहं द्वीपः' यह चरण भी मिलता है, जिसको लेकर पूरा श्लोक भोटभाषा में पाँच चरणों का हो जाता है। संस्कृत के अब तक प्राप्त किसी भी संस्करण में उक्त अधिक पाठ नही मिलता है।

एवमाकाशनिष्ठस्य सत्त्वधातोरनेकधा ।
भवेयमुपजीव्योऽहं यावत्सर्वे न निर्वृताः ॥ २१ ॥

संक्षेप में जैसे पृथ्वी आदि महाभूत अनन्त आकाश के असंख्य प्राणि-जगत् के उपजीव्य बनते हैं, वैसे ही जब तक आकाशव्यापी प्राणिमात्र मोक्ष प्राप्त न कर लें मैं उनका हर प्रकार का भोग्य साधन बनूं । [यह रत्नावली के किसी पाद से बहुत मिलता जुलता है[1] । यह (परिणामना-अङ्ग) बहुत महत्वपूर्ण है, इसका बारबार पठन करके इन शब्दों का अर्थ समझना आवश्यक है । क्योंकि ऐसी बातों के निरन्तर चिन्तन-मनन से एक ऐसा चित्त उत्पन्न होता है, जहाँ मात्र पर-कल्याण की इच्छा के अतिरिक्त कोई स्वार्थ भावना नहीं उत्पन्न होती । परिणामना-अङ्ग यहीं समाप्त होता है । अब आगे वास्तविक बोधिचित्त परिग्रहण का पाठ आता है ।]

यथा गृहीतं सुगतैर्बोधिचित्तं पुरातनैः ।
ते बोधिसत्त्वशिक्षायामानुपूर्व्या यथा स्थिताः ॥ २२ ॥
तद्वदुत्पादयाम्येष बोधिचित्तं जगद्धिते ।
तद्वदेव च ताः शिक्षाः शिक्षिष्यामि यथाक्रमम् ॥ २३ ॥

वह बोधिसत्त्व यह प्रतिज्ञा करता है कि जैसे भूतकाल के बुद्धों ने बोधि-चित्त ग्रहण करके क्रमशः बोधिसत्त्वों की शिक्षाओं का पालन किया, वैसे ही मैं प्राणि जगत् के कल्याण-हेतु बोधिचित्त उत्पन्न करके उन शिक्षाओं का उसी क्रम से अभ्यास करूँगा ।

---

1. पृथिवीतोयवाय्वग्निभैषज्यारण्यवृक्षवत् ।
स्वैरेणावृतभोग्यःस्यां सर्वप्राणभृतां सदा ॥ रत्नावली ५।८३ ॥

पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, ओषधि तथा निर्जन एकान्त की वृक्षों की तरह ही मैं सदा समस्त प्राणियों का इच्छा-अनुसार भोग्य साधन बनूँ ।

एवं गृहीत्वा मतिमान् बोधिचित्तं प्रसादतः ।
पुनः पृष्ठस्य पुष्ट्यर्थं चित्तमेवं प्रहर्षयेत् ।। २४ ।।

इस प्रकार सहर्ष बोधिचित्त उत्पन्न करके उसका ग्रहण करने के बाद फिर पूर्व की पुष्टि और उत्तरोत्तर विकास के लिए अपने चित्त को हर्षित करना चाहिए कि—

अद्य मे सफलं जन्म सुलब्धो मानुषो भवः ।
अद्य बुद्धकुले जातो बुद्धपुत्रोऽस्मि सांप्रतम् ।। २५ ।।

आज मेरा यह मानव जन्म सफल हुआ क्योंकि मैंने आज सच्चे मन से प्राणिमात्र के कल्याण के लिए बोधिचित्त उत्पन्न किया है जिससे मैं बुद्ध-कुल में नव जन्म लेकर अब बुद्धपुत्र बन गया हूँ ।

तथाधुना मया कार्यं स्वकुलोचितकारिणाम् ।
निर्मलस्य कुलस्यास्य कलंको न भवेद्यथा ।। २६ ।।

अब कैसी भी परिस्थिति मेरे सामने आए कभी बुद्धकुल के प्रतिकूल कोई कर्म नहीं करूँगा, क्योंकि मैंने बोधिचित्त उत्पन्न कर बुद्धकुल में जन्म लिया है और मात्र पर-कल्याण में लगे रहना बुद्धों का काम है । अतः मुझे बुद्धों का अनुसरण करना होगा ।

अन्धः संकारकूटेभ्यो यथा रत्नमवाप्नुयात् ।
तथा कथंचिदप्येतद् बोधिचित्तं ममोदितम् ।। २७ ।।

जैसे कूड़ा-करकट की ढेरों से किसी अन्धे आदमी को बहुमूल्य रत्न मिल जाए, वैसे ही संयोग से आज मुझे यह दुर्लभ बोधिचित्त प्राप्त हो गया है, अतः मैं अत्यन्त प्रसन्न हूँ ।

बोधिचित्तगुण :—

अब यहाँ से कुछ श्लोक बोधिचित्त के गुण प्रकाशित करते हैं—

जगन्मृत्युविनाशाय जातमेतद्रसयानम् ।
जगद्दारिद्र्यशमनं निधानमिदमक्षयम् ॥ २८ ॥

जब तक सत्त्व मृत्यु के परतन्त्र हैं, वह संसार में भटकता है, मृत्यु से मुक्त होना निर्वाण है, एक अमृत अवस्था है। यह बोधिचित्त प्राणियों को परि-निर्वाण प्रदान करता है, अतः यह चित्त, उत्तम् अमृत है और जगत् की दरिद्रता दूर करने वाले रत्नों की अक्षय निधि भी है।

जगद्व्याधिप्रशमनं भैषज्यमिदमुत्तमम् ।
भवाध्वभ्रमणश्रान्तजगद्विश्रामपादपः ॥ २९ ॥

उसी प्रकार प्राणियों के अकस्मात् तथा अन्तर्जात रोगों को शान्त करने वाली यह उत्तम ओषधि भी है। अभिसंस्कार, मरणभव, अन्तरभव तथा उपपत्तिभव (जातिभव) के सांसारिक भवमार्ग में भ्रमण करते करते थके जगत् को यह छायादार विश्रामदायक वृक्ष है।

दुर्गत्युत्तरणे सेतुः सामान्यः सर्वयायिनाम् ।
जगत्क्लेशोष्मशमन उदितश्चित्तचन्द्रमाः ॥ ३० ॥

(अब तक सामान्य सांसारिक दुःखों का वर्णन करके बोधिचित्त के गुण बताया है) और यहाँ विशेषकर यह बताया है कि वह दुर्गति में पतित प्राणियों को संसार की नदी पार करने के लिए सर्वसाधारण सेतु है। और सब प्राणियों के क्लेश तप को शान्त करने वाले इस शीलत बोधिचित्त-चन्द्रमा का उदय हुआ है।

जगदज्ञानतिमिरप्रोत्सारणमहारविः ।
सद्धर्मक्षीरमथनान्नवनीतं समुत्थितम् ॥ ३१ ॥

क्लेश-आवरण के अतिरिक्त ज्ञेयावरण (अज्ञानान्धकार) का नाशक यह महान् तेजोमय सूर्य है। यही नहीं, 'जिन' बुद्धों के सुभाषित सद्धर्मों का उद्देश्य हर एक प्राणी को बुद्धत्व प्राप्त कराना है और जब तक बोधिचित्त की उत्पत्ति नहीं होती बुद्धत्व प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिए यह बोधिचित्त पवित्र क्षीर-सागर जैसे बुद्ध बचनों के मन्थन से निकले नवनीत की तरह है, अर्थात् सभी धर्मों का सार है।

सुखभोगबुभुक्षितस्य वा जनसार्थस्य भवाध्वचारिणः ।
सुखसत्रमिदं ह्युपस्थितं सकलाभ्यागतसत्त्वतर्पणम् ॥ ३२ ॥

सांसारिक भवमार्ग के यत्री को इस समय मनुष्य एवं देवलोक का सुख देने वाला यह बोधिचित्त है और अन्त में परम सुख निर्वाण की प्राप्ति भी यही प्रदान करता है।

जगदद्य निमन्त्रितं मया जनसार्थस्म भवाध्वचारिणः ।
पुरतः खलु सर्वतायिनामभिनन्दस्तु सुरासुरादयः ॥ ३३ ॥

अब वे बोधिसत्त्व सुर, असुर आदि दूसरों से भी कहते हैं कि मैंने आज समस्त तथागतों के सामने सब प्राणियों को अन्त में बुद्धत्व दिलाने और अन्तरिमकाल में भी देव तथा मानव का अभ्युत्थित जीवन प्रदान करने के लिए आमन्त्रित किया है, अतः आप सभी प्रसन्न चित्त हों।

॥ बोधिचित्त-परिग्रह नामक तृतीय परिच्छेद समाप्त ॥

चतुर्थ परिच्छेद

बोधिचित्ताप्रमाद

तीसरा दिन

हर एक प्राणी सुख-सुविधा चाहता है, दुःख नहीं। इसी सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति चाहने वाले चित्त के आधार पर हम जो प्रयत्न करते हैं, उपाय खोजते हैं, यह उचित है। काष्ठ आदि में ऐसी चेष्टा नहीं हो सकती क्योंकि वे अचेतन हैं, इसके विपरीत, मैं हूँ, मेरा है, ऐसे विचार की क्षमता रखने वाले हम लोग चेतन होने से यह विशेषता रखते हैं कि हम अच्छी एवं बुरी बातों का अन्तर जानने और यथासम्भव सुख शान्ति पाने का प्रयत्न करें।

आज संसार में बहुत लोग शिक्षित हैं, विद्वान् हैं, साथ ही अनेक अज्ञानी तथा अशिक्षित लोग भी हैं। वे सब अपनी-अपनी जगह पर अपनी शक्ति-अनुसार सुख-शान्ति के उपाय खोजते हैं, प्रयत्न करते हैं। जीवन-काल में हम जीविका के लिए, नाम ख्याति के लिए या बड़े तौर पर देश-प्रदेश की उन्नति के लिए अनेक स्थापनाएं करते हैं, इन उपायों या प्रयत्नों से कुछ हद तक सुख-सुविधा मिलती है परन्तु परम सुख नहीं मिल सकता, यह इस उदाहरण से स्पष्ट है कि जैसे हम एशिया के लोग आर्थिक परिस्थिति कमजोर होने के कारण यह सोचते हैं कि आर्थिक विकास तथा धन-दौलत से ही सम्पूर्ण सुख-शान्ति मिलेगी, पर ऐसा कदाचित् नहीं है। पश्चिमी देशों में वास्तु-विज्ञान

की उन्नति चरम सीमा पर है, उनकी आर्थिक परिस्थिति बहुत अच्छी है। इन साधनों से कुछ हद तक उनके दुःख या कठिनाइयाँ दूर हुई हैं परन्तु उसके साथ-साथ अन्य प्रकार के दुःखों से वे पीड़ित हैं। वे लोग अब भी असन्तुष्ट हैं, सुखी नहीं हैं।

अतः ऐसा लगता है कि सुख-शान्ति और मन की स्थितियों में कुछ गहरा सम्बन्ध है। जिनकी विचार धारा में कुछ कमी है वे धन-वैभव के बीच रहते हुए भी अशान्त हैं, दुःखी हैं। दूसरी ओर एक दरिद्र व्यक्ति जिसका मन शुद्ध है, वह शान्त, प्रसन्नचित्त और सन्तुष्ट है। अब यह प्रश्न आता है कि कैसे मानसिक प्रवृत्ति में यह अन्तर आता है? जिसके मन पर जितना गहरा प्रभाव काम, क्रोध, ईर्ष्या द्वेष और लोभ का है उतना ही वह बेचैन और असन्तुष्ट होगा और जिसके मन पर जितना कम प्रभाव इन दोषों का होगा उतना ही वह प्रसन्नचित्त, शान्त और सन्तुष्ट होगा। संक्षेप में जितना अधिक क्लेश-दोष होंगे उतनी अधिक बेचैनी तथा असन्तुष्ट होगी।

इसलिए अधिक प्रबल राग-द्वेष वाले चित्त को हम अदान्त या दुष्ट चित्त कहते हैं और इससे विपरीत चित्तको दान्त चित्त कहते हैं। अतः आवश्यकता इस बात की है कि हमारे मन सदा उदार या भद्र स्वभाव के हों, हम किसी के प्रति बुरा विचार न रखें, एक दूसरे के प्रति मैत्रीपूर्ण संबन्ध हो जिससे हम सुखी रह सकें।

यदि कोई भावी जन्म, मोक्ष-प्राप्ति आदि का चिन्तन नहीं कर पाता तो भी मात्र उदार तथा कल्याणकारी चित्त के होने से वर्तमान जीवन को सुख-शान्ति से व्यतीत कर सकता है और भावी जन्म में कल्याण भी अपने-आप हो जायेगा। हम शिष्ट जीवन विताने की जगह दुष्ट बनकर एक दूसरे से झगड़ा करने, धोखा देने जैसे राग-द्वेष कर्म में उसे व्यतीत करते हैं तो मुँह से बार-बार भगवान् बुद्ध का नाम लेने से कोई लाभ नहीं होगा।

अतः इस जनसमूह में उदार चित्त वालों का मैं अभिनन्दन तथा अनुमोदन करता हूँ और साथ ही साथ जो कोई कठोर स्वभाव वाले हों उनसे यह कहना चाहूँगा कि इस धर्मोपदेश के पण्डाल में बैठकर आज से यथासंभव यह प्रयत्न करें कि वे शान्त और उदार चित्त वाला मनुष्य बनें, परोपकार का जीवन बितायें।

बोधिचर्यावतार में भी अपने कठोर मन के नियन्त्रण के लिए अनेक उपाय दर्शाए गए हैं। अब आप लोग यह विचार करते हुए कि "स्वयं तथा पराए हर प्राणी के सदा सुख-कल्याण के लिए मैं इस बोधिचर्यावतार का उपदेश प्राप्त करता हूँ" ऐसी पवित्र प्ररिकल्पना के साथ सुनने का प्रयत्न करें। कल बोधिचित्त-परिग्रहण का परिच्छेद समाप्त हुआ, अब बोधिचित्त-परिग्रहण के बाद उसकी छह पारमिताओं की शिक्षा की क्रमशः व्याख्या आती है। मात्र चित्तोत्पाद से बुद्धत्व प्राप्त नहीं हो सकता, बुद्धत्व की प्राप्ति हेतु चित्तोत्पाद के पश्चात् शिक्षाओं को व्यवहार में अपनाना चाहिए। यह भी जानना चाहिए कि इस अभ्याम के उपाय-पक्ष तथा प्रज्ञा-पक्ष दो विभाग हैं। प्रज्ञा-रहित उपाय या उपाय रहित प्रज्ञा प्रभावशाली नहीं होती, अतः अभ्यास के बीच इन दोनों का संयुक्त रूप से चलाना आवश्यक है। छह पारमिताओं में प्रज्ञापारमिता प्रज्ञापक्ष की है और शेष पाँच उपाय-पक्ष के हैं। बोधिचर्यावतार के नौवें परिच्छेद में प्रज्ञा की शिक्षा है और अन्य परिच्छेदों में विशेषकर उपाय की शिक्षा है।

दान पारमिता में आमिष-दान[1], धर्म दान, अभय दान आदि अनेक दान आते हैं। सच्चे हृदय से गरीबों की मदद करना, चिकित्सालय, विद्यालय आदि के लिए धनराशि से सहायता करना, दान-अभ्यास का सही तरीका है।

---

1. आमिष पद पारिभाषिक है जिसका अर्थ है समस्त 'भोग्य पदार्थ' न कि साधारण भाषा में गृहीत अर्थ-मांस।

चाहे धर्मोपदेशक की संज्ञा हो या न हो, जब हम अपने पास पड़ोस के जाने पहचाने लोगों को पुण्य कर्म के लिए प्रेरित करते हैं तो वह धर्मदान होगा जो एक अत्यन्त प्रशंसनीय काम है। खतरे में पड़े प्राणियों की जान बचाना अभयदान कहलाता है। इस प्रकार के अभ्यास पूर्ण-रूप से जैसे एक बोधिसत्त्व करता है वैसा तो इस समय हम कर नहीं सकते परन्तु कुछ हद तक अवश्य हो सकता है और यथासंभव प्रयत्न आज से ही होना चाहिए। दान-अभ्यास में कल्पना से तन, धन, पुण्य आदि परकल्याण के लिए अर्पित करने के मानसिक अभ्यास से भी बहुत अधिक लाभ होता है। इस प्रकार की परित्याग की भावना के अभ्यास से त्याग-शक्ति बढ़ेगी। परन्तु उसका सच्चे मन से न होना झूठ के बराबर है। जैसे कि एक भी रुपया न देकर खाली मुँह से यह कहना कि "मैंने सब कुछ दान कर दिया है", अभ्यास के प्रतिकूल ऐसा आचरण नहीं होना चाहिए। शील पारमिता में विशेषतः दूसरों के प्रति हानिकारक कार्यों से दूर रहना होता हैं, जिसमें परकल्याण के लिए अपना आचरण होना चाहिए। अतः तथागत बुद्ध के समस्त शासन या उपदेशों को इन दो वाक्यों में संक्षिप्त कर सकते हैं कि "अगर संभव हो तो दूसरों की भलाई करो, और नहीं, तो किसी की हानि मत करो।" इसलिए शील की शुद्धि के लिए अप्रमाद रखना चाहिए, जैसा कि इस परिच्छेद में वर्णित है।

एवं गृहीत्वा सुदृढं बोधिचित्तं जिनात्मजः।
शिक्षानतिक्रमे यत्नं कुर्यान्नित्यमतन्द्रितः॥ १॥

इस प्रकार दृढ़ता से बोधिचित्त-ग्रहण करने के बाद उस बोधिसत्त्व को अपनी शिक्षा के प्रतिकूल-आचरण से दूर रहने के लिए सदा सावधानी के साथ प्रयत्न करना चाहिए।

सहसा यत्समारब्धं सम्यग्यदविचारितम्।
तत्र कुर्यान्नवेत्येवं प्रतिज्ञायापि युज्यते॥ २॥

ऐसा कोई कार्य, जिसका बिना सम्यक् विचार किये आरंभ कर चुके हों या करने की प्रतिज्ञा कर लिये हों, तो भी उस कार्य के निरन्तर करने या न करने का पुनर्विचार होना उचित है।

विचारितं तु यद् बुद्धैर्महाप्राज्ञैश्च तत्सुतैः।
मयापि च यथाशक्ति तत्र किं परिलम्ब्यते ॥ ३ ॥

परन्तु बोधिचित्त के विषय में यह उचित नहीं होगा क्योंकि समस्त बुद्धों तथा बुद्ध पुत्रों की अद्वितीय प्रज्ञा के द्वारा परीक्षण हो चुका है और स्वयं भी सूक्ष्मता से विचार करके प्रतिज्ञा कर चुके हैं, तो कदाचित् इसे त्याग नहीं सकते।

यदि चैवं प्रतिज्ञाय साधयेयं न कर्मणा।
एतान् सर्वान् विसंवाद्य का गतिर्मे भविष्यति ॥ ४ ॥

क्योंकि प्राणिमात्र के कल्याण के लिए चित्तोत्पाद की प्रतिज्ञा की है और अगर इसे कार्य-रूप नहीं देते तो सम्पूर्ण जगत् के प्रति बहुत बड़ा धोखा होगा।

मनसा चिन्तयित्वापि यो न दद्यात्पुनर्नरः।
स प्रेतो भवतीत्युक्तमल्पमात्रेऽपि वस्तुनि ॥ ५ ॥
किमुतानुत्तरं सौख्यमुच्चैरुद्‌घुष्य भावतः।
जगत् सर्वं विसंवाद्य का गतिर्मे भविष्यति ॥ ६ ॥

छोटी सी साधारण वस्तु को दान करने का संकल्प करके फिर विचार बदलकर दान न करने पर प्रेत का जन्म मिलेगा ऐसा ('स्मृत्युपस्थान सूत्र' आदि में) कहा गया है। अतः परकल्याण की प्रतिज्ञा करके सभी प्राणियों को अनुत्तर सुख के लिए आमन्त्रित करके फिर प्रतिज्ञा-भंग करने से नरक जैसी दुर्गति भोगनी पड़ेगी।

वेत्ति सर्वज्ञ एवैतामचिन्त्यां कर्मणो गतिम् ।
यद् बोधिचित्तत्यागेऽपि मोचयत्येव तान् नरान् ॥ ७ ॥

(यहाँ पर एक शंका का समाधान किया है)—अगर बोधिचित्त के प्रतिकूल आचरण या इसके परित्याग से दुर्गति प्राप्त होती है तो वह कैसे संभव हुआ कि बुद्ध के शिष्य शारिपुत्र ने बोधिचित्तोत्पाद के पश्चात् मार-दानव के आतंक के कारण बोधिचित्त का त्याग किया ऐसा कथन है परन्तु अन्त में वह भी अर्हत् बने ? इस प्रकार की सूक्ष्म कर्म व्यवस्था सर्वज्ञ ही का विषय है, हम आप पृथग्जनों के ज्ञान के परे है ।

बोधिसत्त्वस्य तेनैवं सर्वापत्तिर्गरीयसी ।
यस्मादापद्यमानोऽसौ सर्वसत्त्वार्थहानिकृत् ॥ ८ ॥

बोधिप्रणिधान-चित्त का त्याग १८ मूल-आपत्तियों में गुरुतम है । यदि वह संवर प्राप्त बोधिसत्त्व है तो इसी से संवर भंग हो जाता है । इसका कारण यह है कि चित्त के त्याग से प्राणियों के कल्याण के कार्य में बाधा पड़ेगी, जिससे प्राणियों की हानि होगी ।

योऽप्यन्य· क्षणमप्यस्य पुण्यविघ्नं करिष्यति ।
तस्य दुर्गतिपर्यन्तो नास्ति सत्वार्थघातिनः ॥ ९ ॥

दूसरों के बोधिचर्या के अभ्यास में बाधा डालने से भी प्राणियों के उपकार में विघ्न होने के कारण उस (बाधा करने वाला) को अनन्त दुर्गति प्राप्त होगी ।

एकस्यापि हि सत्त्वस्य हितं हत्वा हतो भवेत् ।
अशेषाकाशपर्यन्तवासिनां किमु देहिनाम् ॥ १० ॥

प्राणिवध जैसे एक प्राणी के सुख-शान्ति भंग करने का फल अपनी दुर्गति होती है तो प्राणिमात्र की सुख-शान्ति भंग करने से बहुत बड़ा पाप

होना स्वाभाविक है। इस प्रकार की आपत्ति से दुर्गति (पतन) की अशंका के अतिरिक्त ऊँचे मार्ग के प्राप्त होने में बाधा होगी जैसा अगले श्लोक में कहा गया है—

एवमापत्तिबलतो बोधिचित्तबलेन च।
दोलायमानः संसारे भूमिप्राप्तौ चिरायते॥ ११॥

गम्भीर आपत्ति से पतन होने के बाद फिर अगर वह साधक शक्तिशाली बोधिचित्तोत्पाद करके प्रयत्न करता है, तो भी इसी उतार-चढ़ाव के क्रम में फँसकर ऊँचा मार्ग-ज्ञान या भूमि प्राप्त होने में बहुत देर लगेगी।

तस्माद्यथाप्रतिज्ञातं साधनीयं मयादरात्।
नाद्य चेत् क्रियते यत्नस्तलेनास्मि तलं गतः॥ १२॥

अतः अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार यत्न करना होगा क्योंकि एक बार दुर्गति में पतित होने से फिर निरन्तर पतन होता जायेगा।

अप्रमेया गता बुद्धाः सर्वसत्त्वगवेषकाः।
नैषामहं स्वदोषेण चिकित्सागोचरं गतः॥ १३॥

यदि कोई ऐसा कहता है कि 'दुर्गति में पतन होने पर भी परकल्याण-भावना वाला हमें मुक्त करेगा' ऐसा भी संभव नहीं, क्योंकि अपने पाप-कर्म की शुद्धि खुद को करनी है। यह इस बात से स्पष्ट है कि अब तक असंख्य बुद्ध आये परन्तु हम अपने पाप-दोषों के कारण आज भी संसार में भटक रहे हैं।

अद्यापि चेत्तथैव स्यां यथैवाहं पुनः पुनः।
दुर्गतिव्याधिमरणच्छेदभेदाद्यवाप्नुयाम्॥ १४॥

अगर भविष्य में भी हम बीते दिनों की तरह लापरवाही से जीवन व्यतीत करते हैं तो पूर्वकाल की भांति ही पुनः पुनः दुर्गति पायेंगे और

यदि संयोगवश सुगति प्राप्त होती है तो भी व्याधि, मरण, छेदन, भेदन आदि भोगना पड़ेगा ।

कदा तथागतोत्पादं श्रद्धां मानुष्यमेव च ।
कुशलाभ्यासयोग्यत्वमेवं लप्स्येऽतिदुर्लभम् ॥ १५ ॥

भविष्य में कुछ अवसर मिलेगा तो अभ्यास करूँगा ऐसा विचार करना गलत है, क्योंकि जगत् में बुद्ध का आगमन, उस समय मनुष्य जीवन पाना, जीवन पाकर भी त्रिपिटक के प्रति श्रद्धा और पुण्य अभ्यास में रुचि होना यह बहुत दुर्लभ अवस्था है, अतः आज की प्राप्त-अवस्था का सदुपयोग होना चाहिए ।

आरोग्यंदिवसं चेदं सभक्तं निरुपद्रवम् ।
आयुःक्षणं विसंवादि कायोपाचितकोपमः ॥ १६ ॥

क्योंकि आज का यह स्वस्थ जीवन, सभी सुख सुविधायें होने पर भी अस्थायी हैं, क्षणिक हैं, यह शरीर उधार वस्तु जैसा है, इसलिए प्रमाद कार बैठना व्यर्थ है ।

बहीदृशैर्मच्चरितैर्मानुष्यं लभ्यते पुनः ।
अलभ्यमाने मानुष्ये पापमेव कुतः शुभम् ॥ १७ ॥

आज के अपने आचरण पर विचार करने पर ऐसा लगता है कि भविष्य में मानव जीवन पाना दुर्लभ है और अगर मानव-जीवन नहीं मिलता तो हम पाप ही पाप में डूबे रहेंगे ।

यदा कुशलयोग्योऽपि कुशलं न करोम्यहम् ।
अपायदुःखैः संमूढः किं करिष्याम्यहं तदा ॥ १८ ॥

पुण्य-फल, भाग्यशाली मानव जीवन प्राप्त होने पर भी पुण्य कर्म

अनायास नहीं होता और यदि सुविधा-प्राप्ति के समय पुण्य-संचय नहीं करते तो दुर्गति में पतित होने पर हम कुछ भी करने में समर्थ नहीं होंगे।

अकुर्वतश्च कुशलं पापं चाप्युपचिन्वतः।
हतः सुगतिशब्दोऽपि कल्पकोटिशतैरपि ॥ १९ ॥

पुण्य न कमाकर अनेक पाप करते रहे, तो सैकड़ों लाखों कल्पों तक सुगति का नाम भी सुनना कठिन हो जायेगा।

अत एवाह भगवान् मानुष्यमतिदुर्लभम्।
महार्णवयुगच्छिद्रकूर्मग्रीवार्पणोपमम् ॥ २० ॥

अतः भगवान् तथागत ने उदाहरण के साथ कहा था, कि जैसे विशाल समुद्र सतह पर उतराये हुये जुये के छेद में सौ वर्षों में एक बार अपना सिर ऊपर निकालने वाले कछुए की गर्दन कितनी घुसेगी इसकी केवल संभावना ही हो सकती है, उसी प्रकार मानव जीवन दुर्लभ है।

एकक्षणकृतात् पापादवीचौ कल्पमास्यते।
अनादिकालोपचितात् पापात् का सुगतौ कथा ॥ २१ ॥

अगर क्षण भर के पापकर्म के फलस्वरूप अन्तरकल्प-काल तक अवीचि-नरक में रहना पड़ता है, फिर अनादि काल से पाप संचित होने पर सुगति प्राप्त होना दूर की बात है।

न च तन्मात्रमेवासौ वेदयित्वा विमुच्यते।
यस्मात् तद्वेदयन्नेव पापमन्यत् प्रसूयते ॥ २२ ॥

अब तक संचित पापों के फल भोगकर पाप से मुक्त हो पाना भी कठिन है क्योंकि एक पाप का फल भोगते भोगते फिर दूसरे पाप कमायेंगे और यह प्रक्रिया निरन्तर चलती रहेगी।

इसलिए दुःख के अन्त हेतु पाप का निराकरण होना चाहिए जिसके लिये आज से ही प्रयत्न करना आवश्यक है। दुःख के आने तक हम आलस्य-पूर्वक सोते रहे और आने पर व्याकुल हों तो बड़ी मूर्खता होगी। जो भविष्य में दुःख-निरोध का उपाय आज करते हैं, उन्हें विद्वान् कहते हैं।

नातः परा वञ्चनास्ति न च मोहोऽस्त्यतः परः।
यदीदृशं क्षणं प्राप्य नाभ्यस्तम् कुशलम् मया॥ २३॥

इस प्रकार का सुविधापूर्ण मनुष्य जन्म पाकर पुण्य कर्म न करना बहुत बड़ी मूर्खता तथा आत्म वंचना होगी।

यदि चैवं विमृष्यामि पुनः सीदामि मोहितः।
शोचिष्यामि चिरं भूयो यमदूतैः प्रचोदितः॥ २४॥

यह सब जानते हुए भी यदि हम मोहवश आलस्य में बैठे रहें तो मृत्यु के समय पछताना पड़ेगा।

चिरं धक्ष्यति में कायम् नरकाग्निः सुदुःसहः।
पश्चात्तापानलश्चित्तम् चिरम् धक्ष्यत्यशिक्षितम्॥ २५॥

यही नहीं, मरने के बाद भी दुर्गति में पतित होकर चिर काल तक हमें दुःख और पश्चात्ताप होगा।

कथं चिदपि संप्राप्तो हितभूमिं सुदुर्लभाम्।
जानन्नपि च नीयेऽहं तानेव नरकान् पुनः॥ २६॥

अत्र मे चेतना नास्ति मन्त्रैरिव विमोहितः।
न जाने केन मुह्यामि कोऽत्रान्तर्मम तिष्ठति॥ २७॥

धर्म-अभ्यास में स्वतन्त्र एक दुर्लभ जन्म पाकर, पाप-पुण्य की बात जानते हुए भी पुण्य संचय नहीं करते, यह कैसा मोह है? क्या मैं मन्त्रमो-

हित हूँ या ऐसी कौनसी चीज मेरे अन्दर उपस्थित है जो मैं नहीं पहचान पा रहा हूँ। इस प्रकार परीक्षण करने पर हम यह जान सकते हैं कि हम धर्म-अभ्यास के इच्छुक होने पर भी जो शक्तिशाली क्लेश दोष हमारे मन में है वह पुण्य कर्म में बाधा डालता है, हम उसके दास हैं। अतः यह जानना चाहिए कि क्लेश सब दुःखों की जड़ है। इसकी सही पहचान होनी चाहिये।

हस्तपादादिरहितास्तृष्णाद्वेषादिशत्रवः।
न शूरा न च ते प्राज्ञाः कथं दासीकृतोऽस्मि तैः ॥२८॥

तृष्णा, द्वेष, आदि शत्रुओं के पास पकड़ने के हाथ, पीछा करने को पैर, मारने को हथियार जैसे कुछ नहीं है, न वे बलवान् या वीर हैं, और न ही बुद्धिमान् हैं, फिर भी कैसे वे हमें अपना दास बनाकर पाप करने के लिए विवश करते हैं?

मच्चित्तावस्थिता एव घ्नन्ति मामेव सुस्थिताः।
तत्राप्यहं न कुप्यामि धिगस्थानसहिष्णुताम् ॥ २९ ॥

यह क्लेश हमारे मन में घर बनाकर बैठा है और जब तक हम इसकी निवृति के उपाय नहीं कर सकते वह अपनी इच्छा अनुसार कार्य करता रहेगा जो हमारे लिए हानिकारक होगा। अतः यह अनवसर सहिष्णुता है। दैनिक अनुभव से स्पष्ट है कि यह क्लेश धोखा देने में कितना निपुण है। जब काम उत्पन्न होता है, तो एक घनिष्ट मित्र जैसा लगता है, और हम से कहने लगता है कि इतना तुम्हारे लिए पर्याप्त नहीं, तुम्हें यह चाहिए, वह भी चाहिए। हम जब उसकी सलाह मानकर अनेक चित्त की प्रवृति से अपने लाभ के लिए प्रयत्न करते हैं, तो अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ आती हैं भला-बुरा सुनना पड़ता है जिससे क्रोध आदि और भी क्लेश उत्पन्न

होते हैं। अतः यह 'काम' कागज पर तेल ड़ालने के समान है जो फैलता जाता है।

और जब क्रोध उत्पन्न होता है तो ऐसा लगता है कि वह हमारे रक्षक का काम कर रहा है, दूसरों की हानि से बचाने के लिए उनका विरोध करता है, ऐसा प्रतीत होता है। परन्तु वास्तव में क्रोध हमारी शान्ति भंग करता है, और पाप कर्म करने के लिए हमें विवश करता है। राग-द्वेष के व्यवहार और काम काज भी वैसे ही हैं, तो यह क्लेश मुख्य तथा वास्तविक शत्रु है। इसलिए उसके प्रति यह अनवसर क्षान्ति है।

सर्वे देवा मनुष्याश्च यदि स्युर्मम शत्रवः।
तेऽपि नावीचिकम् वह्निं स ुदानयितुम् क्षमाः॥ ३० ॥

इस प्रकार क्लेश को शत्रु समझने का कारण यह है कि यदि सम्पूर्ण त्रिलोक के देवता, दानव[1] आदि सभी प्राणि हमारे शत्रु बन जायँ तो भी वे हमे अवीचि-नरक की आग में नहीं फेंक सकते, मात्र इस शरीर को नष्ट कर सकते हैं, मार सकते हैं।

मेरोरपि यदासंगान्न भस्माप्युपलभ्यते।
क्षणात् क्षिपन्ति मां तत्र बलिनः क्लेशशत्रवः॥ ३१ ॥

इसके विपरीत राग, द्वेष जैसे क्लेश शत्रु हम को एक क्षण में उस नरक की आग में फेंक सकते हैं जहाँ सुमेरु जैसे महान् पर्वत भी भस्म हो सकते हैं।

---

1. भोट में 'दानव' तथा संस्कृत में 'मनुष्य' पाठ है।

न हि सर्वान्यशत्रूणां दीर्घमायुरपीदृशम् ।
अनाद्यन्तं महादीर्घं यन्मम क्लेशवैरिणाम् ॥ ३२ ॥

समय के दृष्ठिकोण से भी बाहरी और आन्तरिक शत्रुओं में बहुत बड़ा अन्तर है,—यह क्लेश-शत्रु अनादि काल के लिए अपना शत्रु बनकर हानि पहुँचाता है और अनन्त काल तक रह सकता है, कभी परिवर्तन नहीं होता, परन्तु बाहरी शत्रु ज्यादा से ज्यादा एक जीवन काल के लिए, और उससे यदि अधिक रहा तो दो-तीन जन्मों के लिए शत्रुता रख सकता है।

सर्वे हिताय कल्पन्त आनुकूल्येन सेविताः ।
सेव्यमानास्त्वमी क्लेशाः सुतरां दुःखकारकाः ॥ ३३ ॥

साधारण-शत्रु के साथ मैत्री संबन्ध जोड़ने का उपाय करने से समय पर मित्र में परिवर्तित होना संभव है परन्तु इस आन्तरिक क्लेश-शत्रु के साथ जितनी घनिष्ट मैत्री रहेगी उतनी ही ज्यादा हानि पहुँचायेगी। छोटे तौर पर अध्यापक और विद्यार्थी के बीच, घर-परिवार के बीच तथा माता-पिता और सन्तान के बीच के झगड़े हैं। उस से बढ़कर दो शहरों के आपस के झगड़े से उत्पन्न अशान्ति और उस से बढ़कर एक देश से दूसरे देश पर आक्रमण या दमन जैसे सभी कलहों का मूल राग तथा द्वेष है। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि संसार में दुःख, अशान्ति और शत्रुता जैसे दोषों का मूल कारण यह क्लेश है जो हमारे मन को दूषित करता है। यह क्लेश 'उत्पत्तिक्रम' की तरह किसी के चित्त पर अभ्यास द्वारा अंकित नहीं है, परन्तु हम सभी के, आप लोग इधर मुँह करके सुनने वाले तथा मैं उधर मुँह करके उपदेश देने वाले के चित्त पर विद्यमान है। इसलिए मेरी यह कोशिश है कि इस वास्तविक शत्रु को पहचान कर इस का विनाश करूँ और आप लोगों को भी यथासंभव इस शत्रु के विनाश का प्रयत्न करना चाहिए। जो

ऐसा करता है वह वास्तव में एक धार्मिक व्यक्ति है। धर्म-अभ्यास करने का यह लक्षण है, अन्यथा इसे धर्म-अभ्यास नहीं कहा जायेगा। कोई प्रतिदिन घंटा दो घंटा भगवान् की स्तुति, भजन या मंत्र जाप करता है, परन्तु इस क्लेश-शत्रु को पहचान कर इसका विरोध नहीं करता तो उसे धर्म-अभ्यास करने वाला नहीं कहा जायेगा।

इति संततदीर्घवैरिषु व्यसनौघप्रसवैकहेतुषु।
हृदये निवसत्सु निर्भयं मम संसाररतिः कथं भवेत् ॥ ३४ ॥

इस प्रकार यह क्लेश-शत्रु चिर काल से निरन्तर हमारे हृदय में घर कर बैठा है। कैसे हम निश्चिन्त जीवन व्यतीत कर सकते हैं, हमें इसके विनाश का उपाय ढूँढना ही चाहिए।

भवचारकपालका इमे नरकादिष्वपि बध्यघातकाः।
मतिवेश्मनि लोभपंजरे यदि तिष्ठन्ति कुतः सुखं मम॥ ३५ ॥

यह क्लेश हमें सांसारिक कारागार में बन्द रखता है, अतः यह जब कारागार के पहरेदार और नरक के बध्यघातक की तरह क्लेश मन में विद्यमान है तो हम कदापि सुखी नहीं हो सकते।

तस्मान्न तावदहमत्र धुरं क्षिपामि
यावन्न शत्रव इमे निहताः समक्षम्।
स्वल्पेऽपि तावदपकारिणि बद्धरोषा
मानोन्नतास्तमनिहत्य न यान्ति निद्राम् ॥ ३६ ॥

कोई छोटी सी हानि, जैसे सोते समय मच्छर का काटना, जब तक हम भगा नहीं देते हमें नींद नहीं आती, उसी प्रकार ऐसे एक शक्तिशाली क्लेश-शत्रु के हमारे अन्दर विद्यमान होते हुए सुख चैन से हम रह नहीं सकते। अतः इस शत्रु का अन्त होने तक प्रयत्न करना चाहिए।

प्रकृतिमरणदुःखितान्धकारान् रणशिरसि प्रसभं निहन्तुमुग्राः ।
अगणितशरशक्तिघातदुःखा न विनुखतामुपयान्त्यसाधयित्वा ।। ३७ ।।

किमुत सततसर्वदुःखहेतून् प्रकृतिरिपूनुपहन्तुमुद्यतस्य ।
भवति मम विषाददैन्यमद्य व्यसनशतैरपि केन हेतुना वै ।। ३८ ।।

जैसे समय पर अपने आप मर जाने वाले अन्य शत्रुओं पर विजय पाने के लिए कोई योद्धा युद्ध में होने वाले वाणों तथा भालों की चोटों को झेलते हुए आगे बढ़ता है, कभी पीछे मुँह नहीं मोड़ता, वैसे ही सदा दुःख-पीड़ा देने वाले इस प्राकृतिक शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिए यत्न करते समय भूख-प्यास आदि सैकड़ों कठिनाइयों के कारण निराश तथा आलसी नहीं होना चाहिए ।

अकारणेनैव रिपुक्षतानि गात्रेष्वलंकारवदुद्वहन्ति ।
महार्थसिद्धयै तु समुद्यतस्य दुःखानि कस्मान्मम बाधकानि ।। ३९ ।।

अगर हम साधारण शत्रु द्वारा किये गये घावों या चोटों के निशानों को अपने शरीर के आभूषण की तरह प्रदर्शित करते हैं तो इस मानसिक शत्रु को नष्ट कर मोक्ष एवं सर्वज्ञाता प्राप्त करने जैसे महार्थ सिद्धि के लिए प्रयत्न करते समय आने वाली कठिनाइयों को अपना आभूषण समझना चाहिए, वीरता का प्रतीक मानना चाहिए।

स्वजीविकामात्रनिबद्धचित्ताः कैवर्तचण्डालकृषीवलाद्याः ।
शीतातपादिव्यसनं सहन्ते जगद्धितार्थं न कथं सहेऽहम् ।। ४० ।।

अगर केवल अपनी साधारण जीविका के लिए मछुए, चंडाल तथा किसान आदि सर्दी-गरमी धूप-हवा जैसे दुःख सहते हैं तो प्राणिमात्र के सुख-कल्याण के लिए दुःखों का सहन करना सार्थक है ।

दशदिग्व्योमपर्यन्तजगत्क्लेशविमोक्षणे ।
प्रतिज्ञाय मदात्मापि न क्लेशेभ्यो विमोचितः ॥ ४१ ॥

आत्मप्रमाणमज्ञात्वा ब्रुवन्नुन्मत्तकस्तदा ।
अनिवर्ती भविष्यामि तस्मात् क्लेशवधे सदा ॥ ४२ ॥

जब हम बोधिचित्त उत्पन्न करके यह प्रतिज्ञा करते हैं कि हर एक प्राणी को (अपने) क्लेश से मुक्त करके उसका कल्याण करेंगे, परन्तु इसके लिए सर्वप्रथम अपने मानसिक क्लेश का निराकरण करना आवश्यक है, क्योंकि अपने क्लेशों पर नियन्त्रण के विना परकल्याण की ऐसी बातें करना पागलपन होगा। अतः अपने क्लेशों के निराकरण का दृढ़ संकल्प के साथ प्रयत्न करना चाहिए।

अत्र ग्रही भविष्यामि बद्धवैरश्च विग्रही।
अन्यत्र तद्विधात्क्लेशात् क्लेशघातानुबन्धिनः ॥ ४३ ॥

क्लेशों के प्रतिपक्ष को दृढ़तापूर्वक अपनाकर और इस शत्रु के प्रति विरोध करके लड़ना है, क्लेश से इस प्रकार द्वेष तथा शत्रुता करना उचित हैं, इसमें कोई दोष नहीं।

गलन्त्वन्त्राणि मे कामं शिरः पततु नाम मे।
नत्वेवावनतिं यामि सर्वथा क्लेशवैरिणाम् ॥ ४४ ॥

'इस क्लेश-शत्रु के साथ लड़ते-लड़ते मेरा शरीर जल जाये, चाहे सिर कट जाये, परन्तु क्लेश-शत्रु के आगे कदापि आत्मसमर्पण नहीं करूँगा' ऐसा विचार होना चाहिए।

इस तरह हर समय अपने चित्त की परीक्षा करके जब कभी राग-द्वेष उत्पन्न हों तो तत्काल उनका सामना करना चाहिए। ऐसे अभ्यास से आदि-कार्मिकों के लिए तुरन्त क्लेशों को समाप्त कर पाना कठिन है, परन्तु

निरंतर अभ्यास से राग-द्वेष आदि क्रमशः कम होते जायेंगे और समय पर समाप्त भी होंगे। अगर यह प्रश्न पूछें कि क्लेशों का प्रतिपक्ष द्वारा कैसे सामना करना चाहिए ?, काम या राग के प्रतिपक्ष में अप्रियता, द्वेष के प्रतिपक्ष में मैत्री, मोह के प्रतिपक्ष में प्रतीत्यसमुत्पाद के अर्थ का मनन करना चाहिए–ऐसा कहा जाता है। सभी क्लेशों की जड़ मोहवश-सत्य-धारणा है और नैरात्म्य ज्ञान-प्रज्ञा इस का प्रतिपक्ष है। दूसरे शब्दों में क्लेश एक मिथ्या धारणा है, इसे प्रमाण का सहारा नहीं है। दूसरी ओर इसके प्रतिपक्ष को प्रमाण का सहारा प्राप्त है, और यह भी स्पष्ट है कि परस्पर विरुद्ध दो धारणाएँ एक ही समय एक साथ किसी लक्ष्य वस्तु में नहीं हो सकती। अतः एक धारणा जितनी बढ़ेगी दूसरी उतनी ही घटेगी, इन दोनों के उतार-चढ़ाव समानुपाती हैं तो प्रमाणिक प्रतिपक्ष के अभ्यास से क्लेश को समाप्त किया जा सकता है।

परमार्थसत्य की दृष्टि से हमारे चित्त की वास्तविक स्वभाव शून्य है और संवृतिसत्य की दृष्टि से भी यह चित्त स्वभाव से शुद्ध है, इसलिए "चित्त का वास्तविक स्वभाव प्रभास्वर है" ऐसा कहा गया है[1]। स्वभाव से मन शुद्ध एवं निर्दोष है और राग-द्वेष आदि क्लेश चित्त के आकस्मिक दोष हैं। अतः इन दोषों की निवृति संभव है। इससे यह ज्ञात होता है कि समुदय के अन्त से निरोध-सत्य प्राप्त होना संभव है। अतः हमें यथासंभव क्लेश-दोषों को समाप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। अगर आप लोग सच्चेमाने

---

1. चित्तस्य यासो प्रकृतिः प्रभास्वर
न जातु सा द्यौरिव याति विक्रियाम।
आगन्तुके रागमलादिभिस्त्वसा
वुपैति संक्लेशमभूतकल्पजैः॥
॥ उत्तरतन्त्र ११६३ ॥

में बोधिचर्यावतार की शिक्षा में विश्वास करते हैं तो आज यहाँ इसका उपदेश सुनने के बाद भविष्य में लड़ाई-झगड़ा, ईर्ष्या-द्वेष आदि में निरन्तर कमी होनी चाहिए। हम खाना एक तो भूख मिटाने के लिए, दूसरे शरीर को पुष्ट बनाने के लिए खाते हैं। यदि किसी भोजन के द्वारा कभी पेट नहीं भरता तो वह खाना बेकार है। इसी प्रकार धर्मोपदेश लेने का प्रयोजन मन को उदार या शुद्ध करना है और यदि ऐसा कोई लाभ नहीं होता तो निरर्थक है, इसे छोड़ देना अच्छा है। धर्मोपदेश तथा अभ्यास का मूल-लक्ष्य हमारे मानसिक दोषों को कम करना और एक अच्छा-भला मनुष्य बनना है। क्लेश का जब एक बार निराकरण कर देंगे तो वह फिर अपना सिर नहीं उठा सकेगा। यह बात अगले श्लोक में आता है।—

निर्वासितस्यापि हि नाम शत्रोर्देशान्तरे स्थानपरिग्रहः स्यात्।
यतः पुनः संभृतशक्तिरेति न क्लेशशत्रोर्गतिरीदृशी हि ॥ ४५ ॥

साधारण शत्रु एक बार निर्वासित कर दिये जाने पर भी किसी दूसरे देश या प्रदेश में अपनी शक्ति बटोर कर फिर से आक्रमण कर सकता है, परन्तु यह क्लेश शत्रु एक बार चित्त से निर्वासित कर दिये जाने पर फिर कभी आ नहीं सकता। यह इसकी विशेषता है।

क्वासौ यायान्मन्मनस्तो निरस्तः स्थित्वा यस्मिन् मद्वधार्थं यतेत।
नोद्योगो मे केवलं मन्दबुद्धेः क्लेशाः प्रज्ञादृष्टिसाध्या वराकाः ॥ ४६ ॥

बेचारा यह क्लेश तो प्रज्ञान-चक्षु से नष्ट हो जाता है। अनुशया-क्लेश भी एक बार हटा देने से फिर उत्पन्न होने की क्षमता नहीं रखता, परन्तु आज तक इसका हमारे भीतर सक्रिय होने का मुख्य कारण अपने उद्योग की कमी है।

न क्लेशा विषयेषु नेन्द्रियगणे नाप्यन्तराले स्थिता
नातोऽन्यत्र कुह स्थिता पुनरमी मथ्नन्ति कृत्स्नं जगत् ।
मायैवेयमतो विमुञ्च हृदय त्रासं भजस्वोद्यमं
प्रज्ञार्थं किमकाण्ड एव नरकेष्वात्मानमाबाधसे ॥ ४७ ॥

यदि क्लेश स्वभाव से सिद्ध है, तो उसकी खोज करने पर कहीं न कहीं उसे मिलना चाहिए, पर नहीं मिलता। न तो आँख आदि इन्द्रियों में मिलता है, न रूप जैसे विषयों में मिलता है और न ही इनके बीच में कहीं मिलता है। इन्द्रियों एवं विषयों से पृथक् अन्यत्र भी नहीं मिलता, और वास्तव में न होते हुए भी यह कहीं रहकर प्राणियों को हानि पहुँचाता है, हमें अपने वश में करके नरक आदि दुःख झेलने को विवश करता है। अतः हमें इस निःस्वभाव क्लेश के अन्त हेतु प्रज्ञा उत्पन्न करने का प्रयत्न करना चाहिए।

एवं विनिश्चित्य करोमि यत्नं यथोक्तशिक्षाप्रतिपत्तिहेतोः।
वैद्योपदेशाच्चलतः कुतोऽस्ति भैषज्यसाध्यस्य निरामयत्वम् ॥ ४८ ॥

संक्षेप में ऊपर दी गई शिक्षाओं पर अभ्यास करने का यत्न होना चाहिए जिससे संसार से मुक्त हो सके। जैसे वैद्य का कहना न मानकर केवल ओषधि से रोगी निरोग नहीं हो सकते, वैसे ही धार्मिक शिक्षाओं के अभ्यास द्वारा ही क्लेश से मुक्त हो सकते हैं, न कि मात्र धर्म के ज्ञान से।

॥ बोधिचित्ताप्रमाद नामक चतुर्थ परिच्छेद समाप्त ॥

पञ्चम परिच्छेद

संप्रजन्यरक्षण

अब यहाँ संप्रजन्य-रक्षण का परिच्छेद आता है। धर्म के उचित अभ्यास के लिए मन को अपने वश में करके हर एक मनःस्थिति की पहचान करना आवश्यक है। इसके साथ-साथ और भी अनेक बातें हैं—सर्वप्रथम धर्म-अभ्यास की महत्वपूर्ण बातों की स्मृति होनी चाहिए, दूसरी बात दैनिक आचरण के प्रति सचेत होकर इस समय मेरी यह मनोदशा है, अब मैं यह करने जा रहा हूँ, मेरा मन यह कर रहा है, मेरी वाणी यह कह रही है, ऐसे चेतन परीक्षण के साथ उचित अनुचित, धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य आदि की विवेचना करने वाला संप्रजन्य होना चाहिए। इसके पश्चात् एक ओर शील-शुद्धि के यत्न और विभिन्न मार्गो का ज्ञान होना चाहिए। अतः यहाँ पर संप्रजन्य-रक्षण का परिच्छेद आता है।

शिक्षां रक्षितुकामेन चित्तं रक्ष्यं प्रयत्नतः।
न शिक्षा रक्षितुम् शक्या चलं चित्तमरक्षता ॥ १ ॥

बोधिसत्त्वों के आचरणों के उचित पालन या अभ्यास के लिए सदा इस चित्त की अनुचित विषयों पर भटकने से रक्षा करनी चाहिए, अन्यथा बोधि-सत्त्व की शिक्षाओं को नहीं अपना सकते।

अदान्ता मत्तमातङ्गा न कुर्वन्तीह तां व्यथाम्।
करोति यामवीच्यादौ मुक्तश्चित्तमतङ्गजः ॥ २ ॥

यदि हम इस चित्त को वश में नहीं रखते, तो मत्त-हाथी के समान मन का भ्रमण पाप से अवीचि-नरक सदृश जितना दुःख दे सकता है उतनी हानि

कोई साधारण बिगड़ा हाथी नहीं कर सकता। अतः इस चित्त की रक्षा आवश्यक है।

बद्धश्चेच्चित्तमातङ्गः स्मृतिरज्ज्वा समन्ततः।
भयमस्तंगतं सर्वं कृत्स्नं कल्याणमागतम् ॥ ३ ॥

इसके विपरीत—इस उन्मत्त हाथी की तरह मन को वश में बंध कर रखने से समस्त भय दूर होगा और अभ्युदय तथा मोक्ष जैसे सुख-कल्याण अनायास प्राप्त होंगे।

चित्त को वश में रखकर कर्म-फल की व्यवस्था के उचित आचरण से अभ्युदय, त्रिशिक्षा के अभ्यास से मोक्ष तथा छह पारमिताओं के अभ्यास से सर्वज्ञता तक प्राप्त हो सकती है।

व्याघ्राः सिंहा गजा ऋक्षाः सर्पाः सर्वे च शत्रवः।
सर्वे नरकपालाश्च डाकिन्यो राक्षसास्तथा ॥ ४ ॥
सर्वे बद्धा भवन्त्येते चित्तस्यैकस्य बन्धनात्।
चित्तस्यैकस्य दमनात् सर्वे दान्ता भवन्ति हि ॥ ५ ॥

एक इस चित्त को बंधने से, बाघ, सिंह, हाथी, रीछ, सांप, शत्रु-समूह, यहाँ तक कि नरकपाल, डाकिनी और राक्षस आदि सभी बाहरी खतरा अपने आप बँध जायँगे। और मात्र एक इस चित्त के दमन से सब का दमन होगा।

यस्माद् भयानि सर्वाणि दुःखान्यप्रमितानि च।
चित्तादेव भवन्तीति कथितं तत्त्ववादिना ॥ ६ ॥

क्योंकि तथागत बुद्ध ने भी यही कहा है कि सभी बाहरी भय तथा हर प्रकार के दुःख चित्त से ही होते हैं। परन्तु यहाँ इसका यह अर्थ नहीं है कि

चित्त से भिन्न कोई धर्म (वस्तु) नहीं है या चित्त के स्वभाव से पृथक् कोई बाह्य धर्म नहीं है। चित्त से भिन्न बाह्य धर्म होने पर भी चित्त की अवस्था के अनुसार बाहरी पदार्थों से हमारे ऊपर सुख-दुःख का प्रभाव पड़ता है। अतः मूल कारण चित्त है, ऐसा इस का अर्थ है।

शस्त्राणि केन नरके घटितानि प्रयत्नतः।
तप्तायःकुट्टिमं केन कुतो जाताश्च ताः स्त्रियः ॥ ७ ॥
पापचित्तसमुद्भूतं तत्तत्सर्वं जगौ मुनिः।
तस्मान्न कश्चित् त्रैलोक्ये चित्तादन्यो भयानकः ॥ ८ ॥

नरक के शस्त्र, तपकर जलते हुए लोहे की फर्श, शाल्मली-वृक्ष के ऊपर के स्त्रीसमूह आदि को दुःखदायक किसी ने नहीं बनाया परन्तु ये सब अपने अशुद्ध पापी मन के कारण उत्पन्न हुए हैं ऐसा भगवान् तथागत ने कहा है। अतः त्रिलोक में इस अदान्त चित्त के कारण होने वाले भय से ज्यादा और कोई भय नहीं है।

अदरिद्रं जगत्कृत्वा दानपारमिता यदि।
जगद्दरिद्रमद्यापि सा कथं पूर्वतायिनाम् ॥ ९ ॥
फलेन सह सर्वस्वत्यागचित्ताज्जनेऽखिले।
दानपारमिता प्रोक्ता तस्मात् सा चित्तमेव तु ॥ १० ॥

यदि दानपारमिता का अर्थ प्राणिमात्र के भूख-प्यास की समाप्ति होता तो अतीत बुद्धों ने कैसे दानपारमिता का सफल अभ्यास किया, जब कि आज भी संसार में असंख्य दरिद्र तथा भूख-प्यास से पीड़ित हैं। अतः दानपारमिता का सही अर्थ यह है कि अपनी सभी वस्तु से लेकर शरीर तक सहर्ष दान करके उस कार्य के पुण्य भी हर एक प्राणी के सुख-शान्ति के लिए अर्पित कर दें। अतः यहाँ दानपारमिता में भी चित्त ही मूल कारण है।

मत्स्यादयः क्व नीयन्तां मारयेयं यतो न तान् ।
लब्धे विरतिचित्ते तु शीलपारमिता मता ॥ ११ ॥

और यह भी बात है कि शीलपारमिता के अभ्यास हेतु यह आवश्यक नहीं है कि केवल मछली आदि हर एक प्राणी की हिन्सा से विरत रहें, अपितु अपनी ओर से दूसरों के अपकार के मूलकारण सहित परित्याग करने की इच्छा ही शीलपारमिता का अभ्यास है जो कि मूलतः चित्त की प्रक्रिया है ।

कियतो मारयिष्यामि दुर्जनान् गगनोपमान् ।
मारिते क्रोधचित्ते तु मारिताः सर्वशत्रवः ॥ १२ ॥

इसी प्रकार क्षान्तिपारमिता के अभ्यास हेतु असंख्य दुष्ट प्राणियों का अन्त होना असंभव है, परन्तु एक इस क्रोधी चित्त के वश में हो जाने से समस्त शत्रु-समूह का अन्त होने जैसा है । यथा—

भूमिं छादयितुम् सर्वां कुतश्चर्म भविष्यति ।
उपानच्चर्ममात्रेण छन्ना भवति मेदिनी ॥ १३ ॥
बाह्या भावा मया तद्वच्छक्या वारयितुं न हि ।
स्वचित्तं वारयिष्यामि किं ममान्यैर्निवारितैः ॥ १४ ॥

काँटों से रक्षा के लिए सम्पूर्ण पृथ्वी को चमड़े से ढकने का यत्न करना असंभव है परन्तु मात्र दो पैर के नीचे चमड़ा चिपका दें तो सारी धरती ढकने के बराबर होगा । वैसे ही जगत् की सभी वस्तुओं को नहीं रोका जा सकता, परन्तु केवल इस चित्त को विषयों पर भ्रमण से रोक लें तो सभी बाहरी पदार्थों का प्रभाव अपने आप रुक जायेगा । चित्त शान्त होने से यह भव-जगत् मित्र रूप दिखाई देगा और चित्त अशान्त होने पर सारा जगत

शत्रु रूप धारण करेगा, परन्तु स्वभाव से यह भव-जगत् न तो शत्रु है और न ही इसे मित्र में परिवर्तित करने की आवश्यकता है।

सहापि वाक्छरीराभ्यां मन्दवृत्तेर्न तत्फलम्।
यत्पाटोरेककस्यापि चित्तस्थ ब्रह्मतादिक ॥ १५ ॥

समापत्ति जैसा एक ही गुण तीक्ष्ण तथा शुद्ध मन के साथ होने पर ब्रह्म-लोक में जन्म दिला सकता है, परन्तु मनः शक्ति के विना काय या वाक् के प्रयत्न से वैसे फल प्राप्त नहीं हो सकते। अतः वीर्यपारमिता भी चित्त पर निर्भर करती है।

जपास्तपांसि सर्वाणि दीर्घकालकृतान्यपि।
अन्यचित्तेन मन्देन वृथैवेत्याह सर्ववित् ॥ १६ ॥

सर्ववित् बुद्ध ने यह भी कहा है कि अन्यमनस्कता से मन्त्र जप तथा तपस्या बहुत लम्बे समय तक करें तो भी व्यर्थ है। अतः समाधिपारमिता के अभ्यास में भी चित्त अपना प्रमुख स्थान रखता है।

दुःखं हन्तुं सुखं प्राप्तुं ते भ्रमन्ति मुधाम्बरे।
यैरेतद्धर्मसर्वस्वं चित्तं गुह्यं न भावितम् ॥ १७ ॥

प्रज्ञापारमिता के लिए यह चित्त महत्वपूर्ण है। प्रज्ञा के साधक भी जब तक चित्त के इस रहस्यमय स्वभाव को जान नहीं लेते, दुःख नाश करने और सुख प्राप्त करने की इच्छा से संसार में भटकते रहेंगे।

तस्मात् स्वधिष्ठितं चित्तं मया कार्यं सुरक्षितम्।
चित्तरक्षाव्रतं मुक्त्वा बहुभिः किं मम व्रतैः ॥ १८ ॥

उपर्युक्त कारणों से यह स्पष्ट है कि अपने चित्त को स्मृति से धारण कर सावधानी से रक्षा करनी चाहिए क्योंकि यह चित्त संसार तथा मोक्ष सभी की जड़ है। चित्त के व्रत अनेक तपस्याओं से ज्यादा लाभदायक हैं।

यथा चपलमध्यस्थो रक्षति व्रणमादरात्।
एवं दुर्जनमध्यस्थो रक्षेच्चित्तव्रणं सदा ॥ १९ ॥

जिस प्रकार असभ्य एवं चपल लोगों के बीच में रहने वाला व्यक्ति घाव से अपनी रक्षा करने हेतु सावधान रहता है, उसी तरह दुर्जनों के बीच रहते हुए अपने चित्त की सदा रक्षा करनी चाहिए।

व्रणदुःखलवाद् भीतो रक्षामि व्रणमादरात्।
संघातपर्वताघाताद् भीतश्चित्तव्रणं न किम् ॥ २० ॥

साधारण सूजन की पीड़ा के भय से जब इतनी सावधानी रखते हैं तो नरक में संघात-पर्वतों के बीच चूर्ण होने जैसे असहनीय दुःख-दर्द देने वाले चित्त रूपी घाव की रक्षा करना आवश्यक है।

अनेन हि विहारेण विहरन् दुर्जनेष्वपि।
प्रमदाजनमध्येऽपि यतिर्धीरो न खण्ड्यते ॥ २१ ॥

यदि ऐसा आचरण हो तो चाहे हम दुर्जनों के बीच रहें या आसक्त स्त्री समूह में रहें कभी अपने संवर तथा व्रत से च्युत नहीं हो सकते।

लाभा नश्यन्तु मे कामं सत्कारः कायजीवितम्।
नश्यत्वन्यच्च कुशलं मा तु चित्तं कदाचन ॥ २२ ॥

चित्त को वश में रखने के प्रयत्न में लाभ, सत्कार शरीर तथा जीविका सब कुछ भले ही नष्ट हो जायें और अन्य पुण्य कर्म भी नष्ट हो जायें, पर यह चित्त दूषित न हो।

चित्तं रक्षितुकामानां मयैष क्रियतेऽञ्जलिः।
स्मृतिं च संप्रजन्यं च सर्वयत्नेन रक्षत ॥ २३ ॥

जो कोई चित्त की रक्षा चाहता है उससे आचार्य शान्तिदेव हाथ जोड़कर यह प्रार्थना करते हैं कि स्मृति तथा चेतना की हर संभव रक्षा करें।

व्याध्याकुलो नरो यद्वन्न क्षमः सर्वकर्मसु।
तथाभ्यां व्याकुलं चित्तं न क्षमं सर्वकर्मसु॥ २४॥

जिस प्रकार रोग से पीड़ित व्यक्ति सफलतापूर्वक काम करने के योग्य नहीं होता उसी प्रकार स्मृति तथा संप्रजन्य से रहित अविद्या वाला चित्त किसी पुण्य कर्म के योग्य नहीं है।

असंप्रजन्यचित्तस्य श्रुतचिन्तितभावितम्।
सच्छिद्रकुम्भजलवन्न स्मृताववतिष्ठते॥ २५॥

जैसे फूटे घड़े में पानी नहीं समा सकता वैसे ही संप्रजन्य रहित चंचल चित्त वाले पुरूष के मन में श्रवण, मनन और ध्यान की प्रज्ञा टिक नहीं सकती।

अनेके श्रुतवन्तोऽपि श्राद्धा यत्नपरा अपि।
असंप्रजन्यदोषेण भवन्त्यापत्तिकश्मलाः॥ २६॥

मात्र असंप्रजन्य अर्थात् चेतना खोने के दोष के कारण अनेक बहुश्रुत, श्रद्धालु और प्रयत्नशील लोग भी आपत्ति से कलुषित हो जाते हैं।

असंप्रजन्यचौरेण स्मृतिमोषानुसारिणा।
उपचित्यापि पुण्यानि मुषिता यान्ति दुर्गतिम्॥ २७॥

स्मृति तथा संप्रजन्य की उचित रक्षा न होने पर असंप्रजन्य–रूपी चोर तथा डाकू अनन्त काल संचित पुण्य कर्म के धन चुरा ले जाते हैं, जैसे कि

एक क्षण मात्र के क्रोध से सभी पुण्य नष्ट हो जाते हैं, अतः असंप्रजन्य वाले पुरुष पुण्य संचय करके भी दुर्गति पाते हैं।

क्लेशतस्करसंघोऽयमवतारगवेषकः ।
प्राप्यावतारं मुष्णाति हन्ति सद्गतिजीवितम् ।। २८ ।।

चोर-डाकू की तरह यह असंप्रजन्य क्लेश न केवल अवसर पाकर पुण्य कर्मों को नष्ट करता है अपितु जन्म-जन्मान्तर में सुगति प्राप्त होने का सुअवसर भी नष्ट कर देता है।

तस्मात् स्मृतिर्मनोद्वारान्नापनेया कदाचन ।
गतापि प्रत्युपस्थाप्या संस्मृत्यापायिकीं व्यथाम् ।। २९ ।।

जब असंप्रजन्यवश चित्त के भ्रमित होने से इतना बड़ा खतरा है तो इस स्मृति को चित्त के द्वार के बाहर कभी न जाने दें, यदि कारणवश कभी यह बाहर भटक भी जाता है तो तुरन्त नरक जैसी दुर्गति की दुःख-पीड़ा का स्मरण कर वहीं उसे रोक देना चाहिए।

उपाध्यायानुशासिन्या भीत्याप्यादरकारिणाम् ।
धन्यानां गुरुसंवासात् सुकरं जायते स्मृतिः ।। ३० ।।

स्मृति तथा संप्रजन्य के उत्पाद के अनेक कारण हैं, जैसे गुरुजनों का सत्संग, उपाध्याय का अनुशासन, भय तथा अपनी शिक्षा के प्रति श्रद्धा से सरलता से स्मृति उत्पन्न होती है।

बुद्धाश्च बोधिसत्त्वाश्च सर्वत्राव्याहतेक्षणाः ।
सर्वमेवाग्रतस्तेषां तेषामस्मि पुरः स्थितः ।। ३१ ।।
इति ध्यात्वा तथा तिष्ठेत् त्रपादरभयान्वितः ।
बुद्धानुस्मृतिरप्येवं भवेत्तस्य मुहुर्मुहुः ।। ३२ ।।

इसके अन्य उपाय हैं कि दिव्य या ज्ञान के चक्षु वाले बुद्धों तथा बोधिसत्त्वों की दृष्टि सर्वत्र है अतः हम उनके सामने बैठे हैं ऐसा विचार होने पर श्रद्धा, लज्जा तथा भय हमेशा रह सकते हैं और बारंबार बुद्धानुस्मृति भी हो सकती है।

संप्रजन्यं तदायाति न च यात्यागतं पुनः।
स्मृतिर्यदा मनोद्वारे रक्षार्थमवतिष्ठते ॥ ३३ ॥

चित्त के द्वार पर जब स्मृति रक्षा के लिए रहती है, संप्रजन्य रहता है तब कभी भटक जाने पर भी फिर तुरन्त वापिस लौट आता है।

पूर्वं तावदिदं चित्तं सदोपस्थाप्यमीदृशम्।
निरिन्द्रियेणेव मया स्थातव्यं काष्ठवत् सदा ॥ ३४ ॥

(अब संप्रजन्य अनुसरण की विधि बताते हैं) :—सर्व प्रथम किसी कार्य के शुरू करने से पूर्व यह परीक्षण करना चाहिए कि कोई कार्य उचित है अथवा नहीं। यदि वह कोई अनुचित कार्य है तो उस कार्य की प्रवृत्ति में प्रवेश न करे, निर्जीव काठ की तरह रूके रहे।

निष्फला नेत्रविक्षेपा न कर्तव्याः कदाचन।
निध्यायन्तीव सततं कार्या दृष्टिरधोगता ॥ ३५ ॥

रास्ते में जाते समय कभी भी विना प्रयोजन के दृष्टिविक्षेप नहीं करना चाहिए, पुण्य ध्यानरत होकर दृष्टि नीची रखनी चाहिए। [यह विशेष कर ब्रह्मचर्य में रत भिक्षुओं के लिए है।]

दृष्टिविश्रामहेतोस्तु दिशः पश्येत् कदाचन।
आभासमात्रं दृष्ट्वा च स्वागतार्थं विलोकयेत् ॥ ३६ ॥

दृष्टि को विश्राम देने के लिए आँख उठाकर दाहिनी और बाईं दिशाओं में देख सकते हैं। यदि कोई व्यक्ति निकट दिखाई दे तो देखकर उसका स्वागत करना चाहिए।

मार्गादौ भयबोधार्थं मुहुः पश्येच्चतुर्दिशम्।
दिशो विश्रम्य वीक्षेत परावृत्यैव तिष्ठतः॥ ३७॥

दुर्गम रास्ते के भय जानने जैसे प्रयोजन होने पर चारों ओर देख लेना चाहिए। (शायद यह अर्थ है कि) विश्राम के बाद चलने लगे तो कोई चीज न रह जाय, इसलिए पीछे घूमकर देख लें। अतः हम प्रव्रजित लोगों को चलते समय दृष्टिविक्षेप, शोरगुल तथा हाथ हिलाने जैसे दुर्व्यवहार छोड़कर शान्तभाव से चलना चाहिए। हम प्रव्रजित लोगों को 'गेंदुन' (संघ) कहते हैं अर्थात् पुण्य-अभिलाषी—यहाँ पुण्य का अर्थ निर्वाण है, अतः निर्वाण प्राप्ति के इच्छुक लोग हमे अपनी वेशभूषा के अनुसार आचरण करना चाहिए, और अपने को उपहास का साधन नहीं बनने देना चाहिए तथा शान्तभाव और अच्छे आचरण से सबको आकर्षित करना चाहिये।

सरेदपसरेद्वापि पुरः पश्चान्निरूप्य च।
एवं सर्वास्ववस्थासु कार्यं बुद्ध्वा समाचरेत्॥ ३८॥

प्रपात आदि भय को ध्यान में रखकर आगे या पीछे जाना और हर अवस्था में प्राणियों के कल्याण तथा हानि को समझ कर काम करना चाहिए।

कायेनैवमवस्थेयमित्याक्षिप्य क्रियां पुनः।
कथं कायः स्थित इति द्रष्टव्यं पुनरन्तरा॥ ३९॥

शारीरिक आचरण कैसे हों इसका पूर्व विचार तथा अभ्यास करके फिर यह बारंबार देखना चाहिए कि पूर्व विचार के अनुसार शरीर का आचरण है या नहीं।

निरूप्यः सर्वयत्नेन चित्तमत्तद्विपस्तथा।
धर्मचिन्ता महास्तम्भे यथा बद्धो न मुच्यते ॥ ४० ॥

चंचल चित्त के मत्तवाले हाथी को स्मृति तथा संप्रजन्य की जंजीर से धर्म चिन्तन के विशाल स्तम्भ में सदा बाँधकर रखने की चेष्टा करनी चाहिए।

कुत्र मे वर्तत इति प्रत्यवेक्ष्यं तथा मनः।
समाधानधुरं नैव क्षणमप्युत्सृजेद्यथा ॥ ४१ ॥

एकाग्र-चित्त समाधि के लिए प्रयत्न करते समय यह चित्त अपने चिन्तन के लक्ष्य से कहीं भटक तो नहीं रहा है और कैसी अपने मन की दशा है, इस पर बारंबार विचार करना चाहिए।

भयोत्सवादिसंबन्धे यद्यशक्तो यथासुखम्।
दानकाले तु शीलस्य यस्मादुक्तमुपेक्षणम् ॥ ४२ ॥

(इस प्रकार के अनुशासन में विशेष परिस्थिति में छूट भी है।)–जैसे जान खतरे में पड़ने का भय, त्रिरत्न के प्रति प्रणाम तथा पूजा अर्पण, स्तुति गायन आदि आनन्दावस्था और परकल्याण कार्य में व्यस्त होते समय जब समाधि में रहना असंभव हो तो चित्त को सुविधा के अनुसार छोड़ सकते हैं। यहाँ बुद्ध वचन में परिस्थिति अनुकूल समझने की व्यवस्था है, जैसे तथागत ने कहा है, 'दान (पारमिता) के अभ्यास करते समय शील की उपेक्षा कर सकते हैं।' अतः प्रयोजन तथा परिस्थिति को सूक्ष्म रूप से समझना आवश्यक है। बड़े प्रयोजन के लिए छोटे कार्य की उपेक्षा कर सकते हैं। उदाहरण के लिए यह मान लें कि कोई शिकारी किसी शिकार का पीछा कर रहा है। आपने उस शिकार तथा शिकारी दोनों को देखा है और आप में उस शिकार की जान बचाने की इच्छा हुई। उस शिकारी के पूछने पर आपने

किसी प्रकार बात टाल दी या अन्य दिशा बताकर उस शिकार की जान बचा ली। यहाँ पर किसी की जान बचाने से अभयदान जैसा महान् प्रयोजन सिद्ध होता है। तो उस समय कुछ थोड़ा-सा असत्यभाषण उचित है।

यद्बुद्ध्वा कर्तुमारब्धं ततो ऽन्यन्न विचिन्तयेत्।
तदेव तावन्निष्पाद्यं तद्गतेनान्तरात्मना ॥ ४३ ॥

एवं हि सुकृतं सर्वमन्यथा नोभयं भवेत्।
असंप्रजन्यक्लेशोऽपि वृद्धिं चैवं गमिष्यति ॥ ४४ ॥

उचित विचार के बाद जो काम पहले करने का निर्णय करेंगे उसी काम को पूरे ध्यान और चेष्टा के साथ समाप्त करके फिर दूसरे काम पर हाथ लगाना चाहिए; अन्यथा कोई भी कार्य सफलतापूर्वक सम्पन्न नहीं होगा। अनुचित क्रम से उत्पन्न होने वाला असंप्रजन्य तथा उपक्लेश भी क्रमबद्ध योजना के अनुसार करने पर उत्पन्न नहीं होगा।

नानाविधप्रलापेषु वर्तमानेष्वनेकधा।
कौतूहलेषु सर्वेषु हन्यादौत्सुक्यमागतम् ॥ ४५ ॥

युद्ध के कथा जैसे निरर्थक बातों (गप-शप) में तथा कौतूहल तमाशों में शामिल न हो। यदि किसी तरह संपर्क में आजाएँ तो भी उनके प्रति राग-द्वेष उत्पन्न नहीं होना चाहिए।

मृन्मर्दनतृणोच्छेदरेखाद्यफलमागतम्।
स्मृत्वा ताथागतीं शिक्षां भीतस्तत्क्षणमुत्सृजेत् ॥ ४६ ॥

बिना प्रयोजन के मिट्टी खोदना, तिनका तोड़ना, मिट्टी पर लकीरें खींचना आदि प्रवृत्तियों के होने पर तुरन्त तथागत की शिक्षा का स्मरण कर, डर कर, तत्काल उन्हें छोड़ देना चाहिए।

चौथा दिन

आज जब हमें यह बहुत दुर्लभ मनुष्य जन्म पाकर धर्म-अभ्यास की सभी सुविधाएँ प्राप्त हैं तो इसका सदुपयोग कर लेना चाहिए। क्या धर्म-अभ्यास का प्रश्न किसी रीति-रिवाज पर आधारित है या इसे इसलिए करते हैं कि हमारे पूर्वजों ने किया है अतः हमें भी करना चाहिए। ऐसी बात नहीं है। यदि ऐसा होता तो रीति-रिवाज समय-समय पर बदल सकते हैं और आज के सामाजिक परिप्रेक्ष्य में उचित न हों तो हम त्याग सकते हैं। परन्तु धर्म-अभ्यास का प्रश्न कुछ और है। यदि यह रीति रिवाज होता तो आपके माता-पिता या परदादा के बौद्ध होने पर भी अगर आपको उचित नहीं लगता तो धर्म-परिवर्तन कर इसे त्याग सकते हैं।

परन्तु यह स्पष्ट है कि हम सब सुख शान्ति चाहने वाले हैं, न कि दुःख। सुख-दुःख की उत्पत्ति अपने चित्त की प्रवृत्ति पर निर्भर है। मन शान्त और वश में है तो सुख है और मन अशान्त या अदान्त है तो वर्तमान समय में भी दुःख उत्पन्न करता है और भविष्य में भी अनेक दुःखों का कारण बनता है। उदार चित्त होने पर अच्छा स्वभाव होगा जिससे अच्छे कर्म होंगे और अदान्त चित्त होने पर अनेक अकुशल कर्म करेंगे जो दुःख के कारण होंगे।

आजकल भी हम स्पष्ट रूप से देख सकते हैं कि एक धार्मिक स्वभाव वाले और राग-द्वेष से भरे स्वभाव वाले दोनों व्यक्तियों की सुख-शान्ति में कितना अन्तर है। सुख-शान्ति प्राप्ति की इच्छा से हम अनेक उपायों से धन कमाने की कोशिश करते हैं उसी प्रकार चित्त की उन्नति के लिए कार्य करें तो यही धर्म होगा। धर्म-अभ्यास में मनःस्थिति का परिवर्तन और सुधार प्रमुख हैं, न कि स्थान बदलना या वेश-भूषा में परिवर्तन करना।

यदि कोई धर्म के प्रति विश्वास तथा श्रद्धा नहीं रखता तो वह स्वतन्त्र है, धर्म त्याग सकता है। इसमें कोई बल प्रयोग से विवश करने वाला नहीं है। अगर हम धर्म के प्रति विश्वास तथा श्रद्धा रखते हैं तो जो शिक्षा धर्म में है उसे क्रियात्मक रूप देना अत्यन्त आवश्यक होगा। जो कुछ मैंने बताया है वह मैंने इस उपदेश के गद्दी पर बैठने से किसी औपचारिकता के तौर पर नहीं, अपितु मेरे अपने दैनिक जीवन में ऐसा विचार तथा अभ्यास से लाभ अनुभव होता है। हम आप सभी मनुष्य हैं और सांसारिक दुःखों से परिचित हैं, इसलिए कुछ लाभ हो सकता है। इसीसे मैं अपनी ओर से भी यथासंभव प्रयत्न करता हूँ कि कुछ अभ्यास हो, आप लोगों को भी चाहिए कि हर संभव प्रयत्न करें।

जैसे अपनी जीविका साधनों के लिए तन-मन से प्रयत्न करते हैं वैसे ही केवल श्रद्धा तथा प्रणिधान पर अपने को न छोड़कर क्रियात्मक प्रयत्न करना चाहिए। दैनिक अभ्यास के लिए यह 'बोधिचर्यावतार' बहुत अच्छा ग्रन्थ है। यदि चिन्तन क्रम में सुविधा मालूम पड़े तो अकेले बोधिचर्यावतार पर अभ्यास कर सकते हैं या इसे आधार बनाकर अन्य ग्रन्थों से उपाय या प्रज्ञा की शिक्षा लेकर अभ्यास करने से भी बहुत लाभ हो सकता है।

यहाँ एक आवश्यक बात यह है कि धर्म अभ्यास करने का एक निश्चित क्रम है। सर्वप्रथम इस जीवन के प्रति आसक्ति से मुक्त होना चाहिये उसके बाद भावी-जीवन की आसक्ति नष्ट होनी चाहिये। ऐसी चित्त की अवस्था हो जाने पर प्राणिमात्र के परकल्याण के लिए विचार करना एक चिन्तन क्रम है। जैसे सूर्योदय होने के लिए क्रमशः पहले उषाकाल, फिर लाल किरणें और अन्त में सूर्योदय होता है। उसी प्रकार अपने विचार क्रमबद्ध कर बोधिचर्यावतार की शिक्षाओं को यथोचित उसी क्रम में अपनाने का यत्न हो तो बहुत लाभ होगा। अतः मेरी ओर से और आप लोगों की ओर से, दोनों की ओर से विशुद्ध मन से यदि पठन-पाठन का कार्य हो तो हम एक

महान् पुण्य कर्म कर सकते हैं। मैंने बोधचर्यावतार की शिक्षा किन्नौर प्रदेश में वहीं जनमे एक सदाचारी गुप्त महान्योगी (खुनुलामा स्तेन-जिन् ग्यल्-छेन्) से प्राप्त की है और यहाँ पर किन्नौरी तथा गडशा लोगों सहित जनसमूह में इसका पठन-पाठन करते हुए स्वयं को भाग्यवान् समझता हूँ। अब हम संप्रजन्य-रक्षण परिच्छेद पर चलें।

यदा चलितुकामः स्याद्वक्तुकामोऽपि वा भवेत्।
स्वचित्तं प्रत्यवेक्ष्यादौ कुर्याद्धैर्येण युक्तिमत्॥ ४७॥

बोधिचर्या साधकों को जब कभी चलने फिरने या कुछ बोलने की इच्छा हो तो चलने या बोलने से पहले अपने मन की परीक्षा करके निश्चय कर लेना चाहिए।

अनुनीतं प्रतिहतं यदा पश्येत्स्वकं मनः।
न कर्तव्यं न वक्तव्यं स्थातव्यं काष्ठवत्तदा॥ ४८॥

जब चित्त में प्रिय से राग या अप्रिय से द्वेष उत्पन्न होने लगता है उसी समय हाँ अब यह चित्त कुछ दोषपूर्ण विचार से दूषित होन जा रहा है, ऐसा चेतना के द्वारा पहचान कर उस राग-द्वेष से प्रेरित मन को कुछ भी कार्य न करने दें और निष्क्रिय रहकर शान्त हो जाने दें।

उद्धतं सोपहासं वा यदा मानमदान्वितम्।
सोत्प्रासातिशयं वक्रं वंचकं च मनो भवेत्॥ ४९॥
यदात्मोत्कर्षणाभासं परपंसनमेव वा।
साधिक्षेपं ससंरम्भं स्थातव्यं काष्ठवत्तदा॥ ५०॥

अपने मन के चंचलता से भटकने, उपहास करने, अहंकार होने या क्रोधित होने की प्रवृति मद या दूसरों पर दोषारोपण, कुटिल और वंचक होना, अपनी प्रशंसा तथा दूसरों की निन्दा करना या कोसने और लड़ने

झगड़ने की प्रवृति होने पर भी पाप कर्म करने से रोक कर निष्क्रिय रहना चाहिए।

लाभसत्कारकीर्त्यर्थि परिवारार्थि वा पुनः।
उपस्थानार्थि मे चित्तं तस्मात्तिष्ठामि काष्ठवत् ॥ ५१ ॥

यदि अपने मन में धन आदि के लाभ, ऊँचे आसन जैसे सत्कार, कीर्ति, नौकर चाकर के समूह या दूसरों के द्वारा सेवा की इच्छा उत्पन्न होती है तो उस समय काष्ट की तरह निश्चेष्ट पड़े रहना चाहिए।

परार्थरूक्षं स्वार्थार्थि परिषत्काममेव वा।
वक्तुमिच्छति मे चित्तं तस्मात्तिष्ठामि काष्ठवत् ॥ ५२ ॥

परकल्याण से विमुख, स्वार्थ-अभिमुख और मनमानी बोलने की इच्छा हो तो काष्ठ की तरह पड़ा रहे।

असहिष्ण्वलसं भीतं प्रगल्भं मुखरं तथा।
स्वपक्षाभिनिविष्टं च तस्मात्तिष्ठामि काष्ठवत् ॥ ५३ ॥

अपने चित्त के असहनशील आलसी, धृष्ट बकवादी तथा स्वपक्षासक्त होने पर निष्क्रिय रहना चाहिए। अतः इसी समय धर्म उपदेश सुनते हुए यदि आपको कोई शत्रु अपने निकट दिखाई दे तो 'मेरा वह शत्रु फिर मेरे सामने आया' ऐसा नहीं सोचना चाहिए, उसके तरफ न देखें और इसी प्रकार यदि आपके साथ बैठे किसी के पास अच्छी वस्तु है तो उसके लोभ से अपना ध्यान तुरन्त उससे हटा लें। ऐसा करने से अपने मन में स्मृति रह सकती है।

एवं संक्लिष्टमालोक्य निष्फलारम्भि वा मनः।
निगृह्णीयाद् दृढं शूरः प्रतिपक्षेण तत् सदा ॥ ५४ ॥

यदि अपना मन उपर्युक्त मिट्टी खोदने जैसे निरर्थक कार्य के लिए

क्लेशवश प्रयत्न करने लगे तो उसी समय परीक्षण से पहचान कर विरोधपक्ष की भावना करके मनको सुदृढ़ता के साथ स्थिर रखना चाहिए।

सुनिश्चितं सुप्रसन्नं धीरं सादरगौरवम्।
सलज्जं सभयं शान्तं पराराधनतत्परम् ॥ ५५ ॥

सूक्ष्म रूप से जानकर निश्चय के साथ विश्वास होने से उन शिक्षाओं के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होगी, फिर स्थिर विश्वास होगा और आदर के साथ अभ्यास होगा। इसी प्रकार यह भी विचार सदा रहेगा कि 'मैं एक बोधि-चित्त का अभ्यासकर्त्ता हूँ जिसे अप्रिय या अकुशल आचरण नहीं करना चाहिए। मुझे शान्त स्वभाव से दूसरों को प्रसन्न करने का यत्न करना है, न ऐसा विचार या संकल्प तथा अपने प्रति लज्जा और भविष्य के दुःखदायक फल से डर, हर तरह से शान्त होकर दूसरों को अभिषदान आदि द्वारा प्रसन्न करना चाहिए।

आज हम लोग एक ऐसे मानव समाज में रह रहे हैं जहाँ राग, द्वेष, मोह आदि व्याप्त हैं। अतः हमे पृथग्जनों के स्वभाव से परिचित होना आवश्यक है, क्योंकि पृथग्जनों के संपर्क में रहते हुए दोषों से दूर रहने के उपाय जानने हैं।

परस्परविरुद्धाभिर्बालेच्छाभिरखेदितम् ।
क्लेशोत्पादादिदं ह्येतदेषामिति दयान्वितम् ।। ५६ ।।

'उसका यह लाभ हुआ, मेरी यह हानि हुई' ऐसा कहना पृथग्जनों का प्रकृत स्वभाव है, अतः इसे देखकर निराश नहीं होना चाहिए। 'ये लोग क्लेशवश ऐसा व्यवहार करते हैं तो ये लोग करुणा के पात्र हैं', ऐसा सोचना चाहिए।

आत्मसत्त्ववशं नित्यमनवद्येषु वस्तुषु।
निर्माणमिव निर्मानं धारयाम्येष मानसम् ।। ५७ ।।

इस प्रकार की चर्या के समय ऐसा कार्य न हो जिससे अकुशल कर्म बनें और विशेष कर यह स्मृति होनी चाहिए कि अपना भविष्य और प्राणियों के कल्याण सिद्ध हों, फिर भी अपना या अपने द्वारा होने वाले धर्म-अभ्यास आदि सभी की निःस्वभावता, नाम मात्र का ज्ञान रहना चाहिए, जिससे 'मैं ऐसे धर्म का अभ्यास करता हूँ,' 'मैं बोधिचर्यावतार का अभ्यास करता हूँ', इस प्रकार का अहंकार उत्पन्न न हो।

चिरात्प्राप्तं क्षणवरं स्मृत्वा स्मृत्वा मुहुर्मुहुः।
धारयामीदृशं चित्तमप्रकम्प्यं सुमेरुवत् ॥ ५८ ॥

कुछ देर तक मन स्थिर रखने के बाद पुनः यह विचार करना चाहिए कि हमें यह सर्वसुखी मनुष्य जीवन प्राप्त हुआ है तो प्राणिमात्र के सुख-कल्याण के लिए इसका सदुपयोग होना चाहिए। ऐसे दृढ़ संकल्प के साथ रहना चाहिए।

[दैनिक जीवन के अनुभव से यह स्पष्ट है कि हमारे जीवन का अधिकांश समय अपने शरीर की देखरेख तथा सुख सुविधा में व्यतीत हो जाता है, अतः आगे यह वर्णन आता है कि इस शरीर का स्वरूप कैसा है? इसका क्या प्रयोजन है? और इसके साथ कैसे हमारे दृष्टिकोण तथा संबन्ध होना चाहिए।]

गृध्रैरामिषसंगृद्धैः कृष्यमाण इतस्ततः।
न करोत्यन्यथा कायः कस्मादत्र प्रतिक्रियाम् ॥ ५९ ॥

इस शरीर की देखभाल करके इसका सदुपयोग किये बिना यह सारा व्यापार बेकार है, क्योंकि मृत्यु के पश्चात् मांसलोभी गीध इधर उधर खींच कर इसे खा जाते हैं। यदि इस समय मांस और हड्डियों की देखभाल करते हैं, तो उस समय भी प्रतिकार होना चाहिए कि मेरा प्रिय शरीर कोई खा रहा है, परन्तु ऐसा नहीं होता।

[बोधिचर्यावतार में चित्त को वश में करने हेतु ऐसे भी उपाय वर्णित हैं कि कभी अपने मन के साथ, तो कभी शरीर के साथ और कभी अपने आप से तर्कवितर्क करते हैं। जैसे अगले श्लोक का अर्थ है]—

रक्षसीमं मनः कस्मादात्मीकृत्य समुच्छ्रयम् ।
त्वत्तश्चेत्पृथगेवायं तेनात्र तव को व्ययः ॥ ६० ॥

यहाँ अपने मन में यह प्रश्न उभरता है कि तुम इस शरीर को अपना मानकर इतनी रक्षा क्यों करते हो? इस जीवन के अन्त में तुम इस शरीर को यहीं छोड़कर जन्म-जन्मान्तर में फिर दूसरे शरीर धारण करोगे, तो इस शरीर से तुमको क्या मतलब है? इतना लगाव क्यों?

न स्वीकरोषि हे मूढ काष्ठपुत्तलकम् शुचि ।
अमेध्यघटितं यन्त्रं कस्माद्रक्षसि पूतिकम् ॥ ६१ ॥

तुम (चित्त) मूर्ख हो, क्यों इस अपवित्र मांस-हड्डी के यन्त्र को सड़ने से रोक रहे हो? मात्र शरीर से मतलब है तो क्यों पवित्र काठ का शरीर धारण नहीं करते?

इमं चर्मपुटं तावत्स्वबुद्ध्यैव पृथक्कुरु ।
अस्थिपञ्जरतो मांसं प्रज्ञाशस्त्रेण मोचय ॥ ६२ ॥
अस्थीन्यपि पृथक् कृत्वा पश्य मज्जानमन्ततः ।
किमत्र सारमस्तीति स्वयमेव विचारय ॥ ६३ ॥

(हमारा यह शरीर कितना अपवित्र है, यहाँ क्रमशः परीक्षा करने का वर्णन है,) मान लो, पहले बाहर की खाल को खोलें तो मांस तथा खून निकलेगा और उस मांस के तह को चीरकर देखें तो हड्डियाँ दिखाई देगी, हड्डियों के अन्दर मज्जा जैसा पदार्थ दिखाई देगा। इस प्रकार की परीक्षा से सिद्ध होगा कि सिर से लेकर पाँव तक कोई भी पवित्र अंश इस शरीर

में नहीं है, अतः इस में कौन सी अच्छी वस्तु है, इसका विश्लेषण करना चाहिए।

यही बात 'कायस्मृत्युपस्थान' के मनन के समय आती है जैसे शरीर को अप्रिय, अपवित्र या हर जगह कंकाल से भरा या किसी सुन्दर मुखको भी परीक्षण द्वारा कुरुप समझना आदि। क्योंकि जगत् के एक सुन्दरतम रूप वाले की भी खाल, मांस, हड्डी आदि का बारीकी से विश्लेषण करें तो कोई सुन्दर या पवित्र गुण नहीं मिलेगा, यह स्पष्ट है।

एवमन्विष्य यत्नेन न दृष्टं सारमत्र ते।
अधुना वद कस्मात् त्वं कायमद्यापि रक्षसि ॥ ६४ ॥

जितनी भी खोज या परीक्षा की जायेगी उससे कोई पवित्र सारतत्त्व नहीं मिलेगा, तो इस शरीर से काम न लेकर केवल इसकी रक्षा करना निस्सार है।

न खादितव्यमशुचि त्वया पेयं न शोणितम्।
नान्त्राणि चूषितव्यानि किं कायेन करिष्यसि ॥ ६५ ॥

हाँ, अगर यह मांस-हड्डी खाने के लायक हो तो भी कुछ कारण है जो इसकी देखभाल करें, परन्तु न तो इन अशुचियों को खाया जा सकता है, न ही इसका खून पिया जा सकता है और आँतें चूसी जा सकते हैं, तो मात्र इसकी रक्षा से क्या लाभ है?

युक्तं गृध्रशृगालादेराहारार्थं तु रक्षितुम्।
कर्मोपकरणं त्वेतन्मानुषाणाम् शरीरकम् ॥ ६६ ॥

अतः इस शरीर को पुण्य कर्म का साधन बनाकर और इस में मौजूद दिमाग को प्रयोग में लाकर तत्त्वज्ञान प्राप्ति के लिए इसका सदुपयोग

होना चाहिए; अन्यथा अन्त में गीधों या सियारों को खिलाने के लिए शरीर की रक्षा करने के बराबर है।

एवं ते रक्षतश्चापि मृत्युराच्छिद्य निर्दयः।
कायं दास्यति गृध्रेभ्यस्तदा त्वं किं करिष्यसि ॥ ६७ ॥

यदि प्रेम से रक्षा करने पर यह सदा हमारे पास रहता तो भी एक बात होती, परन्तु ऐसा कदाचिद् नहीं है, क्योंकि अन्त में निर्दय मृत्युपति इस शरीर को हम से छीन कर गीधों तथा कुत्तों को खिला देगा। उस समय हम कुछ भी करने में असमर्थ होंगे।

न स्थास्यतीति भृत्याय न वस्त्रादि प्रदीयते।
कायो यास्यति खादित्वा कस्मात्त्वं कुरुषे व्ययम् ॥ ६८ ॥

जैसे एक निकम्मे नौकर को वस्त्र आदि नहीं देते उसी प्रकार जब तक यह शरीर पुरुषार्थ सिद्धि के लिए उपयुक्त है इस की रक्षा या देखभाल करना उचित है, नहीं तो इसका पोषण, मात्र माँस-थैली के पालन पोषण के समान है।

दत्वास्मै वेतनं तस्मात् स्वार्थं कुरु मनोऽधुना।
न हि वैतनिकोपात्तं सर्वं तस्मै प्रदीयते ॥ ६९ ॥

बोधिचित्त की उत्पत्ति से प्राणिमात्र के कल्याण के लिए इस शरीर की देखभाल होनी चाहिए। विना सदुपयोग किये इसे सुख सुविधा प्रदान करना व्यर्थ है।

काये नौबुद्धिमाधाय गत्यागमननिश्रयात्।
यथाकामंगमं कायं कुरु सत्त्वार्थसिद्धये ॥ ७० ॥

इस शरीर को सांसारिक समुद्र पार करने का आने-जाने का साधन

नौका की तरह समझकर प्राणियों के उपकार के लिए कल्पना-रत्त की तरह जिनों के संभोग काया में परिवर्तित करना चाहिए।

एवं वशीकृतस्वात्मा नित्यं स्मितमुखो भवेत्।
त्यजेद् भृकुटिसंकोचं पूर्वाभाषी जगत्सुहृत् ॥ ७१ ॥

इस प्रकार इस शरीर को कुशल कर्म में अवरोधक बनने से रोककर अपने वश में करके स्वतन्त्र होकर जिन के लिए चित्तोत्पाद किया है उन प्राणियों को प्रसन्न करने के लिए सदा हँसमुख होकर भौंहों को टेढ़ी करने जैसी क्रूर भावाभिव्यक्तियों को त्यागकर जगत् के कल्याणमित्र बनकर सब के साथ खुला व्यवहार करना चाहिए।

सशब्दपातं सहसा न पीठादीन् विनिक्षिपेत्।
नास्फालयेत् कवाटं च स्यान्निःशब्दरुचिः सदा ॥ ७२ ॥

घरों में, मठ-मन्दिरों में जहाँ भी हों, कुरसी पलँग आदि लापरवाही से आवाज के साथ न रखें और आते जाते समय किवाड़ को बहुत धीरे बन्द करें, जैसे कोई क्रोध या अहंकार के कारण करता है, वैसा नहीं। सदा अहंकार से दूर रहकर प्रसन्न तथा शान्त रहना चाहिए।

बको बिडालश्चौरश्च निःशब्दो निभृतश्चरन्।
प्राप्नोत्यभिमतं कार्यमेवं नित्यं यतिश्चरेत् ॥ ७३ ॥

इस प्रकार शान्त स्वभाव से काम लेने पर हर इच्छा पूरी होगी जैसे कि बक, बिल्ली और चोर निःशब्द जाकर अपना लक्ष्य प्राप्त करते हैं। भगवान् तथागत ने भी ऐसे शान्त आचरण से परोपकार किया है।

परचोदनदक्षाणामनधीष्टोपकारिणाम् ।
प्रतीच्छेच्छिरसा वाक्यं सर्वशिष्यः सदा भवेत् ॥ ७४ ॥

दूसरों को कुशल कर्म के लिए प्रेरित करने में स्वयं कुशल होना चाहिए और विना पूछे भी यदि दूसरा उपकार की बातें कहे तो उसे आदर के साथ स्वीकार करके सदा सबका शिष्य बनकर ज्ञान ग्रहण कर लेना चाहिए।

सुभाषितेषु सर्वेषु साधुकारमुदीरयेत्।
पुण्यकारिणमालोक्य स्तुतिभिः संप्रहर्षयेत् ॥ ७५ ॥

परोक्षं च गुणान् ब्रूयादनुब्रूयाच्चा तोषतः।
स्ववर्णे भाष्यमाणे च भावयेत्तद्गुणज्ञताम् ॥ ७६ ॥

जब कोई व्यक्ति उचित बात कहे तो उसे साधुवाद दें। यदि कोई पुण्य कार्य करता दिखाई दें, तो उसे उचित समझें और उसका सामने ही प्रशंसा से प्रसन्न करें, परन्तु यदि सामने प्रशंसा करना अनुचित हो तो पीठ-पीछे गुणगान करें। किसी दूसरे के गुण की प्रशंसा का अनुमोदन करना चाहिये न कि ईर्ष्या या अनिच्छा प्रकट करे। दूसरे से अपनी प्रशंसा होने पर अभिमान न करके दूसरों का सदगुणों को जानना बहुत अच्छी बात है ऐसा सोचना चाहिए।

सर्वारम्भा हि तुष्ट्यर्थाः सा वित्तैरपि दुर्लभा।
भोक्ष्ये तुष्टिसुखं तस्मात् परश्रमकृतैर्गुणैः ॥ ७७ ॥

हमारे सव प्रयत्न सुख संतोष के लिए हैं, जिसे धन या रूपये से खरीदा नहीं जा सकता। यदि दिल्ली, बम्बई जैसे बड़े बड़े शहरों में सुख संतोष खरीदने जायें तो लोग अपको पागल कहेंगे। यह अपनी मनोवृत्ति पर निर्भर है। अतः दूसरों के सुख संतोष में भागी बनकर जीवन में सरलता से सुख प्राप्त कर सकते हैं। इससे जन्मान्तर में भी सुख प्राप्त होगा।

न चात्र मे व्ययः कश्चित् परत्र च महासुखम् ।
अप्रीतिदुःखं द्वेषैस्तु महद्दुःखं परत्र च ॥ ७८ ॥

दूसरों के सुख में प्रसन्न होने में अपना कुछ व्यय नहीं होता, साथ ही परलोक में महासुख भी मिलता है। इसके विपरीत दूसरों के सुख संतोष के प्रति ईर्ष्या-द्वेष से दुःख उत्पन्न होता है और परलोक में भी बहुत बड़े दुःख भोगने पड़ते हैं।

विश्वस्तविन्यस्तपदं विस्पष्टार्थं मनोरमम् ।
श्रुतिसौख्यं कृपामूलं मृदुमन्दस्वरं वदेत् ॥ ७९ ॥

हमें बोलते समय सच्चे मन से, व्यवस्थित ढंग से, स्पष्ट अर्थ के साथ, मनोहर, राग-द्वेष रहित, अत्यन्त मृदु और मन्द स्वर से बोलना चाहिए।

ऋजु पश्येत्सदा सत्त्वांश्चक्षुषा संपिबन्निव ।
एतानेव समाश्रित्य बुद्धत्वं मे भविष्यति ॥ ८० ॥

दूसरों को देखते समय भी यह सोचकर कि इन प्राणियों की कृपा से मुझे बुद्धत्व प्राप्त होगा, ऐसा सहज भाव से मैत्री भाव के साथ उन्हें देखना चाहिए। इस प्रकार, दैनिक आचरण में उपर्युक्त बातों का अभ्यास अपने पास-पड़ोस के लोगों के साथ व्यवहार में करना चाहिए। यही लोग वे प्राणी हैं जिनके प्रति हमे ऐसा आचरण अपनाना है, अपने से सम्बन्धित लोगों से दूर प्राणिमात्र की खोज करना व्यर्थ है। जो जिससे निकट रूप से सम्बन्धित है उसके प्रति यह अभ्यास होना चाहिए।

सातत्याभिनिवेशोत्थं प्रतिपक्षोत्थमेव च ।
गुणोपकारक्षेत्रे च दुःखिते च महच्छुभम् ॥ ८१ ॥

सदा अभिनिवेश से, अनासक्ति आदि प्रतिपक्ष से बुद्ध, बोधिसत्त्व, गुरु, अचार्य आदि गुणक्षेत्र, माता-पिता आदि उपकारक्षेत्र तथा दीन-दुःखियों में

दान जैसे कर्म से महापुण्य होगा। इसके विपरीत आचरण से घोर पाप होगा।

दक्ष उत्थानसंसन्नः स्वयंकारी सदा भवेत्।
नावकाशः प्रदातव्यः कस्य चित् सर्वकर्मसु ॥ ८२ ॥

सफलता पूर्वक अभ्यास के लिए श्रुतिज्ञान से विद्वान् होने के साथ ही श्रद्धालु भी होना चाहिए और हर क्षेत्र में कुशल भी, जिससे हम दूसरों पर निर्भर न रहकर हर कार्य स्वतन्त्र रूप से कर सकें अर्थात् हमें श्रुतज्ञान को व्यवहारिक रूप देने, रचना कौशल और मृदु स्वभाव जैसे गुणों से युक्त होना चाहिए।

उत्तरोत्तरतः श्रेष्ठा दानपारमितादयः।
नेतरार्थं त्यजेच्छ्रेष्ठामन्यत्राचारसेतुतः ॥ ८३ ॥

साधारण अभ्यास में दान, शील, क्षान्ति, वीर्य, ध्यान और प्रज्ञा-पारमिताओं को क्रमशः उत्तर-उत्तर को आधार बनाकर अभ्यास करना चाहिए क्योंकि उत्तर-उत्तर श्रेष्ठ हैं, परन्तु प्रयोजन और अवसर के अनुसार कम महत्त्व वाले के लिए अधिक महत्व वाले का त्याग नहीं होना चाहिए। यहाँ यह अर्थ निहित है कि तुच्छ के लिए श्रेष्ठ तथा स्थूल के लिए सूक्ष्म का त्याग न हो। ऐसे अवसर पर निर्णय का आधार 'परकल्याण' है, जिससे परोपकार सिद्ध होता हो, उसे ही प्राथमिकता देनी चाहिए।

एवं बुद्ध्वा परार्थेषु भवेत्सततमुत्थितः।
निषिद्धमप्यनुज्ञातं कृपालोरर्थदर्शिनः ॥ ८४ ॥

ऐसा जानकर सदा परकल्याण के लिए उद्यत रहें। परोपकार के महत्व को देखकर दूरदर्शी कृपालु तथागत बुद्ध ने परकल्याणरत लोगों के लिए कुछ निषिद्धों के लिए विशेष छूट भी दी है। इस अर्थ को इस प्रकार

भी समझ सकते हैं कि उस कृपालु बोधिसत्त्व के लिए छूट है, यद्यपि दूसरों के लिए निषिद्ध हो।

विनिपातगतानाथव्रतस्थान् संविभज्य च।
भुञ्जीत मध्यमां मात्रां त्रिचीवरबहिस्त्यजेत् ॥ ८५ ॥

अब खान-पान के आचरण का उल्लेख आता है। प्रेतों, रोगी आदि अनाथों तथा व्रतधारियों के साथ बाँटकर उचित मात्रा में खाना चाहिए और यदि भिक्षु हों तो त्रिचीवरों से अतिरिक्त सब का दान कर दें, जैसा कि विनय में वर्णित है। अन्य लोगों को भी जब कभी अवसर मिले ऐसे आचरण का अभ्यास करना चाहिए।

सद्धर्मसेवकं कायमितरार्थं न पीडयेत्।
एवमेव हि सत्त्वानामाशामाशु प्रपूरयेत् ॥ ८६ ॥

परन्तु धर्म-अभ्यास हेतु अपने शरीर को सताना उचित नहीं है, जैसा कि रत्नावली में कहा गया है कि दुर्बल शरीर से सफल धर्म-अभ्यास नहीं हो सकता। अतः बुद्ध के अनुयायी ब्रह्मचारियों को दोनों अन्तों में न पड़ कर मध्यम जीविका अपनानी चाहिए। अर्थात् अत्यन्त दरिद्र या अत्यन्त विलासी जीविका से बचना है। ऐसा आचरण होने पर मानव मस्तिष्क के सहारे प्रज्ञा तथा करूणा के विकास से अनन्त प्राणियों की इच्छा की पूर्ति करने में सफल होगा।

त्यजेन्न जीवितं तस्मादशुद्धे करुणाशये।
तुल्याशये तु तत्त्याज्यमित्थं न परिहियते ॥ ८७ ॥

दानपारमिता के उपदेश में अपना शरीर तक दान करना चाहिए, ऐसा कहा गया है। परन्तु जब तक करूणा अशुद्ध या अधूरी है शरीर-दान न करें

क्योंकि इससे अपने तथा पराये दोनों का कम ही लाभ होगा। चित्त में करुणा के अभ्यास की चरमसीमा पहुँच जाये तो शरीर दान करना उचित है। इस प्रकार होने पर सदा महान् () अर्थ सिद्ध होगा। यहाँ तक धन तथा शरीर दान करने की विधि है। इसके आगे धर्म दान कैसे हो, इस पर प्रकाश डाला गया है।

धर्मं निर्गौरवे स्वस्थे न शिरोवेष्टिते वदेत्।
सच्छत्रदण्डशस्त्रे च नावगुण्ठितमस्तके ॥ ८८ ॥

धर्म तथा धर्मोपदेश देने वाले के प्रति अनादर करने वाले को धर्म की उपदेश नहीं देनी चाहिए। इसी प्रकार स्वस्थ होते हुए या रोग आदि विशेष कारण के विना सिर पर पगड़ी बाँधे हुए, छाता, डंडा और शस्त्र लिये हुए तथा सर ढके हुए लोगों को धर्मोपदेश नहीं देना चाहिए।

गंभीरोदारमल्पेषु स्त्रीषु पुरुषं विना।
हीनोत्कृष्टेषु धर्मेषु समं गौरवमाचरेत् ॥ ८९ ॥

कम बुद्धि वालों को (महायान या तन्त्र जैसे) गंभीर अर्थ का उपदेश न दें और पुरुष की अनुपस्थिति में स्त्रीजनों को धर्मदेशना न करें, साथ ही साथ यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि बौद्ध धर्म में अनेक प्रकार की व्यवस्था है जो प्राणियों की मनः स्थिति के अनुकूल तथागत द्वारा उपदिष्ट है, हीनयान, महायान, सूत्र, तन्त्र आदि में पर्यवसित हैं, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि कोई उपदेश अधिक महत्व का है और कोई कम महत्व का। सभी पर समान रूप से भगवान् का उपदेश समझकर आदर और श्रद्धा रखनी चाहिए।

[जैसे तिब्बत महायान प्रधान देश है तो हमें हीनयान मानने वाले देशों के प्रति 'वह लोग हीनयानी हैं, वह लोग तुच्छ है', ऐसा कभी नहीं

सोचना चाहिए और अपने सम्प्रदायों में भी यह धर्म केवल उस विशेष सम्प्रदाय के विस्तार के लिए है ऐसा दृष्टिकोण नहीं अपनाना चाहिए क्योंकि इससे धर्मत्याग जैसा ही पाप होगा। आर्य मैत्रेयनाथ ने कहा है, "या मार्गज्ञतया जगद्धितकृतां लोकार्थसम्पादिका॥"—बोधिसत्त्व-मार्गज्ञता के विषय में यह कहा है कि बोधिसत्त्व को महायान मार्ग के अतिरिक्त श्रावक मार्ग तथा प्रत्येकबुद्ध मार्ग की भी जानकारी होनी चाहिए क्योंकि प्राणिमात्र के कल्याण के चित्त उत्पन्न करके, तब उस बोधिसत्त्व को उन लोगों का भी मार्गदर्शन करना है उपकार करना है। इसी प्रकार तिब्बत की महायान-परम्परा में ञीङ्मा, काग्युद, सक्या और गेलुग जिस सम्प्रदाय को आप मानते हैं उसके अतिरिक्त हर एक की जानकारी होनी चाहिए और समान आदर के साथ उनसे शिक्षा लेनी चाहिए।]

नोदारधर्मपात्रं च हीने धर्मे नियोजयेत्।
न चाचारं परित्यज्य सूत्रमन्त्रैः प्रलोभयेत्॥ ९०॥

उदार तथा तेज बुद्धि वाले को, जो महयान जैसे गंभीर धर्मों का पात्र है साधारण धर्म-अभ्यास के लिए प्रेरित नहीं करना चाहिए। उसे बोधिसत्त्व-चर्या जैसा उपदेश देना उचित है न कि सूत्रपाठ या मंत्र-जाप मात्र का।

दन्तकाष्ठस्य खेटस्य विसर्जनमपावृतम्।
नेष्टं जले स्थले भोग्ये मूत्रादेश्चापि गर्हितम्॥ ९१॥

दांतून तथा थूक फेंक कर मिट्टी से ढक देना चाहिए और सार्वजनिक रूप से प्रयुक्त होने वाले पानी तथा स्थल को मल-मूत्र आदि गन्दगी से दूषित नहीं करना चाहिए।

मुखपूरं न भुञ्जीत सशब्दं प्रसृताननम् ।
प्रलम्बपादं नासीत न बाहू मर्दयेत् समम् ॥ ९२ ॥

भोजन करते समय पूरा मुँह भरकर, या चरमराहट जैसी आवाज के साथ और मुहँ फैलाकर नहीं खाना चाहिए। भोजन के लिए बैठते समय भी पाँव पसार कर न बैठे और दोनों बाजुओं को एक साथ न मसले। बाजुओं का मसलना एक अहंकार का सूचक है जैसा कि पहलवान लोग करते हैं।

नैकयान्यस्त्रिया कुर्याद्यानं शयनमासनम् ।
लोकाप्रासादकं सर्वं दृष्ट्वा पृष्ट्वा च वर्जयेत् ॥ ९३ ॥

अकेली पराई स्त्री के साथ यान पर सवारी न करे, न आसन पर बैठे और न बिस्तर पर सोये। संक्षेप में दूसरों को बुरा लगने वाला आचरण स्वयं देखकर या दूसरों से पूछकर त्याग देना चाहिए।

नाङ्गुल्या कारयेत् किंचिद्दक्षिणेन तु सादरम् ।
समस्तेनैव हस्तेन मार्गमप्येमादिशेत् ॥ ९४ ॥

एक उँगली के इशारे से नहीं परन्तु समूचे दाहिने हाथ से आदर पूर्वक मार्ग आदि दिखाना चाहिए।

न बाहूत्क्षेपकं कंचिच्छब्दयेदल्पसंभ्रमे ।
अच्छटादि तु कर्तव्यमन्यथा स्यादसंवृतः ॥ ९५ ॥

यदि किसी को बुलाना हो, तो बहुत धीरे से हाथ हिलाकर या मन्द चुटकी जैसे शब्द करके बुलाना चाहिए, नहीं तो वह साधक असंयमित समझा जायेगा।

नाथनिर्वाणशय्यावच्छ्यीतेप्सितया दिशा।
संप्रजानंल्लघूत्थानः प्रागवश्यं नियोगतः। ९६॥

सोते समय, जिस दिशा में चाहे उस ओर मुख करके जैसा भगवान् तथागत परिनिर्वाण के समय लेटे थे, उसी प्रकार सोना चाहिए। सोते हुए भी पुण्य कर्मों की स्मृति रहनी चाहिए और नींद आने से पहले दूसरे दिन सवेरे जल्दी उठने की इच्छा करनी चाहिए।

आचारो बोधिसत्त्वानामप्रमेय उदाहृतः।
चित्तशोधनमाचारं नियतं तावदाचरत्॥ ९७॥

संक्षेप में, सूत्रों एवं शास्त्रों में असंख्य आचारों का उल्लेख है। हमें निश्चय ही उस आचरण को सर्वप्रथम अपनाना चाहिए जिससे चित्त की शुद्धि होती हो।

रात्रिंदिवं च त्रिस्कन्धं त्रिष्कालं च प्रवर्तयेत्।
शेषापत्तिशमस्तेन बोधिचित्तजिनाश्रयात्॥ ९८॥

यदि अज्ञान, अनादर आदि द्वारा आपत्ति हो जाये तो उन पापों की शुद्धि के लिए रात और दिन में तीन-तीन बार (पुण्य संचय, पाप की शुद्धि तथा पुण्य की उत्तरोत्तर वृद्धि) त्रिस्कन्धों की आवृत्ति करनी चाहिए। इनकी आवृत्ति करते हुए प्रणाम कर पापदेशना करना बहुत प्रभावशाली होगा क्योंकि आपत्तिदेशना के इन ३५ बुद्धों ने अनेक प्रकार की प्रतिज्ञा अपना नाम लेने वालों के उपकार के लिए किया है।

या अवस्थाः प्रपद्येत स्वयं परवशोऽपि वा।
तास्ववस्थासु याः शिक्षाः शिक्षेत्ता एव यत्नतः॥ ९९॥

स्वेच्छा से या दूसरों की प्रेरणा से जो कुछ भी कार्य जिस अवस्था में करें, उस अवस्था के अनुकूल जो भी शिक्षा है उसका यथासंभव पालन करना चाहिये।

न हि तद्विद्यते किंचिद्यन्न शिक्ष्यं जिनात्मजैः।
न तदस्ति न यत्पुण्यमेवं विहरतः सतः ॥ १०० ॥

ऐसा कोई विषय या आचार नहीं जो बोधिसत्त्व को न सीखना या आचरण न करना हो। उससे कुशल बोधिसत्त्व के लिए सब पुण्य और परकल्याण ही सिद्ध होगा, क्योंकि उनके सभी कार्य चित्तोत्पाद, स्मृति सहित प्रज्ञा तथा बोधिपरिणामना से प्रभावित है, शुद्ध हैं।

पारंपर्येण साक्षाद्वा सत्त्वार्थं नान्यदाचरेत्।
सत्त्वानामेव चार्थाय सर्वं बोधाय नामयेत् ॥ १०१ ॥

साक्षात या परोक्ष प्राणिहित के अतिरिक्त आचरण नहीं होता चाहिए और प्राणियों के कल्याण के लिए ही पुण्यों की परिणामना करनी चाहिए।

सदा कल्याणमित्रं च जीवितार्थेऽपि न त्यजेत्।
बोधिसत्त्वव्रतधरं महायानार्थकोविदम् ॥ १०२ ॥

[इस प्रकार के आचरण के सफल अभ्यास के लिए गुणसम्पन्न गुरू होना चाहिए जो हमारा सही मार्गदर्शन कर सकें। वह इस प्रकार होना चाहिए कि वह गुरु महायान के संपूर्ण त्रिपिठक के अर्थ में निपुण होकर बोधिचर्या के पालन में दृढ़ स्वभाव वाले हो। ऐसे गुरु जब मिल जाये तो उसे जान के बदले भी नहीं त्यागना चाहिए।

श्रीसम्भवविमोक्षाच्च शिक्षेद्यद्गुरुवर्तनम्।
एतच्चान्यच्च बुद्धोक्तं ज्ञेयं सूत्रान्तवाचनात् ॥ १०३ ॥

शिक्षाः सूत्रेषु दृश्यन्ते तस्मात्सूत्राणि वाचयेत्।
आकाशगर्भसूत्रे च मूलापत्तीर्निरूपयेत् ॥ १०४ ॥

जैसे 'गण्ढव्यूह सूत्र' में गुरु के प्रति आचरण का वर्णन 'श्रीसंभवविमोक्ष-सूत्र' में आता है उसी तरह होना चाहिए और अधिक जानकारी के लिए अन्य सूत्रों को पढ़ना चाहिए, क्योंकि सूत्रों में हर प्रकार के आचरणों की शिक्षा है। सर्वप्रथम तो आकाशगर्भसूत्र को पढ़ना आवश्यक है।

शिक्षासमुच्चयोऽवश्यं द्रष्टव्यश्च पुनः पुनः।
विस्तरेण सदाचारो यस्मात्तत्र प्रदर्शितः॥ १०५॥

आचरण सम्बन्धी विस्तृत जानकारी के लिए 'शिक्षासमुच्चय' को पढ़ना चाहिए क्योंकि उसमें सदाचार की यथेष्ट बातें दी हुई हैं।

संक्षेपेणाथवा तावत्पश्येत्सूत्रसमुच्चयम्।
आर्यनागार्जुनाबद्धं द्वितीयं च प्रयत्नतः॥ १०६॥

यदि शिक्षासमुच्चय बहुत विस्तृत लगे तो सूत्रसमुच्चय का अध्ययन करें जिसमें संक्षिप्त वर्णन है। इनके अतिरिक्त आचार्य नागार्जुन के शिक्षा समुच्चय तथा सूत्र समुच्चय दोनों ग्रन्थों का अध्ययन करें।

यतो निवार्यते यत्र यदेव च नियुज्यते।
तल्लोकचित्तरक्षार्थं शिक्षां दृष्ट्वा समाचरेत्॥ १०७॥

सूत्रों और शास्त्रों के द्वारा निषिद्धों का त्याग कर देना चाहिए और उनमें जिसका प्रविधान है उन्हें व्यवहार में अपनाकर लोक भावना की रक्षा के साथ अनादर आदि से बचाना चाहिए।

एतदेव समासेन संप्रजन्यस्य लक्षणम् ।
यत्कायचित्तावस्थायाः प्रत्यवेक्षा मुहुर्मुहुः ।। १०८ ।।
कायेनैव पठिष्यामि वाक्पाठेन तु किं भवेत् ।
चिकित्सापाठमात्रेण रोगिणः किं भविष्यति ।। १०९ ।।

प्रत्येक मनः स्थिति को जानने वाली प्रज्ञा से चित्त तथा शरीर का बार-बार निरीक्षण करना ही संप्रजन्य का लक्षण है। इस प्रकार उसे जानकर शारीरिक आचरण में अपनाना आवश्यक है। शब्द ज्ञान मात्र से संतुष्ठ होने से कुछ लाभ नहीं होगा। जैसा कि चिकित्सा-ग्रन्थों के पाठ से रोगी का रोग दूर नहीं होता।

।। संप्रजन्य-रक्षण नामक पञ्चम परिच्छेद समाप्त ।।

षष्ठ परिच्छेद

क्षान्तिपारमिता

सर्वमेतत्सुचरितं दानं सुगतपूजनम्।
कृतं कल्पसहस्त्रैर्यत्प्रतिघः प्रतिहन्ति तत् ॥ १ ॥

न च द्वेषसमं पापं न च क्षान्तिसमं तपः।
तस्मात्क्षान्ति प्रयत्नेन भावयेद्विविधैर्नयैः ॥ २ ॥

सहस्त्र-कल्पों के दान, शील, बुद्ध पूजा आदि का सारी सुचरित, बोधिसत्त्व के प्रति एक-मात्र क्रोध से नष्ट हो सकता है। द्वेष से बढ़कर कोई पाप नहीं, क्षमा से बढ़कर कोई तप नहीं, अतः विविध यत्नों से क्षान्ति का अभ्यास करना चाहिए।

मनः शमं न गृह्णानि न प्रीतिसुखमश्नुते।
न निद्रां न धृतिं याति द्वेषशल्ये हृदि स्थिते ॥ ३ ॥

हृदय में द्वेष का काँटा रहते न मन में शान्ति मिलती है न शारीरिक सुख, न नींद आती है और न स्थिरता रहती है।

पूजयत्यर्थमानैर्यान् येऽपि चैनं समाश्रिताः।
तेऽप्येनं हन्तुमिच्छन्ति स्वामिनं द्वेषदुर्भगम् ॥ ४ ॥

सुहृदो ऽप्युद्विजन्तेऽस्माद्ददाति न च सेव्यते।
संक्षेपान्नास्ति तत्किचित्क्रोधनो येन सुस्थितः ॥ ५ ॥

धन तथा सत्कार पाकर स्वयं जिस पर निर्भर है उस स्वामी को भी क्रोधवश मारने की इच्छा उत्पन्न होती है। इस प्रकार के क्रोधित मनुष्यों के मित्र भी उदास रहते हैं, दान से संतुष्ट करने पर भी दूर रहते हैं। अतः संक्षेप में क्रोध से कोई भी सुखी नहीं होता।

एवमादीनि दुःखानि करोतीत्यरिसंज्ञया।
यः क्रोधं हन्ति निर्बन्धात् स सुखीह परत्र च ॥ ६ ॥

इस प्रकार के अनेक दुःख इसी क्रोध-शत्रु से उत्पन्न होते हैं। जो व्यक्ति अत्यन्त सावधानी से क्रोध को नष्ट करता है, वह लोक तथा परलोक में सदा सुखी रहता है।

अनिष्टकरणाज्जातमिष्टस्य च विघातनात्।
दौर्मनस्याशनं प्राप्य द्वेषो दृप्तो निहन्तिमाम् ॥ ७ ॥

अनिष्ट तथा अभीष्ट कार्यों में बाधा के कारण दौर्मनस्य का भोजन पाकर द्वेष प्रबल होकर लोक-परलोक में हमें नष्ट करता है।

तस्माद्विघातयिष्यामि तस्याशनमहं रिपोः।
यस्मान्न मद्वधादन्यत्कृत्यमस्यास्ति वैरिणः ॥ ८ ॥

इस द्वेष-शत्रु का काम केवल हमें दुःख देना है। इसलिए इस शत्रु के भोजन दौर्मनस्य का नाश करना चाहिए जिससे वह प्रबल न बने।

अत्यनिष्टागमेनापि न क्षोभ्या मुदिता मया।
दौर्मनस्येऽपि नास्तीष्टं कुशलं त्ववहीयते ॥ ९ ॥

जैसा भी हो अपने मन की सुख-शान्ति को स्थिर रखने के लिए सहन शक्ति को बढ़ावा देना चाहिए, क्योंकि दौर्मनस्य से इच्छा की पूर्ति तो नहीं होती अपितु वह पुण्यकर्म भी नष्ट कर देता है।

यद्यस्त्येव प्रतीकारो दौर्मनस्येन तत्र किम् ।
अथ नास्ति प्रतीकारो दौर्मनस्येन तत्र किम् ॥ १० ॥

यदि प्रतिकार संभव हो, दौर्मनस्य न करके प्रतिकार के उपाय करना उचित है। यदि प्रतिकार होना असंभव हो तो दौर्मनस्य से कुछ अन्तर नहीं होगा।

दुःखं न्यक्कारपारुष्यमयशश्चेत्यनीप्सितम् ।
प्रियाणामात्मनो वापि शत्रोश्चैतद्विपर्ययात् ॥ ११ ॥

अभीष्ट या अनिष्ट भाव की यह प्रक्रिया बहुत ही विचित्र है क्योंकि अपने लिए या अपने प्रिय बन्धुओं के लिए दुःख, वेदना, तिरस्कार, अलाभ और अपकीर्ति नहीं चाहते परन्तु इन्हीं बातों को हम शत्रु में देखना चाहते हैं।

कथंचिल्लभ्यते सौख्यं दुःखं स्थितमयत्नतः ।
दुःखेनैव च निःसारः चेतस्तस्माद्दृढी भव ॥ १२ ॥

संसार में तो दुःख ही दुःख है, सुख का अवसर बहुत कम है। यही जब संसार का स्वभाव है तब दुःख को स्वीकार करके दुःख से लाभ उठाना चाहिए, क्योंकि दुःख का अनुभव किये बिना संसार से मुक्त होने की इच्छा नहीं हो सकती, अतः अपने मन को इस पर स्थिरता के साथ विचार करने के लिए प्रेरित करना चाहिए।

दुर्गापुत्रककर्णाटा दाहच्छेदादिवेदनाम् ।
वृथा सहन्ते मुक्त्यर्थमहं कस्मात्तु कातरः ॥ १३ ॥

महानवमी आदि अवसरों पर चंडी के उपासक लोग उपवास रखकर जागने और काटने की पीड़ाओं को सहते हैं। दक्षिण भारत के कर्णाटक प्रदेश में मान के लिए लोग जब व्यर्थ में ही अनेक प्रकार के दुःख भोगते

हैं तो प्राणिमात्र के कल्याण जैसे अर्थपूर्ण कार्य के लिए दुःख सहने में प्रसन्नता होनी चाहिए।

न किंचिदस्ति तद्वस्तु यदभ्यासस्य दुष्करम्।
तस्मान्मृदुव्यथाभ्यासात् सोढव्यापि महाव्यथा ।। १४ ।।

ऐसी कोई वस्तु नहीं जो अभ्यास से दुष्कर हो। इसलिए हमें हल्की व्यथा सहन करके अभ्यास करने से महाव्यथा सहन करने की क्षमता उत्पन्न करनी चाहिए।

उद्दंशदंशमशकक्षुत्पिपासादिवेदनां।
महत्कण्ड्वादिदुःखं च किमनर्थं न पश्यसि ।। १५ ।।

क्योंकि सर्प, मच्छर, भूख-प्यास, खुजली आदि के दुःखों को अभ्यासवश व्यर्थ में सहा जाता है, फिर भी हम उन्हें क्यों नहीं देखते ?

शीतोष्णवृष्टिबाताध्वव्याधिबन्धनताडनैः।
सौकुमार्यं न कर्तव्यमन्यथा वर्धते व्यथा ।। १६ ।।

कम सहन-शक्ति के कारण शीत, उष्ण, वर्षा, हवा, रोग, बंधन और ताडन जैसी अवस्थाओं का अधिक दुःख अनुभव होता है, अतः सहन शक्ति बढ़ाकर दुःख कम करना चाहिए।

केचित्स्वशोणितं दृष्ट्वा विक्रमन्ते विशेषतः।
परशोणितमप्येके दृष्ट्वा मूर्च्छां व्रजन्ति च ।। १७ ।।
तच्चित्तस्य दृढत्वेन कातरत्वेन चागतम्।
दुःखदुर्योधनस्तस्माद् भवेदभिभवेद् व्यथाम् ।। १८ ।।

स्पष्ट रूप से हमें यह देखने को मिलता है कि कुछ लोगों में अपने शरीर से लोहू बहते देखकर वीरता और स्थिरता उत्पन्न होती है, परन्तु

कुछ लोग ऐसे भी हैं जो दूसरों के लोहू देखकर बेहोश हो जाते हैं। ऐसा चित्त के दृढ़ या कातर होने के कारण होता है। इसलिए व्यथा की उपेक्षा कर दुःख को कोई अवसर नहीं देना चाहिए।

दुःखेऽपि नैव चित्तस्य प्रसादं क्षोभयेद् बुधः।
संग्रामो हि सह क्लेशैर्युद्धे च सुलभा व्यथा॥ १९॥
उरसारातिघातान्ये प्रतीच्छन्तो जयन्त्यरीन्।
ते ते विजयिनः शूराः शेषास्तु मृतमारकाः॥ २०॥

बुद्धिमान् लोग दुःख से अपने चित्त दूषित नहीं होने देते, क्योंकि हम कलेश निराकरण के युद्ध के मैदान में हैं और युद्ध में दुःख और व्यथा होना स्वाभाविक है। वास्तव में वही वीर योद्धा है जो अनेक कष्ट झेलकर राग, द्वेष आदि क्लेश रूपी शत्रु पर विजय पाता है। दूसरे योद्धा की लड़ाई तो मुर्दों को काठने के समान है। वह शत्रु अपने आप मृत्यु के मुँह में जाने वाला है।

गुणोऽपरश्च दुःखस्य यत्संवेगान्मदच्युतिः।
संसारिषु च कारुण्यं पापाद् भीतिर्जिने स्पृहा॥ २१॥

दुःख के और भी अनेक गुण हैं। दुःख के संवेग से अहंकार दूर होता है सांसारिक प्राणियों पर करूणा उत्पन्न होती है, पाप-कर्म से दूर रहने की चेष्टा होती है और पुण्य-कर्म में प्रवृत्ति होती है।*

पित्तादिषु न मे कोपो महादुःखकरेष्वपि।
सचेतनेषु किं कोपस्तेऽपि प्रत्ययकोपितः॥ २२॥

---

* अन्तिम चरण का अर्थ तिब्बती पाठ के अनुसार है।
संस्कृत में प्राप्त पाठ का अर्थ है—"बुद्ध के प्रति लगाव होती है।"

दूसरा मेरी हानि करता है इसलिए उस पर क्रोध करना उचित है, ऐसा तर्क भी नहीं दे सकते, क्योंकि अपना पित्त आदि की असंतुलन ही दुःखों का कारण है। फिर पित्त आदि पर क्रोधित न होकर विशेषकर चेतन के प्रति क्रोध क्यों ? अर्थात् उन पर क्रोध नहीं होना चाहिए। किसी प्रत्यय से प्रेरित होने के कारण पित्त आदि पर क्रोध उत्पन्न नहीं होता, तो वह व्यक्ति या जीव भी क्लेश के कारणवश हानि करता है, स्वेच्छा और स्वतन्त्रता से नहीं।

अनिष्यमाणमप्येतच्छूलमुत्पद्यते यथा।
अनिष्यमाणोऽपि बलात् क्रोध उत्पद्यते तथा ॥ २३ ॥

जैसे कारणवश अनचाहे हमारे शरीर में रोग उत्पन्न होता है, वैसे ही दौर्मनस्य आदि के कारण अनायास क्रोध जैसे क्लेश उत्पन्न होते हैं, इसलिए हमें उस व्यक्ति से नहीं परन्तु क्लेश से क्रोध करना चाहिए जो सभी दुःखों की जड़ है।

कुप्यामीति न संचिन्त्य कुप्यति स्वेच्छया जनः।
उत्पत्स्य इत्यभिप्रेत्य क्रोध उत्पद्यते न च ॥ २४ ॥

क्लेश की कोई इच्छा नहीं होती और शत्रु जैसे व्यक्ति सोद्देश्य हमें हानि पहुँचाते हैं, इसलिए उस व्यक्ति पर क्रोध करना उचित है, ऐसा तर्क देना भी असंगत है—क्योंकि क्रोध दिखाने की स्वेच्छा के विना कारणवश क्रोधित होता है और अनचाहे ही क्लेशवश क्रोध उत्पन्न होता है।

ये केचिदपराधाश्च पापानि विविधानि च।
सर्वं तत्प्रत्ययबलात् स्वतन्त्रं तु न विद्यते ॥ २५ ॥

संक्षेप में जितना क्लेश-दोष है और उन दोषों से प्रेरित होकर नाना-प्रकार के पाप, कारण के बल पर उत्पन्न होते हैं, स्वेच्छा से नहीं। अतः

जैसे कारणवश नीचे की ओर बहने वाले पानी पर क्रोध करना व्यर्थ है वैसा ही समझकर क्रोध पर नियन्त्रण रखना चाहिए।

न च प्रत्ययसामग्र्या जनयामीति चेतना।
न चापि जानितस्यास्ति जनितोऽस्मीति चेतना॥ २६॥

इसी प्रकार क्लेश-उत्पत्ति के कारणों में भी उसने क्लेश उत्पन्न किया ऐसा कोई विचार नहीं होता और उस क्लेश से उत्पन्न किए हुए दुःखों को भी ऐसी कोई चेतना नहीं होती जिससे यह समझें कि उस कारण ने हमें उत्पन्न किया है। इसीलिए दूसरों की हानि पर कदापि क्रोधित नहीं होना चाहिए।

पाँचवाँ दिन

[आज इस उपदेश-क्रम का पाँचवाँ दिन है। यहाँ, हमें धर्म उपदेश को सुन ने और धर्म—अभ्यास करने का सुअवसर प्राप्त है। हमको मानव जीवन पाकर बुद्ध-शासन के दर्शन का सौभाग्य मिला है। अतः यथासंभव प्रयत्न से अभ्यास करना चाहिए। जैसा भगवान् तथागत ने कहा था—

"सब्बपापस्स अकरणं कुसलस्य उपसम्पदा।
सचित्त परियोदपनं एतं बुद्धान सासनम्॥"

अर्थात् "सारे पाप कर्मों का न करना, पुण्यों का संचय करना तथा अपने चित्त को दान्त एवं परिशुद्ध करना, यही बुद्धों का शासन हैं।" इसी प्रकार धर्म के सारतत्त्व को जानकर लाभ उठाना चाहिए, क्योंकि हम सुख के अभिलाषी है तो सुख प्राप्ति का साधन या कारण पुण्य कमाना है और हम दुःख के अनिच्छुक हैं, अतः दुःख के हेतु पाप का निराकरण करना चाहिए। सब की जड़ अपने-चित्त को नियन्त्रित करके बुद्ध-शिक्षा

का अभ्यास करना लाभदायक सिद्ध होगा। इस कठोर तथा अदान्त मन को नियन्त्रित और शान्त करने में कौशल प्राप्त करना चाहिए, जिसके लिए बहुश्रुत होना आवश्यक है। विना उसके ज्ञान सम्पन्न हो नहीं सकता। इसलिए इस ग्रन्थ का उपदेश भी ध्यानपूर्वक और शुद्ध मन से सुनकर शिक्षा लें।

चित्त स्वभाव के कठोर होने के मुख्य कारण क्रोध तथा द्वेष है, इनका दमन कर इन्हें नियन्त्रण में लाना आवश्यक है, हमें क्रोधी होने से बचना और इसका श्रेष्ठ उपाय क्षमा है, अतः इस परिच्छेद की शिक्षा लेकर क्षान्ति का अभ्यास करना चाहिए।]

यत्प्रधानं किलाभीष्टं यत्तदात्मेति कल्पितम्।
तदेव हि भवामीति न संचिन्त्योपजायते ॥ २७ ॥

सांख्य आदि के मतानुसार यह प्रश्न हो सकता है कि क्रोध आदि का कारण प्रधान या आत्मा है और वे स्वतंत्र हैं, अतः क्रोध जैसा दोष प्रतिपक्ष से निवृत नहीं हो सकता। इसका समाधान में यह है कि कल्पित आत्मा तथा प्रधान क्रोध आदि का स्वतंत्र कारण नहीं हो सकता, क्योंकि न तो प्रधान तथा आत्मा का विषय भोग की इच्छा हैं और न वे सक्रिय हैं।

अनुत्पन्नं हि तन्नास्ति क इच्छेद् भवितुं तदा।
विषयव्यावृतत्वाच्च निरोद्धुमपि नेहते ॥ २८ ॥

जब स्वयं प्रधान उत्पन्न नहीं होता तो क्रोध आदि की उत्पत्ति की इच्छा कैसे उत्पन्न हो सकती है, अर्थात् नहीं होगी। इसी प्रकार आत्मा या पुरुष भी क्रोध आदि का कारण हो नहीं सकता क्योंकि वह नित्य विषय-प्रवृत्त नहीं, यह दैनिक अनुभव से सिद्ध होता है, तो वह स्वतन्त्र कारण कैसे?

नित्यो ह्यचेतनश्चात्मा व्योमवत्स्फुटमक्रियः ।
प्रत्ययान्तरसंगेऽपि निर्विकारस्य का क्रिया ॥ २९ ॥

नैय्यायिकों के मतानुसार यदि वह आत्मा नित्य है तो भी वह दुःख, क्रोध आदि का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि वह आकाशवत् निष्क्रिय है और जिसका कोई परिवर्तन नहीं उसकी प्रत्ययों से संपर्क होने पर भी कोई क्रिया होना असंभव है ।

यः पूर्ववत् क्रियाकाले क्रियायास्तेन किं कृतम् ।
तस्य क्रियेति संबन्धे कतरत्तन्निबन्धनम् ॥ ३० ॥

यदि आत्मा नित्य है, तो प्रत्ययों के साथ संपर्क के समय भी पूर्ववत् निष्क्रिय होगा इसलिए यह उस आत्मा का प्रत्यय है, ऐसा हो नहीं सकता, क्योंकि नित्य का परिवर्तन तथा हेतु-फल का संबन्ध नहीं होता ।

एवं परवशं सर्वं यद्वशं सोऽपि चावशः ।
निर्माणवदचेष्टेषु भावेष्वेवं क्व कुप्यते ॥ ३१ ॥

अतः सब कुछ परतन्त्र है क्योंकि सभी अपने कारण के वश में होता है । वास्तव में वह निर्मितों के समान हैं, इसलिए उन पर क्रोध करना बेकार है ।

वारणापि न युक्तैवं कः किं वारयतीति चेत् ।
युक्ता प्रतीत्यता यस्माद्दुःखस्योपरतिर्मता ॥ ३२ ॥

यहाँ यह प्रश्न आता है कि यदि सब कुछ निर्मितों के समान है तो माया रूपी प्रतिपक्ष के द्वारा माया रूपी धर्मों का निवारण होने से क्या लाभ हो सकता है ? ऐसा करना उचित है क्योंकि माया रूपी धर्मों से होने वाले दुःखो का हम अन्त चाहते हैं, अतः इनका निवारण करना सार्थक है ।

तस्मादमित्रं मित्रं वा दृष्ट्वाप्यन्यायकारिणम् ।
ईदृशाः प्रत्यया अस्येत्येवं मत्वा सुखी भवेत् ॥ ३३ ॥

इसलिए चाहे शत्रु हो या मित्र, जिस किसी का जैसा भी अनुचित व्यवहार हो, वह इस प्रकार के करणों से प्रेरित है ऐसा सोचकर अपने मन को शान्त रखना चाहिए।

यदि तु स्वेच्छया सिद्धिः सर्वेषामेव देहिनाम् ।
न भवेत् कस्य चिद्दुःखं न दुःखं कश्चिदिच्छति ॥ ३४ ॥

यदि कारणवश न होकर स्वेच्छया या स्वतन्त्र रूप से ऐसा व्यवहार होता हो तो कोई भी प्राणी दुःखी नहीं हो सकता क्योंकि कोई भी प्राणी स्वेच्छा से दुःखी होना नहीं चाहेगा।

प्रमादादात्मनात्मानं बाधन्ते कण्टकादिभिः ।
भक्तच्छेदादिभिः कोपाद् दुरापस्त्र्यादिलिप्सया ॥ ३५ ॥
उद्बन्धनप्रपातैश्च विषापथ्यादिभक्षणैः ।
निघ्नन्ति केचिदात्मानमपुण्याचरणेन च ॥ ३६ ॥

परन्तु प्रमाद के कारण कोई काँटे आदि से अपने आप को कष्ट पहुँचाता है, तो कोई स्त्री, धन आदि की कामना से भोजन त्याग कर पीड़ित होते हैं, और कोई फाँसी लगाकर या चट्टानों से गिरकर तथा विष आदि अपथ्य खाकर आत्महत्या करते हैं। इसी प्रकार प्रमादवश जीव जन्म-जन्मान्तर में हानि-कारक पाप जैसे कर्म करके अपने प्रति अनेक प्रकार की हानि करता है।

यदैवं क्लेशवश्यत्वाद् घ्नन्त्यात्मानमपि प्रियम् ।
तदैषां परकायेषु परिहारः कथं भवेत् ॥ ३७ ॥

संक्षेप में यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि क्लेशवश इस प्रकार अपना भी जब अन्त (हत्या) करता है तो दूसरों के शरीर को हानि पहुँचाना स्वाभाविक है।

[क्रोधवश हम कुछ भी कर बैठते हैं, जैसे गुस्से में आप एक बहुत अच्छी चीज को तोड़ देते हैं और गुस्सा शान्त होने पर, "अरे, मैंने क्या कर डाला, ऐसा नहीं होना चाहिए था", इस प्रकार पश्चात्ताप करते हैं। यही नहीं क्रोधित होने पर हम अच्छे बुरे का विवेक खो देते हैं, दूसरों को भला-बुरा कहते हैं, लड़ाई झगड़ा करते हैं। साधारण तथा एक भला आदमी भी क्रोधवश लड़ने झगड़ने लगते हैं और दूसरे दिन लज्जित होकर सिर छिपाता है।]

क्लेशोन्मत्तीकृतेष्वेषु प्रवृत्तेष्वात्मघातने ।
न केवलं दया नास्ति क्रोध उत्पद्यते कथम् ॥ ३८ ॥

क्लेशवश आत्महत्या जैसा आचरण दिखाई देता है तो हमें वैसा करने वाले प्राणियों पर दया करनी चाहिए न कि क्रोध।

यदि स्वभावो बालानां परोपद्रवकारिता ।
तेषु कोपो न युक्तो मे यथाग्नौ दहनात्मके ॥ ३९ ॥

जैसे आग का धर्म या स्वभाव ही जलाना है तो ताप के कारण आग पर क्रोधित न होना ही उचित है, वैसे ही दूसरों को हानि पहुँचाना या उपद्रव करना अज्ञानियों का स्वभाव है, अतः उन पर गुस्सा उत्पन्न होना अनुचित है। (यहाँ मूल में प्रयुक्त "बाल" शब्द का प्रयोग विभिन्न अवस्थाओं में होता है, जैसे आयु में छोटे या मोक्ष से दूर पृथग्जन के लिए या ज्ञान की कमी होने पर भी बाल कहा जाता है। अतः यहाँ पर अज्ञानी पुरूषों के प्रति संकेत है।)

अथ दोषोऽयमागन्तुः सत्त्वाः प्रकृतिपेशलाः।
तथाप्ययुक्तस्तत्कोपः कटुधूमे यथाम्बरे ॥ ४० ॥

ऐसा जब अज्ञानी मनुष्यों का स्वभाव है, तो क्रोधादि आकस्मिक दोष होने पर भी उस प्राणी पर दोषारोपण करना अनुचित है जैसे आकाश में धुएँ या बादल के छा जाने पर आकाश के प्रति, जो अपने आप में निर्मल है, क्रोधित होना अनुचित है।

मुख्यं दण्डादिकं हित्वा प्रेरके यदि कुप्यते।
द्वेषेण प्रेरितः सोऽपि द्वेषे द्वेषोऽस्तु मे वरम् ॥ ४१ ॥

यदि आप यह तर्क देते हैं कि दूसरों को कष्ट पहुँचाना पृथग्जनों का स्वभाव होता है या आकस्मिक कारण से वह मुझे पीड़ित करता है, अतः उस पर मुझे क्रोध आता है, ऐसा सोचना भी निरर्थक है,—नहीं तो फिर जब कोई आप को डण्डे से पीटता है तो उस समय वास्तविक पीड़ा वह डण्डा, शस्त्र आदि पहुँचाता है उस पर क्यों क्रोध नहीं आता, यदि इसलिए कि डण्डा का प्रयोग करने वाला वह पुरुष हैं, अतः उस पर क्रोध आता है, जब कि उस पुरुष को डण्डा मारने के लिए प्रेरित करने वाला द्वेष है, इसलिए द्वेष पर क्रोध करना चाहिए न कि उस पुरुष पर।

मयापि पूर्वं सत्त्वानामीदृश्येव व्यथा कृता।
तस्मान्मे युक्तमेवैतत्सत्त्वोपद्रवकारिणः ॥ ४२ ॥

इस प्रकार परीक्षा करके हमें इस निष्कर्ष पर आना चाहिए कि ये जो अनेक प्रकार की दुःख पीड़ाएँ हम पर प्रभाव जमा रही हैं उन सबकी जड़ 'स्वयं' हैं, क्योंकि अनेक पूर्व जन्मों में हमने असंख्य प्राणियों को कष्ट पहुँचाया है जिसके फलस्वरूप इस समय दूसरों से हमारे ऊपर दुःख-दायक कार्य प्रतिफलित हो रहे हैं।

तच्छस्त्रं मम कायश्च द्वयं दुःखस्य कारणम् ।
तेन शस्त्रं मया कायो गृहीतः कुत्र कुप्यते ।। ४३ ।।

और यह भी कारण है कि—यदि हमारा यह संस्कृत भौतिक शरीर ही न होता तो दूसरों के शस्त्रों से पीड़ा न होती, अतः दूसरों को दोषी ठहराकर क्रोधित होना अनुचित है। उसके शस्त्र और अपने शरीर दोनों दुःख के कारण हैं।

गण्डोऽयं प्रतिमाकारो गृहीतो घट्टनासहः ।
तृष्णान्धेन मया तत्र व्यथायां कुत्र कुप्यते ।। ४४ ।।

मानव शरीर के आकार में जब यह पीड़ा सहिष्णु फोड़ा या छाला हमने धारण किया है, तो इसके पीड़ित होने पर किस पर क्रोध करें ?

दुःखं नेच्छामि दुःखस्य हेतुमिच्छामि बालिशः ।
स्वापराधागते दुःखे कस्मादन्यत्र कुप्यते ।। ४५ ।।

अज्ञानी मनुष्य अपनी तृष्णा के कारण दुःख न चाहते हुए भी दुःख के अनेक कारण सदा संचय करते हैं, फिर अपने कर्म के फल भोगते समय दूसरों पर क्रोध क्यों ?

असिपत्रवनं यद्वद्यथा नारकपक्षिणः ।
मत्कर्मजनिता एव तथेदं कुत्र कुप्यते ।। ४६ ।।

जैसे नरक के विभिन्न प्रकार के रक्षक और असिपत्र-वन स्वयं अपने कर्म से उत्पन्न होतें हैं, वैसे ही यह सांसारिक दुःख-पीड़ा भी हैं, अतः किस पर क्रोध करें, किसे दोषी ठहराएँ।

मत्कर्मचोदिता एव जाता मय्यपकारिणः ।
येन यास्यन्ति नरकान्मयैवामी हता ननु ।। ४७ ।।

हम पर दुःख-पीड़ा पहुँचाने या क्रोध तथा द्वेष उत्पन्न होने के कारण ही दूसरे प्राणी नरक में पतित पोते हैं, इसलिए अप्रत्यक्ष रूप से हम उनके दुःख-पीड़ा के उत्तरदायी हैं।

दूसरी ओर यदि हमें दूसरों की हानि के प्रति क्षमा करने से बहुत अधिक लाभ मिल सकता है। जैसे—

एतानाश्रित्य मे पापं क्षीयते क्षमतो बहु।
मामाश्रित्य तु यान्त्येते नरकान् दीर्घवेदनान् ॥ ४८ ॥
अहमेवापकार्येषां ममैते चोपकारिणः।
कस्माद्विपर्ययं कृत्वा खलचेतः प्रकुप्यसि ॥ ४९ ॥

दूसरों के क्रोध या हानि पर क्षमा के अभ्यास करने से अपने पापों की शुद्धि होती है, परन्तु दूसरी ओर हमें हानि पहुँचाने वालों को चिर-काल के लिए नरक का दुःख भोगना पड़ता है, अर्थात् वास्तव में हमारे उनके अपकारी होते हुए भी वे हमारे उपकारी हैं, अतः विचार के प्रतिपक्ष के आधार पर उन पर क्रोध नहीं करना चाहिए।

भवेन्ममाशयगुणो न यामि नरकान्यदि।
एषामत्र किमायातं यद्यात्मा रक्षितो मया ॥ ५० ॥

यदि अपने हृदय में क्षमा का सद्गुण होगा तो हम नरक से बच सकते हैं। अपने चित्त को वश में रखने पर दूसरों का भी कुछ बिगड़ता नहीं।

अथ प्रत्यपकारी स्यां तथाप्येते न रक्षिताः।
हीयते चापि मे चर्या तस्मान्नष्टास्तपस्विनः ॥ ५१ ॥

यदि हम अपकार के प्रति अपकार करेंगे तो हम दूसरों को क्रोधित

होने से बचा नहीं पायेंगे, इससे उनकी रक्षा भी नहीं होगी और अपनी चर्या भी भ्रष्ट हो जायेगी।

हमें भगवान् तथागत बुद्ध के अनुयायी होकर दूसरों की हिंसा से सदैव बचना चाहिए। जैसे प्रतिमोक्षसूत्र में कहा गया है, कि जो दूसरों की हिंसा करता है वह बौद्ध तपस्वी नहीं। अतः एक बौद्ध और विशेष-कर महायान के साधक बोधिसत्त्व के द्वारा हिंसा तथा अपकार किये जाने पर अपनी चर्या भ्रष्ट होगी और साथ ही साथ तपस्या भी भंग होगी।

यहाँ तक मुख्यतः शारीरिक हानि के प्रति क्षमा रखने की बातें हुई, अब आगे कटु वचन, अपमान जैसी वाणी से होने वाली परिस्थितियों में क्षमा का अभ्यास कैसे होना चाहिए, इसका वर्णन आता है।

मनो हन्तुममूर्तत्वान्न शक्यं केन चित् क्वचित्।
शरीराभिनिवेशात्तु कायदुःखेन बाध्यते॥ ५२॥
न्यक्कारः परुषं वाक्यमयशश्चेत्ययं गणः।
कायं न बाधते तेन चेतः कस्मात्प्रकुप्यसि॥ ५३॥

यह चित्त अमूर्त है, कोई इसे नष्ट नहीं कर सकता, परन्तु इस शरीर के प्रति अधिक असक्ति के कारण शरीर पर दुःख पीड़ा का प्रभाव होता है। परन्तु कटु भाषण, तिरस्कार तथा अपकीर्ति परक शब्दों से जब शरीर पर कुछ हानि नहीं होती तब चित्त पर नहीं हो सकती। अतः ऐसी शब्द सुनकर क्रोधित नहीं होना चाहिए।

मय्यप्रसादो योऽन्येषां स मां किं भक्षयिष्यति।
इह जन्मान्तरे वापि येनासौ मेऽनभीप्सितः॥ ५४॥

दूसरे लोग हमसे द्वेष रखते है या हम पर अप्रसन्न होते हैं इसलिए यदि उन पर क्रोध करना उचित समझें भी तो उचित नहीं क्योंकि दूसरों के द्वेष

या अप्रसन्नता के शब्द हमारी कुछ हानि नहीं कर सकते, उन पर हमारी आनंष्ट होना व्यर्थ है।

लाभान्तरायकरित्वाद् यसौ मेऽनभीप्सितः।
नङ्क्ष्यतीहैव मे लाभः पापं तु स्थास्यति ध्रुवम् ॥ ५५ ॥

यदि यह तर्क दें कि दूसरों के अपमानकारी शब्दों से मेरा लाभ या जीविका साधन कम होता है, इसलिए उनके प्रति क्रोध करना उचित है। तो यहाँ पर यह विचार होना चाहिए कि जितना ज्यादा लाभ मिले वह सबका सब इस लोक में छोड़ जाना है और जो पाप हम लाभ के लिए संचय करेंगे उससे परलोक में साथ आकर कुफल प्राप्त होंगे। इसलिए क्रोध नहीं करना चाहिए।

वरमद्यैव मे मृत्युर्न मिथ्याजीवितं चिरम्।
यस्माच्चिरमपि स्थित्वा मृत्युदुःखं तदेव मे ॥ ५६ ॥

चिरकाल तक मिथ्याजीविका का लाभ पाकर जीने से आज ही विना लाभ के मरना अच्छा है क्योंकि अन्त में मरना निश्चित है तब मिथ्या जीविका से जीकर पाप कमाने से मृत्यु अच्छी है।

स्वप्ने वर्षशतं सौख्यं भुक्त्वा यश्च विबुध्यते।
मुहूर्तमपरो यश्च सुखी भूत्वा विबुध्यते ॥ ५७ ॥
ननु निवर्तते सौख्यं द्वयोरपि विबुद्धयोः।
सैवोपमा मृत्युकाले चिरजीव्यल्पजीविनोः ॥ ५८ ॥

जैसे कोई सपने में सौ वर्षों का सुख भोगकर जागता है और कोई दूसरा क्षण भर का सुखद स्वप्न देखकर जागता है, जागने के बाद दोनों समान रूप से निरर्थक हैं, फिर वह सुख लौटता नहीं, उसी प्रकार चिरजीवी और अल्पजीवी दोनों मृत्यु के समय समान है, मात्र स्मृति का विषय है।

लब्ध्वापि च बहूंल्लाभान् चिरं भुक्त्वा सुखान्यपि ।
रिक्तहस्तश्च नग्नश्च यास्यामि मुषितो यथा ॥ ५९ ॥

बहुत अधिक लाभ पाकर चिरकाल तक उपभोग करके भी मृत्यु आने पर सब कुछ लुटे हुये व्यक्ति की भांति निर्धन, खाली हाथ और नंगा जाना होगा।

पापक्षयं च पुण्यं च लाभाज्जीवन् करोमि चेत्।
पुण्यक्षयश्च पापं च लाभार्थं क्रुध्यतो ननु ॥ ६० ॥

लाभ के द्वारा चिरकाल तक जीवित रहकर पापक्षय और पुण्यार्जन कर सकूँगा ऐसा विचार होना भी अनुचित है, क्योंकि लाभ प्राप्ति के लिए क्रोध, द्वेष आदि उत्पन्न होने पर पाप ही पाप अर्जित होगा, तो पुण्य संचय का अवसर कहाँ ?

यदर्थमेव जीवामि तदेव यदि नश्यति।
किं तेन जीवितेनापि केवलाशुभकारिणा ॥ ६१ ॥

पुण्य संचय के आचरण से भ्रष्ट होकर, पाप कमाने में जीवन व्यतीत करना व्यर्थ है।

अवर्णवादिनि द्वेषः सत्त्वान् नाशयतीति चेत्।
परायशस्करेऽप्येवं कोपस्ते किं न जायते ॥ ६२ ॥

मेरी निन्दा होने से मुझ पर विश्वास करने वाले तथा मेरा आदर करने वालों का अहित होता है, अतः क्रोध करना उचित है, यदि ऐसा विचार हो तो दूसरों की निन्दा करने वालों पर भी क्रोधित होना चाहिए।

परायत्ताप्रसादत्वादप्रसादिषु ते क्षमा।
क्लेशोत्पादपरायत्ते क्षमा नावर्णवादिनि ॥ ६३ ॥

अप्रसाद का कारण किसी दूसरे पर आश्रित है, इसलिए उसे सहन कर सकते हैं, तो स्वयं की निन्दा करने वालों पर भी क्षमाशील होना चाहिए क्योंकि वे लोग भी क्लेश के कारण निन्दा करते हैं।

प्रतिमास्तूपसद्धर्मनाशकाक्रोशकेषु च।
न युज्यते मम द्वेषो बुद्धादीनां न हि व्यथा ॥ ६४ ॥

बुद्ध आदि की प्रतिमा, स्तूप और धर्म के नाश करने वाले तथा निन्दकों पर भी द्वेष नहीं होना चाहिए, क्योंकि वास्तव में बुद्ध आदि पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

गुरुसालोहितादीनां प्रियाणां चापकारिषु।
पूर्ववत् प्रत्ययोत्पादं दृष्ट्वा कोपं विचारयेत् ॥ ६५ ॥

उपर्युक्त कारणों को ध्यान में रखकर अपने गुरू, मित्र—बन्धु तथा आचार्यों के प्रति हानि करने वालों को भी क्षमा करना चाहिए।

चेतनाचेतनकृता देहिनां नियता व्यथा।
सा व्यथा चेतने दृष्टा क्षमस्वैनां व्यथामतः ॥ ६६ ॥

हमारे ऊपर हानि पहुँचाने वाले चेतन-अचेतन दोनों के होते हुए, ऐसा कोई कारण नहीं कि हम विशेषतः चेतन पर ही क्रोध करें।

मोहादेकेऽपराध्यन्ति कुप्यन्त्यन्ये विमोहिताः।
ब्रूमः कमेषु निर्दोषं कं वा ब्रूमोऽपराधिनम् ॥ ६७ ॥

(दूसरा) कोई अज्ञानवश दोष करता है और स्वयं अज्ञान या क्लेश-वश क्रोधित होता है तो वहाँ पर यह परीक्षा होनी चाहिए कि वास्तव में कौन दोषी है, और कौन निर्दोष है।

कस्मादेवं कृतं पूर्वं येनैवं बाध्यसे परैः ।
सर्वे कर्मपरायत्ताः कोऽहमत्रान्यथाकृतौ ॥ ६८ ॥

जितना दुःख और हानि हमारी हो रही है वह पूर्व कर्म का फल है, जब अपना कर्म कर लिया है और सब कुछ कर्म पर निर्भर है तो दूसरों से द्वेष क्यों ?

एवं बुद्ध्वा तु पुण्येषु तथा यत्नं करोम्यहम् ।
येन सर्वे भविष्यन्ति मैत्रचित्ताः परस्परम् ॥ ६९ ॥

यह जानकर कि हर एक प्राणी हमारी तरह सुख का अभिलाषी है, हम एक दूसरे के प्रति करूणा, मैत्री तथा सदभाव-युक्त व्यवहार करें, इस इच्छा से मैत्री भावना उत्पन्न करने की कोशिश होनी चाहिए ।

दह्यमाने गृहे यद्वदग्निर्गत्वा गृहान्तरम् ।
तृणादौ यत्र सज्येत तदाकृष्यापनीयते ॥ ७० ॥

एवं चित्तं यदासंगाद्दह्यते द्वेषवह्निना ।
तत्क्षणं तत्परित्याज्यं पुण्यात्मोद्दाहशंकया ॥ ७१ ॥

जैसे किसी एक घर में आग लग जाये तो उस आग की लपटों से दूसरे घर को बचाने के लिए वहाँ की घास भूसा जैसे सरलता से आग पकड़ने वाली वस्तुओं को दूर फेंकना उचित है, उसी प्रकार जिस के प्रति राग उत्पन्न होने के कारण क्रोध, द्वेष आदि उत्पन्न होने की आशंका है उसका तुरन्त परित्याग करना उचित है ।

मारणीयः करं छित्त्वा मुक्तश्चेत् किमभद्रकम् ।
मनुष्यदुःखैर्नरकान्मुक्तश्चेत् किमभद्रकम ॥ ७२ ॥

यदि प्राण दण्ड के बदले एक हाथ काटकर जीवन की रक्षा की जा सकती है तो हाथ कटना अच्छा है, वैसे ही यदि इस मानव जीवन की पीड़ाओं से नरक से मुक्ति हो सकती है तो इस का कष्ट सहना उचित है।

यद्येतन्मात्रमेवाद्य दुःखं सोढुं न पार्यते ।
तन्नारकव्यथाहेतुः क्रोधः कस्मान्न वार्यते ।। ७३ ।।

यहाँ साधारण दुःख और कष्ट भी सहन नहीं कर पाते तो नरक के दुःख कैसे सह सकेगें ? अतः हमें नारकीय दुःखों के मूल कारण क्रोध का निवारण करना आवश्यक है।

कोपार्थमेवमेवाहं नरकेषु सहस्रशः ।
कारितोऽस्मि न चात्मार्थः परार्थो वा कृतो मया ।। ७४ ।।
न चेदं तादृशं दुःखं महार्थं च करिष्यति ।
जगद्दुःखहरे दुःखे प्रीतिरेवात्र युज्यते ।। ७५ ।।

अब तक असंख्य जन्मों में नरक आदि के कामवश जितने भी दुःख हमने झेले, वह न अपने कल्याण के लिए हुये और न ही दूसरों के, परन्तु आज बोधिसत्त्वचर्या के लिए जितना भी कष्ट सहना पड़े वह बहुत कम है और हर समय सब के लिए हितकारी है, इसलिए हमें सहर्ष इसका अभ्यास करना चाहिए।

[अब आगे यह उपाय दर्शाते हैं कि कोई आप के शत्रु की प्रशंसा या भलाई करता है तो उस पर भी क्रोध उत्पन्न होता है, इस प्रकार के चित्त की प्रक्रिया का निवारण कैसे हो, उसका दमन कैसे करना चाहिए, जो क्षान्ति अभ्यास के लिए अत्यन्त आवश्यक है।]—

यदि प्रीतिसुखं प्राप्तमन्यैः स्तुत्वा गुणोर्जितम् ।
मनस्त्वमपि तं स्तुत्वा कस्मादेवं न हृष्यसि ।। ७६ ।।

यदि आप को शत्रु की प्रशंसा होते देखकर क्रोध उत्पन्न होने लगे तो अपने चित्त को यह कहकर समझाना चाहिए कि उस शत्रु की प्रशंसा से आनन्दित होते देखकर तुम भी उसका गुण गाकर आनन्द क्यों नहीं लेते, जब की गुणों की पहचान एक अच्छी बात है।

इदं च ते हृष्टिसुखं निरवद्यं सुखोदयम्।
न वारितम् च गुणिभिः परावर्जनमुत्तमम्॥ ७७॥

इस प्रकार का आनन्द सुख का साधन है, बुद्धों तथा बोधिसत्त्वों ने भी इसका निषेध नहीं किया है, और दूसरे लोग भी आपके प्रति उग्र होकर कहेंगे कि अमुक आदमी ईर्ष्यालु नहीं है, वह एक अच्छा आदमी है।

तस्यैव सुखमित्येवं तवेदं यदि न प्रियम्।
भृतिदानादिविरते दृष्टादृष्टं हतं भवेत्॥ ७८॥

यदि दूसरों को प्रसन्न करना नहीं चाहते तो वेतन, उपहार, खाना आदि देना अनुचित है, क्योंकि इन कार्यों का लक्ष्य दूसरों को हर्षित करना है। इस आचरण से न इस जीवन में लाभ होगा न भावी जन्मों में कल्याण होगा।

स्वगुणे कीर्त्यमाने च परसौख्यमपीच्छसि।
कीर्त्यमाने परगुणे स्वसौख्यमपि नेच्छसि॥ ७९॥

यह बहुत विचित्र प्रवृत्ति है, कि अपनी प्रशंसा होने पर दूसरे लोग प्रसन्न हों, परन्तु दूसरों के गुणकीर्तन होने पर स्वयं सुखी न हों (ईर्ष्या आदि उत्पन्न होती है।)

बोधिचित्तं समुत्पाद्य सर्वसत्त्वसुखेच्छया।
स्वयं लब्धसुखेष्वद्य कस्मात्सत्त्वेषु कुप्यसि॥ ८०॥

प्राणिमात्र के सुख-कल्याण के लिए बोधिचित्त उत्पन्न करके फिर दूसरों की अल्प सुख शान्ति देखकर प्रसन्न न होकर कोप उत्पन्न होना किसी प्रकार उचित नहीं, क्योंकि चित्तोत्पाद का प्रयोजन दूसरों को सुखी करना है।

त्रैलोक्यपूज्यं बुद्धत्वं सत्त्वानां किल वाञ्छसि।
सत्कारमित्वरं दृष्ट्वा तेषां किं परिदह्यसे॥ ८१॥

यही नहीं, जब हम हर एक प्राणी के त्रैलोक्य पूज्य बुद्धत्व प्राप्ति की कामना करते हैं, तो क्यों दूसरों के नगण्य सत्कार को देखकर अप्रसन्नता प्रकट करते हैं।

पुष्णाति यस्त्वया पोष्यं तुभ्यमेव ददाति सः।
कुटुम्बजीविनं लब्ध्वा न हृष्यसि प्रकुप्यसि॥ ८२॥

उदाहरणार्थ—जिस प्रकार कोई मित्र-बन्धु है जिस का हमे पालन-पोषण करना है, यदि वह अपनी टाँग पर खड़ा होकर हमारे बोझ को हलका कर देता है तो स्वयं प्रसन्न होना स्वाभाविक है, उसी प्रकार किसी भी प्राणी को सुख सत्कार पाते देखकर अवश्य प्रसन्न होना चाहिए।

स किं नेच्छति सत्त्वानां यस्तेषां बोधिमिच्छति।
बोधिचित्तं कुतस्तस्य योऽन्यसंपदि कुप्यति॥ ८३॥

दूसरों की ऐसी अल्प सुख शान्ति पर ईर्ष्या और द्वेष उत्पन्न होने पर उस प्राणी के प्रति बोधि प्राप्ति की कामना और दूसरों के सत्कार पाने पर क्रोधित होने वाले व्यक्ति के हृदय में बोधिचित्तोत्पाद कैसे हो सकता है? अर्थात् ऐसा असंभव है।

यदि तेन न तल्लब्धं स्थितं दानपतेर्गृहे।
सर्वथापि न तत्तेऽस्ति दत्तादत्तेन तेन किम्॥ ८४॥

कोई लाभ-सत्कार पा रहा हो, या उसे देने के लिए किसी दानदाता के घर में पड़े हों, वह लाभ सत्कार जब हमें मिलने वाला ही नहीं तो ईर्ष्या द्वेष करना निरर्थक है।

> किं वारयत्तु पुण्यानि प्रसन्नान् स्वगुणानथ।
> लभमानो न गृह्णातु वद केन न कुप्यसि ॥ ८५।

दूसरों के लाभ सत्कार आदि के प्रति ईर्ष्या द्वेष जैसे अनुचित व्यवहार से हमारे आदर, सत्कार तथा कीर्ति का नाश होगा, अतः वास्तव में लाभ, सत्कार और कीर्ति चाहते हैं तो स्वयं अपनी ओर से पुण्य, श्रद्धा और अच्छा आचरण होना चाहिए, यही लाभ-सत्कार, नाम, यश आदि का स्रोत है।

> न केवलं त्वमात्मनं कृतपाप न शोचसि।
> कृतपुण्यैः सह स्पर्धामपरैः कर्तुमिच्छसि ॥ ८६ ॥

दूसरों के पुण्यकर्म देखकर ईर्ष्या, द्वेष आदि उत्पन्न होने पर अपने चित्त से यह प्रश्न करना चाहिए, कि तुम दुष्ट हो, अपने पाप-कर्मों के प्रति अनुशोच या देशना नहीं करते, दूसरों के पुण्यकर्म के लिए ईर्ष्या द्वेष क्यों करते हो ?

> जातं चेदप्रियं शत्रोस्त्वत्तुष्ट्या किं पुनर्भवेत्।
> त्वदाशंसनमात्रेण न चाहेतुर्भविष्यति ॥ ८७ ॥

शत्रु को दुःख में देखकर अपनी ओर से प्रसन्नता प्रकट करना भी निरर्थक है। मात्र कामना से हमारे सभी मनोरथ पूरे नहीं हो सकते।

> अथ त्वदिच्छया सिद्धं तद्दुःखे किं सुखं तव।
> अथाप्यर्थो भवेदेवमनर्थः कोन्वतः परः ॥ ८८ ॥

तुम्हारी इच्छा के अनुकूल दूसरा दुःखी होने पर भी उसके दुःख से तुम्हें क्या मिलने वाला है। यदि यही तुम्हारा मनोरथ है तो यह सब से बड़ा पाप कर्म होगा।

एतद्धि बडिशं घोरं क्लेशबाडिशिकार्पितम्।
यतो नरकपालास्त्वां क्रीत्वा पक्ष्यन्ति कुम्भिषु ॥ ८९ ॥

क्लेश रूपी मछुए के पाप की यह कँटिया बहुत तेज है, जिससे पकड़ा जाकर नरक-पाल द्वारा हम प्राणियों का नरक के कुम्भों में पकना निश्चित है।

स्तुतिर्यशोऽथ सत्कारो न पुण्याय न चायुषे।
न बलार्थं न चारोग्ये न च कायसुखाय मे ॥ ९० ॥

अतः लाभ, सत्कार, प्रशंसा और कीर्ति का कोई लाभ नहीं, इससे न पुण्य संचय होगा, न आयु बढ़ेगी, न शरीर में बल होगा न निरोग होंगे और न कोई भौतिक सुख मिलेगा।

एतावांश्च भवेत्स्वार्थो धीमतः स्वार्थवेदिनः।
मद्यद्यूतादि सेव्यं स्यान्मानसं सुखमिच्छता ॥ ९१ ॥

यदि मन बहलाकर खुश करना ही मनोरथ है तो मद्य सेवन, जुआ का खेल आदि अनुचित आचरण करना उचित है, परन्तु, वास्तव में स्वार्थ सिद्ध नहीं होगा। [यहाँ पर मद्य सेवन आदि करना चाहिए ऐसा शब्द आता है परन्तु भावार्थ में मद्य-सेवन आदि त्यागना चाहिए, यह अर्थ समझना है। अतः समाज में जुआ, अधिक मात्रा में मद्य का सेवन जैसे दुर्व्यवहार कम होना चाहिए। साथ ही साथ सिगरेट बीड़ी पीना अपने शारीरिक स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है, डाक्टरों का भी यही कहना है, इसलिए धूम्रपान की आदत न पड़ने दें, क्योंकि फिर उसे छोड़ना बहुत कठिन है।]

यशोऽर्थं हारयन्त्यर्थमात्मानं मारयन्त्यपि।
किमक्षराणि भक्ष्याणि मृते कस्य तु तत्सुखम् ॥ ९२ ॥

यश स्तुति की अभिलाषा में कोई गुण नहीं, परन्तु अनेक दोष हैं, जैसे कोई यश प्राप्ति हेतु दान करके निर्धन हो जाता है, कोई लड़ाई में जाकर प्राण त्याग करता है परन्तु यश-स्तुति शब्द मात्र है, अतः निस्सार हैं। उनसे लोक परलोक में कहीं भी कोई लाभ नहीं।

यथा पांशुगृहे भिन्ने रोदित्यार्तरवं शिशुः।
तथा स्तुतियशोहानौ स्वचित्तं प्रतिभाति मे ॥ ९३ ॥

थोड़ा ही यश स्तुति (प्रशंसा) खोने पर अप्रसन्न होना बच्चों के अज्ञान-चित्त की तरह है जो बालू के घर टूटने पर फूट-फूट कर रोते हैं।

शब्दस्तावदचित्तत्वात् स मां स्तौतीत्यसंभवः।
परः किल मयि प्रीत इत्येतत्प्रीतिकारणम् ॥ ९४ ॥

नाम या स्तुति शब्द मात्र हैं, वाणी हैं, अचेतन हैं, इसलिए यह संभव नहीं कि शब्द हमारी स्तुति करना चाहता है। यदि अपनी स्तुति से शब्दों का प्रयोग करने वाला प्रसन्न होता है इसलिए मुझे स्तुति पसन्द है ऐसा तर्क दें तो भी गलत है क्योंकि दूसरों की प्रसन्नता उसी की मनः प्रवृत्ति है, उससे हमें कुछ मिलता नहीं है।

अन्यत्र मयि वा प्रीत्या किं हि मे परकीयया।
तस्यैव तत्प्रीतिसुखं भागो नाल्पोऽपि मे ततः ॥ ९५ ॥

दूसरों की प्रसन्नता उन्हीं का अनुभव है, उसे हम बाँटकर ले नहीं सकते, अतः यह व्यर्थ कामना है।

तत्सुखेन सुखित्वं चेत्सर्वत्रैव ममास्तु तत्।
कस्मादन्यप्रसादेन सुखितेषु न मे सुखम् ॥ ९६ ॥

स्तुति करने वाला प्रसन्न होने के कारण स्वयं प्रसन्न होने का तर्क देता है तो क्यों किसी की (शत्रुओं की) स्तुति पर आप क्रोधित होते हैं, जब कि उसका मन प्रसन्न हो रहा है। अतः सब प्राणियों की सुख सुविधा देख कर प्रसन्न होना चाहिए।

तस्मादहं स्तुतोऽस्मीति प्रीतिरात्मनि जायते।
तत्राप्येवमसंबन्धात् केवलं शिशुचेष्टितम् ॥ ९७ ॥

इसलिए स्तुति से प्रसन्न होना अनुचित है, यह बाल-चरित के समान है।

स्तुत्यादयश्च मे क्षेमं संवेगं नाशयन्त्यमी।
गुणवत्सु च मात्सर्यं संपत्कोपं च कुर्वते ॥ ९८ ॥

स्तुति, यश तथा सत्कार आदि हमारे चित्त को भ्रमित करते हैं, सांसारिक जीवन से विमुख होने नहीं देते, गुणवानों के प्रति मत्सर उत्पन्न करते हैं और अपने पुण्यकर्म या समृद्धि का नाश करते हैं।

अतः 'कदम्-पा'* आचार्यों ने सही कहा है, "स्तुति सुनकर नहीं, परन्तु निन्दा सुनकर प्रसन्न हों क्योंकि स्तुति से अहंकार और ईर्ष्या उत्पन्न होते हैं, निन्दित होने पर अपने दोषों का पात (पराभव) होता है"।

उपर्युक्त उपदेशों का अर्थ यह नहीं है कि हमें लाभ, सत्कार आदि प्राप्त नहीं होनी चाहिए, बल्कि स्तुति, यश, सत्कार के प्रति आसक्ति

---

* आचार्य अतिशा के शिष्य डोम-तोनपा से प्रारम्भ होने वाला तिब्बत का एक बौद्ध सम्प्रदाय है। पृष्ठ ६ पर दिये फुट-नोट का अर्थ भी इसी संदर्भ में लें।

से दूर रहने के लिए यह अभ्यास करना चाहिए। वैसे हमें सम्पूर्ण रूप से समृद्ध जीवन पाने के लिए प्रयत्न करना आवश्यक है, जिससे हम अपने लिए पुण्य संचय और दूसरों के भलाई करने में सामर्थ्यवान् हों।

तस्मात्स्तुतियाद्विघाताय मम ये प्रत्युपस्थिताः।
अपायपातरक्षार्थं प्रवृत्ता ननु ते मम॥९९॥

और दूसरे शब्दों में, हमारी निन्दा करके प्रशंसा के अहंकार को नष्ट करने वाले लोग वास्तव में हमारी दुर्गति में पतन से रक्षा करने वाले हैं।

मुक्त्यर्थिनश्चायुक्तं मे लाभसत्कारबन्धनम्।
ये मोचयन्ति मां बन्धाद् द्वेषस्तेषु कथं मम॥१००॥

हम यश या सत्कार के अभिलाषी नहीं, परन्तु मोक्ष के इच्छुक है, हमें लाभ-सत्कार के बन्धन नहीं, मोक्ष की प्राप्ति चाहिए, अतः इसमें सहायता करने वालों पर क्रोध क्यों ?

दुःखं प्रवेष्टुकामस्य ये कपाटत्वमागताः।
बुद्धाधिष्ठानत इव द्वेषस्तेषु कथं मम॥१०१॥

शत्रु हमारी निन्दा करके लाभ सत्कार के मोह के पतन के द्वार का पट बन्दकर हमारी रक्षा करता है। वह बुद्ध वरदान के बराबर है। अतः उस पर क्रोधित होना उचित नहीं।

पुण्यविघ्नः कृतोऽनेनेत्यत्र कोपो न युज्यते।
क्षान्त्या समं तपो नास्ति नन्वेतत्तदुपस्थितम्॥१०२॥

पुण्यकर्म में वह शत्रु विघ्न डालता है, इसलिए मुझे उस पर क्रोध आता है ऐसा तर्क देना भी उचित नहीं, क्योंकि क्षमा से बढ़कर कोई पुण्य

नहीं और वह शत्रु आपकी क्षान्ति-पारमिता के अभ्यास का साधन है, फिर क्षमा न करके उस पर क्रोध क्यों ?

अथाहमात्मदोषेण न करोमि क्षमामिह।
मयैवात्र कृतो विघ्नः पुण्यहेतावुपस्थिते ॥ १०३ ॥

अपने क्रोध द्वेष आदि दोषों के कारण उस पर क्रोधित होना अपने ही पुण्यकर्म में विघ्न डालना हैं, क्योंकि वह शत्रु आपके सामने क्षान्ति अभ्यास के सभी साधन जुटा रहा है।

यो हि येन विना नास्ति यस्मिंश्च सति विद्यते।
स एव कारणं तस्य कथं विघ्न उच्यते ॥ १०४ ॥

किसी प्रकार के फल के लिए उसका हेतु होना आवश्यक है, अर्थात् हेतु और फल का संबन्ध ऐसा है कि एक होने के कारण, दूसरे की उत्पत्ति होती है, कारण से फल मिलता है, कारण के विना कोई फल नहीं होता, इसलिए शत्रु जैसे कारण होने पर ही क्षान्ति-पारमिता जैसा फल मिलना संभव है, विना शत्रु के क्षमा-अभ्यास असंभव है। अतः हम यह कैसे कह सकतें हैं कि यह शत्रु हमारे पुण्य अर्जन में विघ्न डालता है।

न हि कालोपपन्नेन दानविघ्नः कृतोऽर्थिना।
न च प्रव्राजके प्राप्ते प्रव्रज्याविघ्न उच्यते ॥ १०५ ॥

उचित समय पर आया याचक दान में विघ्न नहीं डालता, जैसे समय पर प्रव्रजित का आना प्रव्रज्या का विघ्न नहीं कहा जा सकता।

सुलभा याचका लोके दुर्लभास्त्वपकारिणः।
यतो मेऽनपराधस्य न कश्चिदपराध्यति। १०६ ॥
अश्रमोपार्जितस्तस्माद् गृहे निधिरिवोत्थितः।
बोधिचर्यासहायत्वात् स्पृहणीयो मया रिपुः ॥ १०७ ॥

संसार में याचक सुलभ हैं, परन्तु अपने द्वारा कष्ट पहुँचाये विना अपकार करने वाले कम हैं, अर्थात् हमारे क्षमा-अभ्यास के साधन बहुत दुर्लभ हैं। अतः विना परिश्रम के अपने घर में उपलब्ध धननिधि के समान, बोधिचर्या अभ्यास में सहायता देने वाले शत्रु के प्रति स्नेह रखना चाहिए।

[क्षान्ति-पारमिता का अभ्यास क्रोध का दमन करना है, और शत्रु को लक्ष्य बनाकर वास्तविक क्षान्ति-अभ्यास हो सकता है, न कि मित्र, उपाध्याय, गुरुजन या तथागत पर लक्ष्य कर। अतः शत्रु के प्रति कल्याण मित्र के दृष्टिकोण को क्षमा-अभ्यास की सफलता का आधार मानना उचित है, यदि हम क्षान्ति पारमिता के अभिलाषी हैं। परन्तु सहन करना चाहिए, क्षान्ति-अभ्यास करना चाहिए कहने का अर्थ यह नहीं है कि दूसरो को अयुक्तिसंगत कार्यों में खुलेआम छूट दे दें, स्वयं अपनी क्षमता के अनुसार दूसरों के अनुचित कार्यों का क्रोध रहित विरोध करना चाहिए। उन्हें पाप कर्म से बचाना चाहिए। व्यवहारिक तौर पर भी हम क्रोधित होकर जल्दि-बाजी में कुछ कार्य करें तो वह सार्थक नहीं होगा, इसके विपरीत, शान्त-भाव से और परोपकार की इच्छा से कार्य करना सार्थक और प्रभावशाली होगा, इसलिए सहन शक्ति या क्षमा की क्षमता आवश्यक है।]

मया चानेन चोपात्तं तस्मादेतत्क्षमाफलम्।
एतस्मै प्रथमं देयमेतत्पूर्वा क्षमा यतः ॥ १०८ ॥

यही नहीं, वे हमारे शत्रु अपने क्षान्ति-अभ्यास के मुख्य कारण हैं और इस क्षमा के पुण्य में दोनों के बराबर अधिकार है, इसलिए उस पुण्य की परीणामना सर्वप्रथम उस शत्रु के लिए करनी चाहिए।

क्षमासिद्ध्याशयो नास्य तेन पूज्यो न चेदरिः।
सिद्धिहेतुरचित्तोऽपि सद्धर्मः पूज्यते कथम् ॥ १०९ ॥

यहाँ पर यह प्रश्न कर सकते हैं कि उन शत्रुओं के मन में हमारी क्षमासाधना की इच्छा नहीं है, इसलिए उनकी इस तरह पूजा क्यों करें ? यह-विचार तर्कसंगत नहीं। उस साधन की ओर से कल्याणभाव आवश्यक है, तो निरोध आदि धर्म-रत्न की पूजा करना भी निरर्थक हो जायेगी, क्योंकि वह भी अचेतन है।

अपकाराशयो ऽस्येति शत्रुर्यदि न पूज्यते।
अन्यथा मे कथं क्षान्तिर्भिषजीव हितोद्यते ॥ ११० ॥

यदि, "शत्रु हमारे प्रति हानि पहुँचाने की इच्छा रखता है तो हम कैसे उसकी पूजा करें ?" ऐसा प्रश्न करना भी गलत है। हानि पहुँचाने के कारण ही शत्रु कहा जाता है, और शत्रु होने के कारण उसके प्रति द्वेष या क्रोध उत्पन्न होता है और जिस पर क्रोध या द्वेष उत्पन्न होता है, वही क्षमा का साधन है। वैद्य आदि हितैषी आचरण वाला है। उन पर कैसे द्वेष उत्पन्न हो सकता है। और यदि द्वेष या क्रोध नहीं तो क्षमा कैसे ?

तद्दुष्टाशयमेवातः प्रतीत्योत्पद्यते क्षमा।
स एवातः क्षमाहेतुः पूज्यः सद्धर्मवन्मया ॥ १११ ॥

अतः द्वेष जैसी दुष्ट भावना के कारण ही क्षमा उत्पन्न होती है जो क्षान्तिपारमिता का हेतु है, इसलिए शत्रुओं की सद्धर्म के समान पूजा करनी उचित है।

सत्त्वक्षेत्रं जिनक्षेत्रमित्यो मुनिनोदितम्।
एतानाराध्य बहवः संपत्पारं यतो गताः ॥ ११२ ॥

इसी कारण, भगवान् ने सत्त्व-क्षेत्र और बुद्ध-क्षेत्र ये दो पुण्य अर्जन के आधार बताए हैं, और इन की आराधना करके असंख्य साधकों ने सम्पूर्ण पारमिता प्राप्त की है।

सत्त्वेभ्यश्च जिनेभ्यश्च बुद्धधर्मागमे समे ।
जिनेषु गौरवं यद्वन्न सत्त्वेष्विति कः क्रमः ॥ ११३ ॥

इस प्रकार जब प्राणी तथा बुद्ध दोनों हमारे पुण्यकर्म सिद्धि में बराबर सहयोग देते हैं तो एक ओर बुद्धों की पूजा करना, दूसरी ओर प्राणियों का अनादर करना कहाँ तक उचित है? दोनो का आदर करना चाहिए।

आशयस्य च माहात्म्यं न स्वतः किं तु कार्यतः ।
समं च तेन माहात्म्यं सत्त्वानां तेन ते समाः ॥ ११४ ॥

परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि हर माने में दोनों एक बराबर हैं, भगवान् ज्ञान तथा परोपकार जैसे चित्तगुणों से सर्वोत्तम हैं, फिर भी उन के आराधना करने की फल बुद्धगुणों की प्राप्ति में समान गुण है, इसलिये ऐसा कहा गया है।

मैत्र्याशयश्च यत्पूज्यः सत्त्वमाहात्म्यमेव तत् ।
बुद्धप्रसादाद्यत्पुण्यं बुद्धमाहात्म्यमेव तत् ॥ ११५ ॥

इसके अतिरिक्त बुद्ध तथा प्राणी दोनों की अपनी कुछ विशेष महिमा भी है—जैसे असंख्य प्राणियों के प्रति करुणा तथा मैत्री भावना रखने की पूजा से पुण्य मिलना सत्वों की महिमा है और श्रद्धा से पुण्य होना बुद्धों की महिमा है।

बुद्धधर्मागमांशेन तस्मात्सत्त्वा जिनैः समाः ।
न तु बुद्धैः समाः केचिदनन्तांशैर्गुणार्णवैः ॥ ११६ ॥

अतः बुद्ध-गुण-प्राप्ति के संबन्ध में योगदान होने में समानता है, परन्तु अनन्त समुद्र जैसे गुणसागर बुद्धों की तुलना असंभव है।

गुणसारैकराशीनां गुणोऽणुरपि चेत्क्वचित्।
दृश्यते तस्य पूजार्थं त्रैलोक्यमपि न क्षमम् ॥ ११७ ॥
बुद्धधर्मोदयांशस्तु श्रेष्ठः सत्त्वेषु विद्यते।
एतदंशानुरूप्येण सत्त्वपूजा कृता भवेत् ॥ ११८ ॥

फिर भी उस सर्वोत्तम गुण-निधि बुद्ध के गुणों का एक सूक्ष्म अंश भी यदि किसी में है तो उसकी पूजा के लिए सम्पूर्ण त्रिलोक का वस्तु उपहार भी अपर्याप्त है, और प्राणियों में बुद्ध-गुण उत्पत्ति का श्रेष्ठ अंश विद्यमान है, इसलिए यह अनुमान लगा सकते हैं कि सत्त्वों की पूजा करना उचित है।

किं च निश्छद्मबन्धूनामप्रमेयोपकारिणाम्।
सत्त्वाराधनमुत्सृज्य निष्कृतिः का परा भवेत् ॥ ११९ ॥

सत्त्वों को इतना महत्वपूर्ण समझने के और भी कारण हैं—बुद्धों तथा बोधिसत्त्वों को प्राणि हित से बढ़कर कोई कार्य नहीं, इसलिए बुद्धों एवं बोधिसत्त्वों के प्रति कृतज्ञता के ऋण चुकाने का सर्वश्रेष्ट साधन प्राणियों का उपकार है।

भिन्दन्ति देहं प्रविशन्त्यवीची येषां कृते तत्र कृते कृतं स्यात्।
महापकारिष्वपि तेन सर्वं कल्याणमेवाचरणीयमेषु ॥ १२० ॥

बुद्धों तथा बोधिसत्त्वों ने मार्ग-अभ्यास के समय जिन के कल्याण के लिए अपने शरीर का त्याग किया और अवीचि नरक में भी सहर्ष प्रवेश किया, उनके ऋण चुकाने के लिये दूसरों के द्वारा अनेक अपकार किये जाने पर भी हर प्रकार का आदर तथा उपकार करना चाहिए।

स्वयं मम स्वामिन एव तावद्यदर्थमात्मन्यपि निर्व्यपेक्षाः।
अहं कथं स्वामिषु तेषु तेषु करोमि मानं न तु दासभावम् ॥१२१॥

जब अपने प्रभु तथागत ने भी इन प्राणियों के उपकार के लिये शरीर की भी चिन्ता नहीं की तो हम भी अवश्य उन शक्तिशाली स्वामियों का दास समझकर सेवा करना उचित है।

येषां सुखे यान्ति मुदं मुनीन्द्रा येषां व्यथायां प्रविशन्ति मन्युम्।
तत्तोषणात्सर्वमुनीन्द्रतुष्टिस्तत्रापकारे ऽपकृतं मुनीनाम्॥ १२२॥

कोई सत्त्व सुखी हो तो भगवान् प्रसन्न होते हैं और कोई दुःखी हो तो अप्रसन्न होते हैं। प्राणियों को प्रसन्न करना भगवान् को संतुष्ट करना है और उन का अपकार भगवान् के अपकार के समान है, इसलिए सत्त्वों की अपकार नहीं करना चाहिए।

आदीप्तकायस्य यथा समन्तान् न सर्वकामैरपि सौमनस्यम्।
सत्त्वव्यथायामपि तद्वदेव न प्रीत्युपायोऽस्ति दयामयानाम्॥ १२३॥

जैसे आग की लपेट में जलते हुए आदमी को काम-भोग की कोई भी सुविधा सुख नहीं दे सकती, उसी प्रकार प्राणियों की हानि करके बुद्धों को संतुष्ट करने का कोई भी उपाय नहीं है।

तस्मान्मया यज्जनदुःखदेन दुःखं कृतं सर्वमहाकृपाणाम्।
तदद्य पापम् प्रतिदेशयामि यत्खेदितास्तन्मुनयः क्षमन्ताम्॥ १२४॥

अतः अब तक प्राणियों के अपकार के कारण भगवान् तथागत के अप्रसन्न होने की पाप देशना करके बुद्धों से क्षमा याचना करनी चाहिए।

आराधनायाद्य तथागतानां सर्वात्मना दास्यमुपैमि लोके।
कुर्वन्तु मे मूर्ध्नि पदं जनौघा विघ्नन्तु वा तुष्यतु लोकनाथः। १२५॥

और साथ-ही-साथ यह प्रतिज्ञा करनी चाहिए कि तथागतों को प्रसन्न करने के लिए जगत् का सेवक बनूंगा और यदि असंख्य प्राणि मेरे माथे पर

चढ़ जाएँ या प्राण ले लें, पर मैं इनका अपकार नहीं करूँगा, अतः अब तथागत मुझसे प्रसन्न हों यही प्रार्थना करता हूँ।

आत्मीकृतं सर्वमिदं जगत्तैः कृपात्मभिर्नैव हि संशयोऽस्ति।
दृश्यन्त एते ननु सत्त्वरूपास्त एव नाथाः किमनादरोऽत्र। १२६॥

इसमें संदेह नहीं कि तथागतों ने परात्मपरिवर्तन (स्वयं और दूसरों के स्थानान्तरण) अभ्यास के द्वारा अपना लिया है, इसलिए साधारण प्राणियों को तथागत का स्वरूप मानकर आदर करना आवश्यक है।

तथागताराधनमेतदेव स्वार्थस्य संसाधनमेतदेव।
लोकस्य दुःखापहमेतदेव तस्मान्ममास्तु व्रतमेतदेव॥ १२७॥

इस प्रकार सत्त्वों के प्रति आदर और उनके द्वारा की जाने वाली हानि पर क्षमा का अभ्यास करने का यही आचरण तथागतों की आराधना है, यही अभीष्ट स्वार्थ की सिद्धि भी है और यही प्राणियों का दुःख निवारक भी है, इसलिए सदा हमें इसका अभ्यास करना चाहिए।

यथैको राजपुरुषः प्रमथ्नाति महाजनम्।
विकर्तुं नैव शक्नोति दीर्घदर्शी महाजनः॥ १२८॥

यस्मान्नैव स एकाकी तस्य राजबलं बलम्।
तथा न दुर्बलं कंचिदपराद्धं विमानयेत्॥ १२९॥

यस्मान्नरकपालाश्च कृपावन्तश्च तद्बलम्।
तस्मादाराधयेत्सत्त्वान् भृत्यश्चण्डनृपं यथा॥ १३०॥

जैसे कोई राजपुरुष अनेक लोगों को कष्ट पहुचाता है, परन्तु कोई भी दूरदर्शी व्यक्ति सक्षम होते हुए भी उसका विरोध नहीं करता, क्योंकि राज-शक्ति उसके पीछे है। उसी प्रकार बहुत दुर्बल प्राणियों का भी अपमान नहीं

करना चाहिए, क्योंकि नरकपाल तथा कृपालु बुद्ध उनके पीछे है। अतः हमे उग्र राजा के सेवक की तरह प्राणियों को संतुष्ट करना चाहिए।

कुपितः किं नृपः कुर्याद्येन स्यान्नरकव्यथा।
यत्सत्त्वदौर्मनस्येन कृतेन ह्यनुभूयते॥ १३१॥
तुष्टः किं नृपतिर्दद्याद्यद्बुद्धत्वसमं वेत्।
यत्सत्त्वसौमनस्येन कृतेन ह्यनुभूयते॥ १३२॥

परन्तु वास्तव मे राजा को खुश करना और प्राणियों के उपकार में बहुत अन्तर है—क्योंकि राजा कितना भी हम पर क्रुद्ध क्यों न हो, वह प्राणी अपकार के फल नरक में नहीं गिरा सकता और राजा संतुष्ट होने पर भी हमें प्राणियों का कल्याण करने के फलस्वरूप मिलने वाला बुद्धत्व नहीं दे सकता।

आस्तां भविष्यद्बुद्धत्वं सत्त्वाराधनसंभवम्।
इहैव सौभाग्ययशःसौस्थित्यं किं न पश्यसि॥ १३३॥

सत्त्वों के उपकार से भविष्य में बुद्धत्व प्राप्त होना निश्चित है और इसी जीवन काल में भी हमे नाम, यश, सुख-शान्ति जैसे सुफल वास्तव में देखने को मिलते हैं। अतः हमे प्राणियों का उपकार करना चाहिए।

प्रासादिकत्वमारोग्यं प्रामोद्यं चिरजीवितम्।
चक्रवर्तिसुखं स्फीतं क्षमी प्राप्नोति संसरन्॥ १३४॥

निःश्रेयस् (बुद्धत्व) प्राप्ति के पूर्व सांसारिक जन्मान्तर में भी प्राणी कल्याण और क्षान्ति के फल अभ्युदय जन्म के सुन्दर रूप, आरोग्य, दीर्घायु, यश और चक्रवर्ती राजा के तुल्य सुख-समृद्धि प्राप्त होता है। इसलिए हमें यथासंभव क्षमा-अभ्यास करना अति आवश्यक है॥

॥ 'क्षान्तिपारमिता' नामक षष्ठ परिच्छेद समाप्त॥

सप्तम परिच्छेद

वीर्यपारमिता

छठा दिन

किसी भी प्रकार के पुण्यकर्म के अभ्यास की सफलता के लिए प्रयत्न अति आवश्यक है, इसलिए वीर्यपारमिता के अभ्यास का यह परिच्छेद आता है। सामान्य धर्माभ्यास के लिए और विशेषतः बोधिसत्वचर्या जैसे महायान धर्म के अभ्यास हेतु सुदृढ़ प्रयत्न अपरिहार्य है, इस प्रकार के आचरण मनुष्य जीवन में ही संभव है। इसलिए आज के इस दुर्लभ मानव जीवन का सदुपयोग करके वीर्यपारमिता का अभ्यास करना चाहिए। इस मानव जीवन में धर्माभ्यास का सार-तत्त्व प्राप्त करने के लिए निःसरण, बोधिचित्त और सम्यक् दृष्टि होना आवश्यक है। निःसरण, बोधिचित्त का मूल है, बोधिचित्त परकल्याण के लिए अनिवार्य है। निःसरण और बोधिचित्त के साथ सम्यक्-दृष्टि अर्थात शून्यता ज्ञान के बिना आवरण का प्रतिपक्ष नहीं हो सकता। इसलिए ये तीनों चीजें निर्वाण तथा सर्वज्ञता की प्राप्ति के मूल तत्त्व है।

निःसरण के लिए इस जीवन के प्रति आसक्ति और भावी जन्म के प्रति आसक्ति का त्याग है। इस जीवन के प्रति आसक्ति त्याग का अर्थ भावी जीवन के लिए विचार करना है, परन्तु सामाजिक जीवन में सब कुछ त्यागकर अभ्यास का अवसर पाना कठिन है। कुछ लोग जीवन की सुख सुविधा

का परित्याग कर धर्माभ्यास करते हैं। वे लोग प्रशंसा और आदर के पात्र है। समाज में घर-गृहस्थी का जीवन बिताने वालों को भी चाहिए कि अपनी क्षमता को शत प्रतिशत केवल इसी जीवन की सुख-सुविधा में न लगाकर भावी जीवन के लिए कुछ धर्म तथा पुण्यकर्म का भी विचार और प्रयत्न करें।

बोधिचर्यावतार का सारतत्त्व परकल्याण है। अतः आज ही हमारी यह कोशिश होनी चाहिए कि यथासंभव दूसरों का उपकार करें और चित्त की शुद्धि हो। एक अच्छे मन वाले मनुष्य, एक भद्र मनुष्य बनने की इच्छा और प्रयत्न करें। इसलिये, इस प्रकार के परोपकार तथा भद्र विचार का उत्तरोत्तर विकास करने के लिये मैं इस बोधिचर्यावतार का उपदेश सुन रहा हूँ, ऐसे विचार या पूर्व कल्पना की अवधारणाके साथ शिक्षा लें।

एवं क्षमो भजेद्वीर्यं वीर्ये बोधिर्यतः स्थिता।
न हि वीर्यं विना पुण्यं यथा वायुं विना गति ॥ १ ॥

क्षमा के इस प्रकार अभ्यास के साथ वीर्य का आचरण भी आवश्यक है, क्योंकि हमें निर्वाण तथा सर्वज्ञाता प्राप्ति के लिए निरन्तर अथक प्रयास करके क्रमशः दोषों से मुक्ति और पुण्य गुणों की वृद्धि करनी चाहिए। इसलिए जो प्रयत्नशील है उसी के लिए बुद्धत्व या बोधि संभव है, वीर्य के बिना बुद्धत्व नहीं प्राप्त हो सकता, जैसे दीप वायु के बिना नहीं हिलता अतः वीर्य से ही पुण्य संभार एवं प्रज्ञा की विकास संभव है जिनसे निर्वाण की प्राप्ति होती है।

किं वीर्यं कुशलोत्साहस्तद्विपक्षः क उच्यते।
आलस्यं कुत्सितासक्तिर्विषादात्मावमन्यना ॥ २ ॥

(स्वरूप)—पुण्य आचरण के प्रति उत्सुकता ही वीर्य है। इसी के यथार्थ अभ्यास के लिए आलस्य, कुविषयासक्ति, विषाद तथा आत्मावज्ञा

जैसी इससे विपरीत भावनाओं को जानना आवश्यक है। इसलिए यहाँ इन आलस्यों का वर्णन किया है। सामान्य जीवन में धर्म या पुण्य आचरण करने की इच्छा होते हुए भी हमारे द्वारा छोटे-मोटे कार्य में व्यस्त रहकर धर्म-अभ्यास को टालना कुविषयासक्ति–आलस्य है। बुद्धत्व आदि मार्ग प्राप्त करने के लिए बहुत अधिक प्रयत्न के साथ हर एक दोष की निवृत्ति और सम्पूर्ण पुण्य तथा गुणों को उत्पन्न करने के प्रयास में निरुत्साहित होना विषाद-आलस्य है। यह अभ्यास मुझसे नहीं होगा, क्योंकि मैं बहुत दुर्भाग्य-ग्रस्त और अल्प बुद्धि वाला हूँ, ऐसा सोचकर आत्मविश्वास खो बैठने को आत्मावज्ञा-आलस्य कहते हैं।

अव्यापारसुखास्वादनिद्रापाश्रयतृष्णया।
संसारदुःखानुद्वेगादालस्यमुपजायते ॥ ३ ॥

अब प्रश्न है कि इन आलस्यों की जड़ या कारण क्या है? विषाद के साथ सांसारिक भोग विलास की इच्छा, नींद सोने की चाह और सांसारिक दुःखों से विमुख न होने जैसी बातों के कारण आलस्य उत्पन्न होता है।

क्लेशवागुरिकाघ्रातः प्रविष्टो जन्मवागुराम्।
किमद्यापि न जानासि मृत्योर्वदनमागतः ॥ ४ ॥

ऐसी परिस्थिति में हमें अपने-आपको यह याद दिलाना चाहिए कि हम क्लेशाधीन होकर, क्लेश-मछुओं के तृष्णा तथा जन्म के जाल में फँसकर मौत के मुँह में शीघ्र जाने वाले हैं, फिर भी हमें डर या चेतना क्यों नहीं?

स्वयूथ्यान्मार्यमाणांस्त्वं क्रमेणैव न पश्यसि।
तथापि निद्रां यास्येव चण्डालमहिषो यथा ॥ ५ ॥

और इस निर्दयी मृत्यु द्वारा अपने पास पड़ोस में बूढ़े–बच्चे, स्त्री-पुरुषों को मारे जाते देखकर भी नींद आदि आलस्य में पड़े रहना चण्डाल के भैंसे के समान होना है।

यमेनोद्वीक्ष्यमाणस्य बद्धमार्गस्य सर्वतः।
कथं ते रोचते भोक्तुं कथं निद्रा कथं रतिः॥ ६॥

जब अमर–मार्ग के सभी रास्ते बन्द करके यम मारने की इच्छा से हमारी निगरानी कर रहा है तो कैसे हम खाने-पीने और सोने में व्यर्थ समय नष्ट कर सकते हैं। यह उचित नहीं।

यावत्संभृतसंभारं मरणं शीघ्रमेष्यति।
सत्यज्यापि तदालस्यमकाले किं करिष्यसि॥ ७॥

मृत्यु शीघ्र आने वाली है, इसलिए जब तक जीवित हैं पुण्य संचय करना चाहिए। मृत्यु आने पर आलस्य छोड़कर पुण्यकर्म करने का प्रयत्न करना असमय प्रयास है।

इदं न प्राप्तमारब्धमिदमर्धकृतस्थितम्।
अकस्मान्मृत्युरायातो हा हतोऽस्मीति चिन्तयन्॥ ८॥

यदि मौत आने का कोई निश्चित समय होता तो हम उससे कुछ समय पहले पुण्यकर्म आरंभ कर सकते हैं, परन्तु ऐसा भी नहीं है। कोई किसी काम को आरंभ करने से पहले, कोई कुछ कार्य आरंभ करके और कोई आरंभ किये कार्यको अधूरा छोड़कर अचानक मृत्यु का शिकार होता है।

शोकवेगसमुच्छूनसाश्रुरक्तेक्षणाननान्।
बन्धून्निराशान् संपश्यन् यमदूतमुखानि च॥ ९॥

मृत्यु के समय बिस्तर पर लेटे अपने घर-परिवार या निकट के बन्धुओं से पृथक् होने के समय हमें मात्र निराश बन्धुओं की आंसूभरी लाल आँखों से दुःखी चेहरे पर बहते आँसू और भयानक यमदूतों के चेहरे देखने को मिलते हैं।

स्वपापस्मृतिसंतप्तः शृण्वन् नादांश्च नारकान्।
त्रासोच्चारविलिप्ताङ्गो विह्वलः किं करिष्यसि ॥ १० ॥

यही नहीं अपनी मृत्यु के समय अपने अपराध जो दूसरों को मालूम हो या न हो, किसी न्यायालय में गए हो या नहीं, परन्तु जीवन काल के हर एक पाप का स्मरण होने से नरक के भयंकर दुःखों की डर से अपना शरीर तक मल-मूत्र में लथ-फथ हो जायँगा, चित्त भी अस्थिर हो जायेगा। ऐसे समय में कुछ भी कुशल-कर्म होना असंभव है।

[इस प्रकार की परिस्थिति का सामना हम सबको करना पड़ेगा, यह निश्चित है। चाहे राजा हो, गुरू हो, मन्त्री हो, मृत्यु के मार्ग से न गुजरने वाला नहीं है, सबको किसी प्रकार मरना है, केवल मृत्यु का समय भर अनिश्चित है। इस प्रवचन का आज छठा दिन है, परन्तु हममें से कोई भी शत-प्रतिशत निश्चय के साथ यह नहीं कह सकता कि कल सातवाँ दिन भी यहाँ उपस्थित होगा। हम आशा के बल पर ही कुछ देर और जीयेंगे, इसी विचार के साथ हम भविष्य का कार्यक्रम बनाते हैं।

मृत्यु के समय कोई गुरू अपने श्रेष्ठ शिष्य को साथ नहीं ले सकते, न कोई अधिकारी अपने नौकर-चाकर साथ ले जा सकते हैं, न अधिकार प्रयोग चलेगा और न कोई दूसरे उपाय, उस समय अच्छा या बुरा जो कुछ भी होना है वह स्वयं अपने पर निर्भर है, किसी के द्वारा भी कुछ सहायता हो पाना असंभव है। जैसे 'कदम-पा' आचार्यों का कथन हैं,

"राजा राज छोड़कर और भिखारी डण्डा छोड़कर चला जाता है।"
वैसे हम सब हैं। मैं जब तक जीवित रहूँ दलाई लामा कहकर कोई मुझे अच्छा समझेगा, कोई मेरी सहायता करेगा, परन्तु मृत्यु के समय मुझे अकेला जाना है और स्वयं अपने भाग्य का फैसला करना है, कोई कुछ नहीं कर सकता। तो इस प्रकार के समय का आना जब निश्चित है, तो उसकी हर प्रकार की तैयारी आज ही से होनी चाहिए जिससे मृत्यु के समय पछतावा न हो।

पुनर्जन्म होने या न होने की कोई द्विविधा प्रकट कर सकता है, परन्तु कोई निश्चय के साथ पुनर्जन्म न होने का दावा नहीं कर सकता और न ही इसे न्याय द्वारा सिद्ध कर सकता है। हम लोगों ने पूर्व तथा भविष्य जीवन नहीं देखा है, परन्तु नहीं होना नहीं देखा है। ऐसे द्विविधा में रहकर एक, दो, तीन दिन करके जीवन व्यतीत हो जायेगा और जब अकस्मात् एक दिन मृत्यु हमारे ऊपर आ पहुँचेगी तो पश्चात्ताप होना स्वाभाविक है।

पुनर्जन्म न होने के पक्ष में मात्र यही तर्क दे सकते हैं कि हमें दिखाई नहीं देता, दूसरी ओर पुनर्जन्म होने के पक्ष में अनेक न्यायसंगत तर्क हैं। एक तो चित्त—'हेतु' आदि है। अतः यह सिद्ध है कि धर्म अभ्यास ही आवश्यक एवं सार्थक हैं। आज के संसार में अगर धर्म न मानने वाले लोग शत-प्रतिशत हर तरह से सुखी और संतुष्ट हों तो एक बात है परन्तु ऐसा नहीं है। वे लोग अभिमान, ईर्ष्या, द्वेष और क्रोध में डूबे हैं, अशान्त हैं। इसके विपरीत हमें धर्म को अपनाकर यथासंभव चित्त की शुद्धि के लिए प्रयत्न करने से स्वयं को भी सुख-शान्ति मिलेगी अपने पास पड़ोस के लोगों को भी कम परेशानी होगी, यह स्पष्ट रूप में देखने को मिलता है कि धर्माभ्यास से मन शान्त होने पर जीवन में ज्यादा सुख-शान्ति होती है।]

जीवमत्स्य इवास्मीति युक्तं भयमिहैव ते।
किं पुनः कृतपापस्य तीव्रान्नरकदुःखतः ॥ ११ ॥

इस प्रकार भयानक मृत्यु के समय हमें, गरम रेत पर जीवित मछली की तरह छटपटाना पड़ता है तो परलोक में अपने पाप के फलस्वरूप नरक में असहनीय दुःखदर्द होना स्वाभाविक है।

स्पृष्टः उष्णोदकेनापि सुकुमार प्रतप्यसे।
कृत्वा च नारकं कर्म किमेवं स्वस्थमास्यते ॥ १२ ॥

पाप-कर्म के फल बहुत कोमल शरीर पर नरक के अत्यन्त गरम पानी पड़ने का कर्म करके फिर हम पुण्यकर्म न करके आलस्यपूर्ण जीवन क्यों बिता रहे हैं ?

निरुद्यमफलाकांक्षिन् सुकुमार बहुव्यथ।
मृत्युग्रस्तोऽमराकार हा दुःखित विहन्यसे ॥ १३ ॥

विना परिश्रम किए अच्छे फल के अभिलाषियों और कम सहनशक्ति वालों के लिए दुःख पीड़ा होना निश्चित होते हुए, अचानक आने वाली मौत के पंजे में रहते हुए भी अमर देवताओं की तरह निश्चिन्त जीवन बिताने का अल्पसुख का शीघ्र ही नष्ट होना निश्चित है।

मानुष्यं नावमासाद्य तर दुःखमहानदीम्।
मूढ कालो न निद्राया इयं नौर्दुर्लभा पुनः ॥ १४ ॥

आज हमें उपलब्ध मनुष्य जन्म की नौका के सदुपयोग से सांसारिक जन्म तथा जरा-मरण की महानदी को पार करना चाहिए। ऐसे सुअव-सर पर नींद में पड़े सोना मूर्खता है, क्योंकि ऐसा जीवन फिर पाना दुर्लभ है।

मुक्त्वा धर्मरतिं श्रेष्ठामनन्तरतिसंततिम् ।
रतिरौद्धत्यहासादौ दुःखहेतौ कथं तव ॥ १५ ॥

हम सब सुख के अभिलाषी हैं तो अनन्त सुख के स्रोत सद्धर्म रति को छोड़कर, दुःख पीड़ा के हेतु गप-शप और हँसी-मजाक में समय नष्ट करना व्यर्थ है । [संक्षेप में यहाँ तक यह शिक्षा दी गयी है कि इसी जीवन की सुख-सुविधा जैसे कम महत्व के कार्यों में व्यस्त न रहकर भावी जीवन के लिए कुछ सार्थक काम होना चाहिए ।]

अविषादबलव्यूहतात्पर्यात्मविधेयता ।
परात्मसमता चैव परात्मपरिवर्तनम् ॥ १६ ॥

अभ्यास-क्रम एक सुनिश्चित ढंग से होना आवश्यक है, इसलिए—अविषाद-चित्त के साथ सम्भार संचय करके, पुण्य अभ्यास की स्मृति के वीर्य से अपनी मन और शरीर को वश में लाकर परात्मसमता और परात्म-परिवर्तन का अभ्यास करना चाहिए । (इस विषय का विस्तृत वर्णन 'समाधि परिच्छेद' में आता है ।)

नैवावसादः कर्त्तव्य कुतो मे बोधिरित्यतः ।
यस्मात्तथागतः सत्यं सत्यवादीद मुक्तवान् ॥ १७ ॥

तेऽप्यासन् दंशमशका मक्षिकाः कृमयस्तथा ।
यैरुत्साहवशात्प्राप्ता दुरापा बोधिरुत्तमा ॥ १८ ॥

मुझ से बोधि प्राप्त होना असंभव है, ऐसा विषाद कभी उत्पन्न नहीं होना चाहिए क्योंकि जैसे पहले भी कहा गया है और आगे भी कुछ वर्णन आयेगा कि इस प्रकार के बुद्धपुत्र, बोधिसत्त्वों का मार्ग एक आदिकर्मिक के लिए असंभव लगने वाला भी अभ्यास करते-करते बहुत सरल बन सकता है और जब हमारे चित्त पर तथागतगर्भ या बुद्धगोत्र अंकित है तो

विषाद तथा आलस्य छोड़कर अभ्यास से बुद्धत्व की प्राप्ति संभव है। जैसे 'उत्तरतन्त्र' में कहा गया है कि—"भगवान् तथागत के कर्म या कृपा और उस कृपा के पात्र (प्राणी) दोनों की तथता में कोई अन्तर नहीं, हर एक सत्त्व में बुद्धत्व प्राप्ति का बीज या शक्ति है, अतः समस्त प्राणियों में 'तथागतगर्भ' है।"[1] भगवान न्यायपोषक हैं और जब भगवान् तथागत ने 'रत्नमेघ' आदि सूत्रों में यह स्पष्ट रूप से कहा है कि चाहे डँस हो, मच्छर या मक्खी हो, और चाहे कीड़ा आदि के योनि लिया हो, यदि निरन्तर अभ्यास तथा प्रयत्न करे तो बुद्धत्व प्राप्त हो सकता है, क्योंकि उन सबमें बुद्धगोत्र है, तथागतगर्भ है। अतः विषादवश बैठना व्यर्थ है।

किमुताहं नरो जात्या शक्तो ज्ञातुं हिताहितम्।
सर्वज्ञनीत्यनुत्सर्गाद्बोधिं किं नाप्नुयामहम् ॥ १९ ॥

जब कीड़ें-मकोड़ों को भी संभव है तो हम मनुष्य योनि में जन्म लेने वाले प्राणियों को जो उचित-अनुचित बातों को जानने वाले हैं, बोधिचर्या के दृढ अभ्यास से बुद्धत्व अवश्य प्राप्त हो सकता है।

अथापि हस्तपादादि दातव्यमिति मे भयम्।
गुरुलाघवमूढत्वं तन्मे स्यादविचारतः॥ २० ॥
छेत्तव्यश्चापि भेत्तव्यो दाह्यः पाट्योऽप्यनेकशः।
कल्पकोटीरसंख्येया न च बोधिर्भविष्यति॥ २१ ॥

फिर भी "बोधिसत्त्व की चर्या में कभी हाथ पैर तक काटकर दान करना पड़ता है। मुझे डर है कि ऐसा अभ्यास नहीं कर पाऊँगा", ऐसा सोचना भी मूर्खता है, क्योंकि बोधि के निमित्त दान न करने पर भी

---

1. संबुद्धकायस्फुरणात् तथताव्यतिभेदतः।
गोत्रतश्च सदा सर्वे बुद्धगर्भाः शरीरिणः॥ उत्तरतन्त्र १।२८॥

असंख्य सांसारिक जन्मों में हमारे शरीर छेदे जायेंगे, भेदे जायेंगे, जलाये और काटे जायेंगे, परन्तु बोधि प्राप्त नहीं होगी। अब यह तुलना करनी चाहिए कि बोधि प्राप्ति के लिए हाथ पैर को काटकर दान करना और बिना प्रयोजन के काटे-छेदे जाने दोनों में कितना अन्तर है।

इदं तु मे परिमितं दुःखं संबोधिसाधनम्।
नष्टशल्यव्यथापोहे तदुत्पाटनदुःखवत् ॥ २२॥

बोधि-प्राप्ति के ये दुःख अनन्त नहीं, सीमित हैं, जैसे शरीर के अन्दर दीर्घकाल तक पीड़ा देनेवाली बन्दूक की गोली को निकालने के लिए कुछ समय पीड़ा देने वाली चीर-फाड़ आवश्यक है।

सर्वेऽपि वैद्याः कुर्वन्ति क्रियादुःखैररोगताम्।
तस्माद् बहूनि दुःखानि हन्तुं सोढव्यमल्पकम् ॥ २३ ॥

जैसे वैद्य तपन, चीरफाड़ आदि शल्यक्रियायों से रोगों का उपचार करता है, उसी प्रकार असंख्य असहनीय सांसारिक दुःखों के अन्त के लिए बोधिचर्या के अभ्यास में आने वाले दुःखों को सहर्ष सहन करना उचित है।

क्रियामिमामप्युचितां वरवैद्यो न दत्तवान्।
मधुरेणोपचारेण चिकित्सति महातुरान् ॥ २४॥

श्रेष्ठ वैद्य बुद्ध ने आदिकर्मिकों के लिए हाथ पैर काट कर दान करने जैसे कठिन आचरणों को छोड़कर बहुत सरल और मधुर उपचार रूपी उपायों से मार्ग दर्शन करके भयंकर रोगों की चिकित्सा की है।

आदौ शाकादिदानेऽपि नियोजयति नायकः।
तत् करोति क्रमात्पश्चाद्यत्स्वमांसान्यपि त्यजेत् ॥ २५ ॥
यदा शाकेष्विव प्रज्ञा स्वमांसेऽप्युपजायते।
मांसास्थि त्यजतस्तस्य तदा किं नाम दुष्करम् ॥ २६ ॥

जब सर्वप्रथम चित्त के अभ्यास के लिए शाक (सब्जी) आदि दान करके क्रमशः धीरे धीरे मन अभ्यस्त हो जाने पर अपनी मांस तक देने की शिक्षा दी है, अतः जब कोई साधक अपने शरीर को शाक-सब्जी के समान समझने लगे तो मांस या शरीर के अंगों को दान करने में कोई असुविधा नहीं होती। इसी प्रकार हमें अभ्यास-क्रम की बहुत सरल और प्रभावशाली शिक्षा मिलती है।

न दुःखी त्यक्तपापत्वात् पांडितत्वान्न दुर्मनाः।
मिथ्याकल्पनया चित्ते पापत्काये यतो व्यथा ॥ २७ ॥

ऐसा परित्याग करने वाला साधक बोधिसत्त्व, पाप से मुक्त होने के कारण दुःखी नहीं होता और शरीर दान करने के उपाय एवं रीति में निपुण होने के कारण उसे मनस्ताप भी नहीं होता। इसके विपरीत, पाप एवं मिथ्या कल्पना से शारीरिक दुःख तथा मनस्ताप होता है।

पुण्येन कायः सुखितः पांडित्येन मनः सुखि।
तिष्ठन् परार्थं संसारे कृपालुः केन खिद्यते ॥ २८ ॥

पुण्य से शारीरिक सुख मिलता है और ज्ञान से निपुण होने पर मन दुःखी नहीं होता। फिर यह स्वाभाविक है कि परोपकार के लिए सांसारिक जन्म लेने वाले करुणा से भरे (बोधिसत्त्व) लोग कभी दुःखी नहीं होंगे।

क्षपयन् पूर्वपापानि प्रतीच्छन् पुण्यसागरान्।
बोधिचित्तबलादेव श्रावकेभ्योऽपि शीघ्रतः ॥ २९ ॥

एक बोधिसत्त्व साधक के बोधिचित्त के बल से पूर्व कृत पाप की शुद्धि होती है और अनन्त पुण्य संचय होता है, इसीलिए यह बोधिसत्त्वचर्या श्रावकों तथा प्रत्येक बुद्धों की चर्या से उत्तम और तीव्र है।

एवं सुखात्सुखं गच्छन् को विषीदेत् सचेतनः ।
बोधिचित्तरथं प्राप्य सर्वखेदश्रमापहम् ॥ ३० ॥

जैसे पहले भी उल्लेख आया है कि यह बोधिचित्त कल्याण-मित्र है, सभी सुखों का स्रोत है, कल्परत्न है, अतः परकल्याण के सभी खेद और थकावट दूर करने वाले बोधिचित्त के रथ पर सवार होकर सुखद मार्ग से सुखमय फल प्राप्त कराने वाले उत्तम अभ्यास के प्रति सचेत कौन व्यक्ति विषाद करके बैठ सकता है ।

छन्द स्थाम रति मुक्तिबलं सत्त्वार्थसिद्धये ।
छन्दं दुःखभयात्कुर्यादनुशंसांश्च भावयन् ॥ ३१ ॥

अभ्यास के क्रम में सर्व प्राणिहित के लिए छन्दबल, स्तम्भबल, रतिबल और त्याग बल की सेना होनी चाहिए । 'छन्दबल' सांसारिक दुःखों से डर कर उनसे मुक्ति के मार्ग के प्रति प्रसन्नता से उत्पन्न होता है ।

एवं विपक्षमुन्मूल्य यतेतोत्साहवृद्धये ।
छन्दमानरतित्यागतात्पर्यवशिताबलैः ॥ ३२ ॥

इस प्रकार आलस्य आदि विपक्ष का परित्याग करके उत्साह के साथ किसी भी प्रकार के क्लेश-दोष के वश न जाने का दृढ़ संकल्प और साहस होना चाहिए, और अच्छे कार्य के लिए प्रसन्नता तथा त्यागबल के साथ-साथ स्मृति से युक्त अभीष्ट-फल प्राप्ति के लिए वीर्योत्पाद के निमित्त प्रयत्न करना चाहिए ।

[इन श्लोकों में क्लेश शत्रु का सामना करने के उपाय या विधि की शिक्षा मिलती है । जैसे बाहरी शत्रु पर विजय पाने हेतु सर्वप्रथम युद्ध करने की हिम्मत होनी चाहिए, फिर सेना के सहारे युद्ध में प्रवेश करके शत्रुओं को वश में करना चाहिए, उसी प्रकार उत्साह, वीर्य आदि का बल मिलने पर हम क्लेश के शत्रु का सामना कर सकते हैं ।]

अप्रमेया मया दोषा हन्तव्याः स्वपरात्मनोः ।
एकैकस्यापि दोषस्य यत्र कल्पार्णवैः क्षयः ॥ ३३ ॥
तत्र दोषक्षयारम्भे लेशोऽपि मम नेक्ष्यते ।
अप्रमेयव्यथाभाज्ये नोरः स्फुटति में कथम् ॥ ३४ ॥

(छन्द-बल उत्पत्ति का वर्णन)—स्वयं अपने और पराये के अपरिमित दोषों का मुझे नाश करना है और एक-एक दोष के नाश के लिए असंख्य कल्प लग सकते हैं, परन्तु मुझ में उस वीर्य का अंश मात्र भी देखने को नहीं मिलता तो अनन्त जन्म, संसार में भटक कर दुःखी होना स्वाभाविक है, अतः दुःख के डर से यह छाती फट जानी चाहिए ।

गुणा मयार्जनीयाश्च बहवः स्वपरात्मनोः ।
तत्रैकैकगुणाभ्यासो भवेत्कल्पार्णवैर्न वा ॥ ३५ ॥
गुणलेशेऽपि नाभ्यासो मम जातः कदाचन ।
वृथा नीतं मया जन्म कथं चिल्लब्धमद्भुतम् ॥ ३६ ॥

इसी प्रकार हमें अपने और दूसरों के अनेक गुण भी उपार्जित करने हैं और एक-एक गुण प्राप्त करने के लिए अपार कल्पों तक अभ्यास करना पड़ सकता है, परन्तु हमने उन गुणों का एक अंश तक प्राप्त नहीं किया, अतः संयोग से प्राप्त इस दुर्लभ मनुष्य जीवन को व्यर्थ व्यतीत करना बहुत विचित्र बात है ।

न प्राप्तं भगवत्पूजामहोत्सवसुखं मया ।
न कृता शासने कारा दरिद्राशा न पूरिता ॥ ३७ ॥
भीतेभ्यो नाभयं दत्तमार्ता न सुखिनः कृताः ।
दुःखाय केवलं मातुर्गतोऽस्मि गर्भशल्यताम् ॥ ३८ ॥

मैंने न भगवान् (बुद्धों) की पूजा की, न संघ के सत्कार किए, न धर्म का अभ्यास, न दरिद्रों का मनोरथ सफल किया, भयभीत प्राणियों

को न अभयदान दिया और न दुखियों को सुख शान्ति दी, तो फिर मेरे जन्म का माँ के गर्भ में दुःख पीड़ा उत्पन्न करने के अतिरिक्त और कोई प्रयोजन नहीं हुआ।

धर्मच्छन्दवियोगेन पौर्विकेण ममाधुना।
विपत्तिरीदृशी जाता को धर्मछन्दमुत्सृजेत् ॥ ३९ ॥

जैसे कहा गया है कि पूर्व जन्म में कैसा कर्म किया है, यह आज के जीवन में देख सकते हैं,—वैसे ही धर्म के अभ्यास के प्रति उत्साह और प्रसन्नता के अभाव के कारण चट्टान को पहाड़ पर चढ़ाने के समान कठिनाई होती है और अधर्मिक कार्यों के लिए अनायास पतन होता है, जैसे कि चट्टान, पहाड़ की ऊंचाई से टूटकर अपने आप नीचे गिर जाती है। यही कारण है कि आज तक हमें इस प्रकार के दुःख दर्द सहने पड़े हैं, अतः फिर भला कौन चेतन मनुष्य धर्म-छन्द छोड़ सकता है।

कुशलानां च सर्वेषां छन्दं मूलं मुनिर्जगौ।
तस्यापि मूलं सततं विपाकफलभावना ॥ ४० ॥

इसीलिये "भगवान् तथागत ने हर एक पुण्य कर्म का मूल छन्द में ढूंढ़ा है, जो पुण्याभ्यास की उत्साह है और ऐसे छन्द उत्पन्न होने का सर्वोत्तम कारण पाप-पुण्य के फल का चिन्तन है" ऐसी शिक्षा मिलती है* ।

दुःखानि दौर्मनस्यानि भयानि भयानि विविधानि च।
अभिलाषविघाताश्च जायन्ते पापकारिणाम् ॥ ४१ ॥

(फल की चिन्तन विधि)—पाप का फल दुःख है और पुण्य का फल सुख है, अतः पाप से हर प्रकार का शरीर और मन सम्बन्धी क्लेश या

---

* चन्द्रप्रदीपसूत्र = समाधिराजसूत्र में।

दुःख प्राप्त होता है। अभीष्ट वस्तुओं की प्राप्ति कठिन है और प्राप्त होकर फिर उसके पृथक होने का भय रहता है। विभिन्न प्रकार के भय आते हैं। ये सब पापकर्म के दुष्फल हैं।

मनोरथः शुभकृतां यत्र यत्रैव गच्छति।
तत्र तत्रैव तत्पुण्यैः फलार्घेणाभिपूज्यते ॥ ४२ ॥

इच्छा के अनुकूल पुण्य करने पर जन्म-जन्मान्तर में जहाँ भी जायें, वहाँ उस पुण्यकर्म के फल आरोग्य, दीर्घायु आदि गुणों से पूजित होंगे।

[समाज में कोई व्यक्ति बहुत होशियार है, हर प्रकार से प्रयत्नशील है, और हर तरह के उपाय करके भी कम सफलता पाता है और किसी सीधे सादे आदमी को कम प्रयास से भी अधिक सफलता मिलती है। इसका कारण क्या है? साधारणतः, समाज में "उसका भाग्य अच्छा है", "उसका भाग्य खराब है" ऐसा कहकर इस संक्षिप्त उत्तर से हम संतुष्ट रहते हैं। परन्तु यदि हम गौर से इसका परीक्षण करें तो इसके कुछ और कारणों का पता चलेगा जो इस समय अप्रत्यक्ष हैं। हम बौद्ध हैं, इसलिए यह नहीं कह सकते कि यह सब सृष्टिकर्ता की रचना है, क्योंकि बौद्धों की दृष्टि में यह तर्कसंगत नहीं होगा। फिर यह अकारणवश होता है ऐसा कहना भी गलत है। अतः अपने पूर्व संचित पाप-पुण्य कर्मों का फल है।

अब यह प्रश्न आता है कि कर्म क्या है? इसकी यह व्यवस्था कैसी है? कर्म की अनेक व्यवस्थाएँ हैं। परन्तु सरल तरीके से ऐसे समझा जा सकता है कि अपनी मन की दशा के कारण किसी कार्य से सुख मिलता है और किसी से दुःख। इसी सुख और दुःख मिलने की प्रक्रिया को हम कर्म-फल की व्यवस्था कहते हैं। जैसे एक व्यक्ति क्रोधित होकर कठोर शब्द बोलता और तिरछी आँखों से देखता है तो जो कर्म संचित होता है उससे उसी समय स्वयं में और आस पास दूसरे लोगों में अशान्ति

का वातावरण फैल जाता है, उसके कठोर व्यवहार से एक शक्ति या छाप चित्त पर अंकित हो जाता है। उसकी कायिक और वाचिक चेष्टा तो वहीं समाप्त हो जाती है, परन्तु भविष्य में उस शक्ति अर्थात् कर्म-वासना के परिपाक का कारण सम्पन्न होने पर फल प्राप्त होता है जो अनेक प्रकार का हो सकता है।

दूसरी ओर पुण्य कर्म के लिए भी ऐसा ही होता है—जैसे आप में परकल्याण की भावना उत्पन्न होकर दूसरों के साथ मैत्रीपूर्ण व्यवहार करने पर दूसरे लोग प्रसन्न होते हैं और उस समय भी एक शान्ति तथा मैत्री का वातावरण छा जाता है। उसी पुण्य-कार्य से अपने चित्त पर वैसी ही छाप पड़ती है। इस कर्म को करते समय परकल्याण की भावना होने के कारण भविष्य में उसके फल अपने लिए सुख-सुविधा प्राप्त कराते हैं। यही पाप और पुण्यकर्म की व्यवस्था है अथवा कर्म-फल की व्यवस्था है। अतः संक्षेप में बौद्धधर्म के कर्म-फल की व्यवस्था का यही सिद्धान्त है कि अच्छे काम से अच्छा फल मिलेगा, बुरे काम का बुरा नतीजा होगा, भला करो तो भला, बुरा करो तो बुरा।

पापकारिसुखेच्छातु यत्र यत्रैव गच्छति।
तत्र तत्रैव तत्पापैर्दुःखशस्त्रैर्विहन्यते॥ ४२॥

पाप-कर्म करके सुख-सुविधा की इच्छा करने पर भी जन्म-जन्मान्तर में पाप का फल बहुत अधिक मात्रा में दुःख के रूप में भोगना पड़ेगा। इसलिए कर्म-फल की व्यवस्था न्यायालय के समान है और वास्तव में यह उच्चतम न्यायालय है जहाँ न वाक्-कौशल चलता है, न शक्ति प्रयोग, न धन-दौलत ही काम देती है। सब कुछ अपने कार्य पर निर्भर है। अच्छा कर्म किया तो अच्छा फल पाना और बुरे कर्म से बुरा फल मिलना निश्चित है। इसमें किसी प्रकार का परिवर्तन हो नहीं सकता। अतः भगवान् तथागत की यह

शिक्षा है कि कर्म-निश्चित है, कर्म वृद्धिशील है, नहीं किए हुए कर्म का फल भोगना नहीं पड़ता और किए हुए कर्म विना फल दिये कभी नष्ट नहीं होते।

इसलिए अब हम अपने आपको बौद्ध समझ के त्रिरत्न के प्रति शरण-गमन करने वालों को यह देखना है कि हम कर्म-फल के सिद्धान्त को मानकर विश्वास के साथ उचित व्यवहार अपनाते हैं कि नहीं। कर्म-फल व्यवस्था के विरूद्ध आचरण करके शरणगमन करना मिथ्याचरण है। सच्चे हृदय से शरणगमन करते हैं या नहीं यह उस व्यक्ति के आचरण से समझा जा सकता है। कोई दो तीन घण्टे निरन्तर पूजा पाठ या जप करे फिर भी वास्तव में वह धर्माभ्यास और शरणगमन नहीं करता यदि वह कर्म-फल की व्यवस्था की उपेक्षा करता है। अतः कर्म फल के उचित आचरण के साथ पुण्य-संचय होने पर हर प्रकार के सुखद फल मिलेंगे, जैसे कि अगले श्लोक में कहा है।—

विपुलसुगन्धिशीतलसरोरुहगर्भगता
मधुरजिनस्वराशनकृतोपचितद्युतयः।

मुनिकरबोधिताम्बुजविनिर्गतसद्वपुषः
सुगतसुता भवन्ति सुगतस्य पुरः कुशलैः॥ ४४॥

पुण्यों से माँ के गर्भ जैसे तंग और दुर्गन्धपूर्ण स्थान छोड़कर अत्यन्त विशाल एवं सुगंधित कमलों के गर्भ में रहकर माँ के आहार से नहीं, बुद्ध वचनों के आहार से प्रकाशमान शरीर वृद्धि को पाकर अमिताभ जैसे बुद्धों की किरणों से खिलने वाले कमल से जन्म लेकर भगवान के सामने सत्त्व प्रकट होता है।

यमपुरुषापनीतसकलच्छविरार्तरवो
हुतवहतापविद्रुतकताम्रनिषिक्ततनुः ।
ज्वलदसिशक्तिघातशतशातितमांसदलः
पतति सुतप्तलोहधरणीष्वशुभैर्बहुशः ॥ ४५ ॥

इसके विपरीत पापकर्म से अत्यन्त तपी धरती वाले नरक में जन्म होता है, जहाँ यमदूत उस जीव की खाल उतारते हैं, पिघलाए हुए तांबे शरीर पर ढालते हैं। जलती हुई तलवारों और बरछियों के प्रहारों से मांस के सैकड़ों टुकड़े होकर इधर-उधर बिखर जाते हैं।

तस्मात् कार्यः शुभच्छंदो भावयित्वैवमादरात् ।
वज्रध्वजस्य विधिना मानं त्वारम्य भावयेत् ॥ ४६ ॥

इसलिए यदि सुख के अभिलाषी हैं तो पुण्यकर्म के प्रति उत्साह और प्रसन्नता होनी चाहिए और आदर के साथ अभ्यास होना चाहिए। ऐसे अभ्यास की सफलता के लिए क्लेश दोषों पर विजय पाने का हिम्मत या आत्मविश्वास होना आवश्यक है। अतः 'वज्रध्वजसूत्र' में वर्णित विधि के अनुसार पुण्यकर्म का आरम्भ करके मानपूर्वक स्थिर भाव से (सुसंयत) रहना चाहिए।

पूर्वं निरूप्य सामग्रीमारभेन्नारभेत वा ।
अनारम्भो वरं नाम न त्वारभ्य निवर्तनम् ॥ ४७ ॥

किसी कार्य को आरम्भ करने से पहले अपनी मनःक्षमता को दृष्टि में रखकर सफलता पाई जा सकती है या नहीं इसकी परीक्षा कर निर्णय लेना चाहिए। यदि सफलता नहीं मिलने वाली है तो आरम्भ करके अधूरा छोड़ने से आरम्भ ही न करना अच्छा है।

जन्मान्तरेऽपि सोऽभ्यासः पापाद् दुःखं च वर्धते ।
अन्यच्च कार्यकालं च हीनं तच्च न साधितम् ॥ ४८ ॥

कोई कार्य आरम्भ करके फिर अधूरा छोड़ने से अन्य जन्मों में भी वही अभ्यास बना रहता है जिससे पाप संचय होता है और पाप का फल दुःख भोगना पड़ता है। ऐसी दशा में उस पुण्य का फल कम मिलेगा और और अन्य कार्य भी सिद्ध नहीं होंगे।

त्रिषु मानो विधातव्यः कर्मोपक्लेशशक्तिषु ।
मयैवैकेन कर्तव्यमित्येषा कर्ममानिता ॥ ४९ ॥

इससे पहले कहीं कहा है कि मान (अपने में विश्वास जन्य उत्साह) उत्पन्न करना चाहिए, ये मान तीन प्रकार के हैं, कर्म-मान, क्लेश-मान और शक्ति-मान। किसी पुण्यकर्म को विना अन्य किसी की सहायता से, अकेले ही सिद्ध करने के उत्साह को कर्म-मान कहते हैं।

क्लेशस्वतन्त्रो लोकोऽयं न क्षमः स्वार्थसाधने ।
तस्मान्मयैषां कर्तव्यं नाशक्तोऽहं यथा जनः ॥ ५० ॥

सांसारिक प्राणी क्लेशवश अपना कल्याण भी नहीं कर सकते। मैं एक महायानी साधक हूँ इसलिये मुझे क्लेशों को अपने वश में करके प्राणि-मात्र का उपकार करना है, ऐसा सोचना 'क्लेश-मान' है।

नीचं कर्म करोत्यन्यः कथं मय्यपि तिष्ठति ।
मानाच्चेन्न करोम्येतन्मानो नश्यतु मे वरम् ॥ ५१ ॥

मैंने प्राणिमात्र के उपकार की प्रतिज्ञा की है। फिर अनेक प्राणी कठिन श्रम करते हैं तो मैं कैसे आलस्यपूर्वक बैठ सकता हूँ ? मैं उच्चकोटि के कार्य करता हूँ, यह नीच काम मेरा नहीं, ऐसा अभिमान नहीं होना चाहिए।

मृतं डुण्डुभमासाद्य काकोऽपि गरुडायते।
आपदाबाधतेऽल्पापि मनो मे यदि दुर्बलम् ॥ ५२ ॥

मृतक साँप पर कौआ भी गरुड़ की तरह जुट जाता है, वैसे ही हमारे बहुत विनम्र होने पर बहुत छोटी आपत्तियाँ भी हानि पहुँचा सकती है। अतः हम में 'शक्ति-मान' होना आवश्यक है।

विषादकृतनिश्चेष्ट आपदः सुकरा ननु।
व्युत्थितश्चेष्टमानस्तु महतामपि दुर्जयः ॥ ५३ ॥

क्योंकि हिम्मत हार कर, विना प्रयास किये कोई भी व्यक्ति दुःख और कठिनाई से मुक्त नहीं हो सकता, परन्तु मान के साथ प्रयत्न करने पर शक्तिशाली आपत्तियों का भी सामना कर सकता है अर्थात् वे हमें पतित नहीं कर सकतीं।

तस्माद् दृढेन चित्तेन करोम्यापदमापदः।
त्रैलोक्यविजिगीषुत्वं हास्यमापज्जितस्य मे ॥ ५४ ॥

इसलिए दृढ़ संकल्प के साथ, अन्य किसी की सहायता के विना आपत्तियों पर विजय पाना होगा। यदि हम आपत्ति से पराजित हो गये तो हमारे त्रैलोक्य विजय का लक्ष्य उपहास का विषय होगा।

मया हि सर्वं जेतव्यमहं जेयो न केनचित्।
मयैष मानो वोढव्यो जिनसिंहसुतो ह्यहम् ॥ ५५ ॥

बोधिचित्त की उत्पत्ति करके स्वयं अपने को जिन शाक्यसिंह (गौतम बुद्ध) का सुपुत्र समझते हुए, इस प्रकार का मान होना चाहिए कि मैं हर एक क्लेश-दोष को पराजित करूँगा और कोई भी दोष मुझको वश में नहीं कर सकेगा।

ये सत्त्वा मानविजिता वराकास्ते न मानिनः।
मानी शत्रुवशं नैति मनशत्रुवशाश्च ते ॥ ५६ ॥

परन्तु ऐसा मान उत्पन्न करते समय क्लेशपूर्ण अहंकार नहीं होना चाहिए। जो साधक अहंकार दोष से पराजित होता है वह क्लेश-मान* वाला नहीं, क्योंकि क्लेश-मान वाले कभी क्लेश-दोष जैसे शत्रु से पराजित नहीं होते।

मानेन दुर्गतिं नीता मानुष्येऽपि हतोत्सवाः।
परिपिण्डाशिनो दासा मूर्खा दुर्दर्शनाः कृशाः ॥ ५७ ॥
सर्वतः परिभूताश्च मानस्तब्धास्तपस्विनः।
तेऽपि चेन्मानिनां मध्ये दीनास्तु वद कीदृशाः ॥ ५८ ॥

परित्यजनीय क्लेश-दोष अहंकार होने से अनेक दुःख भोगना पड़ेगा, क्योंकि ऐसी मान-भावना से दुर्गति में पतन होगा और यदि मानव जन्म मिले तो भी सुख-सुविधा से वंचित रहेंगे, दूसरों से माँगकर खाना पड़ेगा, दास बनना पड़ेगा, मन्द-बुद्धि वाले और कुरूप काय होंगे, कृश होंगे और सर्वतः तिरस्कृत होंगे।

यदि क्लेष-दोष अहंकार से पीड़ित प्राणियों को यहाँ वर्णित प्रतिपक्ष क्लेश-मान* वाला समझा जाए तो कौनसा प्राणी करुणा का पात्र हो सकता है।

ते मानिनो विजयिनश्च त एव शूर ये मानशत्रुविजयाय वहन्ति मानम्।
ये तं स्फुरन्तमपि मानरिपुं निहत्य कामं जने जयफलं प्रतिपादयन्ति ॥५९॥

वास्तव में जो परित्याजय दोष अहंकार पर विजय पाने के लिए मान रखता है वही क्लेश-मान वाला है और दोष-अहंकार पर विजय

* यहाँ ५० वें श्लोक में वर्णित क्लेश-मान का अर्थ लेना चाहिए।

पाने वाला वीर पुरुष भी है। ऐसे क्लेश-मान से बहुत शक्तिशाली अहंकार को भी नष्ट करके सम्पूर्ण जगत् के अभीष्ट फल मोक्ष और बुद्धत्व को सम्पन्न कर सकता है।

संक्लेशपक्षमध्यस्थो भवेद् दृप्तः सहस्रशः।
दुर्योधनः क्लेशगणैः सिंहो मृगगणैरिव ॥ ६० ॥

इसलिए, क्लेशों के बीच रहते समय उसे हजारों उपायों से दृप्त होना चाहिए, जैसे लोमड़ी आदि जानवर सिंह पर आक्रमण नहीं कर सकते, वैसे ही क्लेश-मान से सहस्रशः दृप्त होकर क्लेश-समूह से दुर्जेय होना चाहिये।

महत्स्वपि हि कृच्छ्रेषु न रसं चक्षुरीक्षते।
एवं कृच्छ्रमपि प्राप्य न क्लेशवशगो भवेत् ॥ ६१ ॥

जैसे हम बाहरी हानि से अपनी आँख की रक्षा करते हैं वैसे ही किसी भी प्रकार की विपत्ति के समय चित्त की क्लेश-दोष के आक्रमण से रक्षा करनी चाहिए।

(इस श्लोक के बाद तिब्बती अनुवाद में 'चतुर्थ परिच्छेद' के ४४वें श्लोक को फिर दोहराया गया है जिसमें दो पद अधिक हैं। उनका अर्थ इस प्रकार है—उसी प्रकार हर अवसर पर उचित कार्य को ही करना चाहिए।)

यदेवापद्यते कर्म तत्कर्मव्यसनी भवेत्।
तत्कर्मशौण्डोऽतृप्तात्मा क्रीडाफलसुखेप्सुवत् ॥ ६२ ॥

(अब रतिबल का वर्णन आता है)—इस अभ्यास में निरन्तर प्रसन्नता-पूर्वक बिना किसी तृप्ति का अनुभव किये लगा रहना चाहिए, जैसे बच्चे खेल के सुख में खोये रहते हैं।

सुखार्थं क्रियते कर्म तथापि स्यान्न वा सुखम् ।
कर्मैव तु सुखं यस्य निष्कर्मा स सुखी कथम् ॥ ६३ ॥

हम साधारण लोग अपनी सुख-सुविधा के लिए अनेक कार्य करते हैं, परन्तु उन कार्यों से सुख प्राप्त हो भी सकता है और नहीं भी, वह अनिश्चित है; फिर भी हम प्रयत्न करते हैं। इस बोधिचर्या अभ्यास के कार्य से सुखद फल मिलना निश्चित है, अतः इसके किये बिना हम रह नहीं सकते।

कामैर्न तृप्तिः संसारे क्षुरधारामधूपमैः ।
पुण्यामृतैः कथं तृप्तिर्विपाकमधुरैः शिवैः ॥ ६४ ॥

क्योंकि सांसारिक काम-भोग जो छुरे की धार पर लगी मधु के समान होते हुए भी हमें भोगों से तृप्त नहीं होने देता तो फिर कौन उस अपार सुखमय और निर्वाणदाता पुण्य से तृप्त हो सकता है ?

तस्मात्कर्मावसानोऽपि निमज्जेत्तत्र कर्मणि ।
यथा मध्याह्नसंतप्त आदौ प्राप्तसराः करी ॥ ६५ ॥

हमें बोधिचित्त उत्पत्ति के सभी लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए अभ्यास-कर्म में जुटने में आतुर रहना चाहिए, जैसे दोपहर का तपा और प्यासा हाथी तालाब में डुबकी लगाने के लिए उत्सुक होता है।

बलनाशानुबन्धे तु पुनः कर्तुं परित्यजेत् ।
सुसमाप्तं तु तन्मुञ्चेदुत्तरोत्तरतृष्णया ॥ ६६ ॥

(यहाँ से त्याग बल का वर्णन है)—निरन्तर ऐसा अभ्यास करते समय शारीरिक असामर्थ्य के कारण जारी रखना असंभव होने पर फिर भविष्य में उस पुण्य कार्य को सफलता के साथ करने हेतु कुछ समय के लिए छोड देना

उचित है। किसी कार्य के सम्पन्न होने पर दूसरा कार्य आरंभ करने के लिए सम्पन्न कार्य को छोड़ना उचित है।

[यहाँ तक क्लेश शत्रु से लड़ने की तैयारी सम्भार संचय के चार बलों का क्रमशः वर्णन आया है। आगे वास्तव में क्लेश शत्रु से कैसे लड़ना चाहिए इसका वर्णन है।] —

क्लेशप्रहारान् संरक्षेत् क्लेशांश्च प्रहरेद्दृढम् ।
खड्गयुद्धमिवापन्नः शिक्षितेनारिणा सह ॥ ६७ ॥

जैसे एक अनुभवी तथा कुशल योद्धा शत्रुओं के अस्त्र-शस्त्र से बचते हुए अपने हथियार का प्रयोग करता है, उसी प्रकार बोधिसत्त्व को क्लेशों के निराकरण के लिए अभ्यास करते समय यह भी सावधानी बरतनी चाहिए कि कहीं क्लेश-शत्रु स्वयं पर आक्रमण न कर सकें।

इससे हमें यह शिक्षा मिलती है कि सम्भार संचय और क्लेश-निराकरण के अभ्यास का बहुत नपे-तुले ढंग से होना आवश्यक है। अध्ययन-अध्यापन को ही महत्व देकर अभ्यास छोड़ना उचित नहीं, या अभ्यास ही सब कुछ समझकर श्रुति ज्ञान की अनदेखी करना भी उचित नहीं, क्योंकि यह एकतरफा प्रयास होगा और बहुत कम प्रभावशाली होगा। अतः हमें उचित क्रम से सम्पूर्णतः अभ्यास करना चाहिए।

तत्र खड्गं यथा भ्रष्टं गृह्णीयात् सभयस्त्वरम् ।
स्मृतिखड्गं तथा भ्रष्टं गृह्णीयान्नरकान् स्मरत् ॥ ६८ ॥

जब युद्ध में लड़ते-लड़ते कोई तलवार गिरने पर भय के कारण तुरन्त उसे उठा लेता है, उसी प्रकार अभ्यास करते समय मन भटकने पर नरक के भयंकर दुःखों का स्मरण करके तुरन्त छूटी हुई स्मृति की तलवार उठा लेनी चाहिए।

विषं रुधिरमासाद्य प्रसर्पति यथा तनौ।
तथैव च्छिद्रमासाद्य दोषश्चित्ते प्रसर्पति ॥ ६९ ॥

[यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि क्यों स्मृति खोने में इतना ज्यादा खतरा है ?]—तो कहते हैं कि जैसे खून के माध्यम से विष सारे शरीर में फैल जाता है, वैसे ही क्लेश-दोषों द्वारा अवसर पाकर उसके चित्त में फैलकर हमे वश में करने का भय है, इसलिए हर समय चेतन और स्मृतिवान रहकर दोष को दूर रखना चाहिए।

तैलपात्रधरो यद्वदसिहस्तैरधिष्ठितः।
स्खलिते मरणत्रासात्तत्परः स्यात् तथा व्रती ॥ ७० ॥

जैसे किसी व्यक्ति को मुँह तक तेल से भरा पात्र हाथ में देकर कोई तलवार लिए पुरुष यह कहे कि यदि एक भी बूँद गिरेगी तो मौत होगी, ऐसे डर वाला व्यक्ति जितनी सावधानी से उस तेल के पात्र को लेगा उसी प्रकार एक साधक को तत्पर रहना चाहिए ताकि क्लेश दोषों को कोई अवसर न मिले।

तस्मादुत्संगगे सर्पे यथोत्तिष्ठति सत्वरम्।
निद्रालस्यागमे तद्वत्प्रतिकुर्वीत सत्वरम् ॥ ७१ ॥

इसी प्रकार अभ्यास के समय नींद, प्रमाद, आलस्य आदि आने पर तुरन्त प्रतिकार करना चाहिए, जैसे किसी की गोद में साँप के आजाने पर झटपट उठ जाना होता है।

एकैकस्मिंश्छले सुष्ठु परितप्य विचिन्तयेत्।
कथं करोमि येनेदं पुनर्मे न भवेदिति ॥ ७२ ॥

अनन्त काल से किये एक-एक पाप का अनुस्मरण करके पछताते हुए उस समय तक सोच विचार करना चाहिये जब तक फिर वैसी भूल न करने का दृढ़ संकल्प न हो जाए।

संसर्गं कर्म वा प्राप्तमिच्छेदेतेन हेतुना।
कथं नामास्ववस्थासु स्मृत्यभ्यासो भवेदिति ॥ ७३ ॥

स्मृति का अभ्यास करते हुए उचित वातावरण के लिए गुरुजनों का दर्शन करके शिक्षा प्राप्त करनी चाहिए और सूत्र पाठ जैसे उचित कर्म करना चाहिए।

लघुं कुर्यात्तथात्मानमप्रमादकथां स्मरन्।
कर्मागमाद् यथा पूर्वं सज्जः सर्वत्र वर्तते ॥ ७४ ॥

किसी भी प्रकार के पुण्य कर्म को सफलता पूर्वक करने की शक्ति के लिए काम के आरंभ में अप्रमाद की अनेक बातों का स्मरण करके उस कार्य के प्रति उत्सुकता और प्रसन्नता के साथ तत्पर होना चाहिए।

यथैव तूलकं वायोर्गमनागमने वशम्।
तथोत्साहवशं यायाद् ऋद्धिश्चैवं समृध्यति ॥ ७५ ॥

संक्षेप में वीर्य-अभ्यास से हमारे चित्त की प्रवृत्ति ऐसी होनी चहिए जैसी वायु के आने जाने से कपास (रुई) डोलने लगती है अर्थात् चित्त पुण्यकर्म-इच्छा की वशी हो और हर समय तत्पर रहे।

॥ वीर्यपारमिता नामक सप्तम परिच्छेद समाप्त ॥

● ● ●

अष्टम परिच्छेद

ध्यानपारमिता

वीर्य-परिच्छेद में धर्म-अभ्यास के प्रति छन्द, उत्साह और प्रयत्न आदि की जो शिक्षा मिलती है उसके सही ज्ञान के साथ ध्यान-पारमिता का अभ्यास होना चाहिए। इसलिए यह आठवाँ 'ध्यान परिच्छेद' आता है।

वर्धयित्यैववमुत्साहं समाधौ स्थापयेन्मनः।
विक्षिप्तचित्तस्तु नरः क्लेशदंष्ट्रान्तरे स्थितः ॥ १ ॥

ऐसे वीर्य का उत्साह बढ़ाकर मनको समाधि में स्थापित करना चाहिए क्योंकि आलस्य तथा चञ्चलता के सुख में खोये विक्षिप्तचित्त वाले मनुष्य पर किसी भी समय क्लेश का आक्रमण हो सकता है, वह क्लेश रूपी पशु के भेदक दाँतों पर बैठे हुये के समान है।

[इस समय हमारे पुण्यकर्म में थोड़े समय के लिए ध्यान केन्द्रित करने की क्षमता को निरन्तर अभ्यास से बढ़ाकर बिना किसी प्रकार की चञ्चलता तथा आलस्य के अपने अभीष्ट लक्ष्य पर इच्छानुसार दो चार घंटे एकाग्र रखने की चित्त की क्षमता को 'समाधि' या 'एकाग्रचित्त' कहते हैं। यह काम-एकाग्रचित्त होगा और इसे आगे चलकर समापत्ति और अरूप की समाधि प्राप्त होती है। इस प्रकार के ध्यान का अभ्यास करते समय अपना चित्त अभीष्ट लक्ष्य पर एकाग्र रखने से सूक्ष्म से सूक्ष्मतर भाव उत्पन्न होता है और निरन्तर स्पष्ट होता जाता है।

इससे पहले 'अप्रमाद परिच्छेद' में पुण्यकर्म के लिए मन का सर्वाधिक महत्व है, ऐसा उल्लेख आया है। इसलिए प्रभावशाली धर्माभ्यास चित्त

के द्वारा ही संभव है। परन्तु इस समय का हमारा चित्त बहुत मन्द है और उतना शक्तिशाली भी नहीं। यह पानी की तरह ठण्डा पड़ा है, इसलिए करुणा आदि का चिन्तन करने पर कुछ देर तक ध्यान रहता जरूर है, परन्तु अस्थिरता बनी रहती है, एकाग्रता की कमी होती है, जैसे मन्द आग की गरमी। कभी पुण्य विचार आने पर भी उसमें बाधा डालने वाले अनेक प्रकार के विचार आते हैं और फिर मन चञ्चल हो जाता है। हमारा ध्यान स्थिर तथा एक ही लक्ष्य पर केन्द्रित रहने पर विषय की परीक्षा सूक्ष्मता से हो सकती है। यदि मन समाधि में स्थिर रखना चाहें, रख सकते हैं। अतः प्रभावशाली पुण्यकर्म के लिए आलस्य और चंचलता जैसे चित्त-दोषों से मुक्त, अभीष्ट विषय पर इच्छानुसार केन्द्रित होने वाले एक स्वतन्त्र और शुद्ध चित्त का होना आवश्यक है।]

कायचित्तविवेकेन विक्षेपस्य न संभवः।
तस्माल्लोकं परित्यज्य वितर्कान् परिवर्जयेत्॥ २॥

इस प्रकार के समाधि-अभ्यास के उचित वातावरण के लिए शरीर और चित्त दोनों को प्रपञ्च से मुक्त होना चाहिए, जिसके लिए सब प्रकार के मनोरंजन और सांसारिक सम्बन्धों का परित्याग कर देना चाहिए।

[किसी भी विषय पर चिन्तन के समय मन को अन्य विषय पर भटकने से रोकना और नियन्त्रण में रखने की चेष्टा ही समाधि का अभ्यास है। साधारणतः हम चिन्तन-मनन की बात करते हैं, वह यही प्रक्रिया है कि अपने चित्त को इस तरह के अभ्यास से उसी चिन्तन-विषय का स्वरूप देना है। मनन करना यह दो प्रकार का है—अनित्यता और नैरात्मा जैसे किसी विषय को लक्ष्य बनाकर चिन्तन करना अथवा श्रद्धा, करुणा, बोधिचित्त आदि की भावना के जैसे अपने चित्त को उसी ध्यान विषय का स्वरूप बनाना। चिन्तन की क्रिया भी दो प्रकार की है—एक है—मनन के

विषय की बार बार परीक्षा करके विश्लेषण करना और दूसरी है, उस विषय पर चित्त एकाग्रकर स्थिर रखना। इस समय जिस विषय-वस्तु का वर्णन आने वाला है वह 'शमथ' अर्थात् चित्त को एक विषय पर केन्द्रित कर स्थिर रखने की मनन-क्रिया है। भगवान् तथागत ने सूत्रों में अनेक शमथ के आलम्बनों का प्रतिपादन किया है। इस समाधि में जब किसी विषय पर मनन करते है तो चित्त स्थिर भी होना चाहिए और स्पष्ट भी। यह स्पष्टता केवल विषय की ही नहीं परन्तु स्वयं चित्त के स्वरूप के परिज्ञान की भी आवश्यक है।

ध्यान अभ्यास के समय चित्त की मन्दता चिन्तन के स्पष्ट होने में विघ्न डालती है और चञ्चलता, मनके स्थिर रहने में विघ्न कारक है, इसलिए समाधि के मुख्यतः दो विघ्नों का वर्णन आता है। अतः ध्यान अभ्यास करने वाले को सर्वप्रथम सूत्रों एवं शास्त्रों के अध्ययन-अध्यापन से इन दोषों को जानकर अपने अनुभव से उनको पहचानना चाहिए। विशेष-कर सूक्ष्म तथा स्थूल मन्दता के अन्तर की स्पष्ट पहचान होनी चाहिए। अनेक साधक इन दोनों के अन्तर नहीं पहचान पाते, क्योंकि यह एक कठिन विषय है।

वास्तविक ध्यानाभ्यास के समय चित्त मन्द होने पर थोड़ा उत्साहित करना चाहिए और चित्त चञ्चल होने पर थोड़ा निरुत्साहित करना चाहिए। इसी प्रकार मन्दता और चञ्चलता की अधिकता और कमी इन दोनों अन्तों से बचाकर एक सन्तुलित ढंग से अभ्यास करके, अनुभव के सहारे बहुत सावधानी के साथ अभ्यास होना अत्यन्त आवश्यक है। समाधि के लिए मुख्य कार्य चित्त को अन्यत्र भटकने से रोकना है और उत्साहित या निरुत्साहित करना भी एक मनसिक क्रिया के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है। अनित्य और दुर्गति के दुःख आदि के पूर्व चिन्तन के अनुभव जिन से मन में कुछ उदास-भावना उत्पन्न होती है, उनसे चित्तको निरुत्साहित

१२

कर सकता है, उसे चञ्चल होने से रोक सकता है। दूसरी ओर अभ्युदय, बोधिचित्त के लाभ, त्रिशरण के गुणों आदि के चिन्तन जन्य अनुभव से मन प्रसन्न होता है और उत्साह बढ़ता है। अतः यथोचित रूप से समय समय पर अपनी मनःस्थितियों को समाधि के अनुकूल बनाकर चिन्तन-विषय पर केन्द्रित और स्थिर रखने का प्रयत्न करना चाहिए।]

स्नेहान्न त्यज्यते लोको लाभादिषु च तृष्णया।
तस्मादेतत्परित्यागे विद्वानेवं विभावयेत् ॥ ३ ॥

अपने घर-परिवार तथा निकट संबन्धियों के प्रति राग या स्नेह और दूसरों के लाभ-सत्कार की तृष्णा के कारण प्रपञ्च होता है और उनका परित्याग हो नहीं पाता, अतः विद्वानों को इन कारणों का ज्ञान होना चाहिए और उन्हें हर बन्धन से मुक्त होना चाहिए।

शमथेन विपश्यनासुयुक्तः कुरुते क्लेशविनाशमित्यवेत्य।
शमथः प्रथमं गवेषणीयः स च लोके निरपेक्षयाभिरत्या ॥ ४ ॥

समाधि से युक्त विपश्यना के द्वारा तीनो लोकों के क्लेशों का समूल नष्ट किया जा सकता है ऐसा जान कर विपश्यना की सिद्धि के लिए सर्व-प्रथम शमथ की खोज करना आवश्यक है। शमथ भी वही लोग प्राप्त कर सकते हैं जो लोक-रति से विमुक्त हैं।

यहाँ पर यह प्रश्न आता है कि शमथ और विपश्यना क्या चीज है? चित्तको एक विषय पर स्थिर रखने के अभ्यास के फल स्वरूप मन और शरीर को एक प्रकार की प्रस्रब्धि सुख प्राप्त होती है और उस सुख के अनुभव के साथ विषय पर एकाग्रता से चित्त का केन्द्रित रहना ही शमथ है।

शमथ प्राप्त होने के पश्चात तत्व ज्ञान की प्रज्ञा से उस विषय की सूक्ष्म परीक्षा करने से जो चित्त प्रस्रब्धि मिलती है वह 'विपश्यना' है।

यह भी जानना चाहिए कि विषय के आधार पर शमथ तथा विपश्यना को हमें पृथक नहीं समझना चाहिए क्योंकि हर एक धर्म की वस्तु स्थिति शमथ का विषय है और प्रत्येक धर्म विपश्यना का विषय है। दूसरे शब्दों में शमथ स्थिर मनन है और विपश्यना परीक्षात्मक मनन है। सूत्रों में वर्णित यह व्यवस्था तन्त्र में भी 'योगतन्त्र' तक समान है। परन्तु अनुत्तर-योगतन्त्र में शमथ तथा विपश्यना की व्यवस्था इससे भिन्न है और ऐसा भी अवसर बताया गया है जहाँ शमथ तथा विपश्यना एक साथ प्राप्त हो सकते हैं।

ध्यानाभ्यास से चित्त को स्थिर बनाकर शमथ प्राप्ति और प्रज्ञा से प्रत्यक्ष रूप में क्लेशों तथा ज्ञेयावरणों के निराकरण के लिए प्रयत्न इन तीनों से युक्त अभ्यास से क्लेश एवं ज्ञेय-आवरण के समूल नष्ट कर सकते हैं।

कस्यानित्येष्वनित्यस्य स्नेहो भवितुमर्हति।
येन जन्म सहस्राणि द्रष्टव्यो न पुनः प्रियः॥ ५॥
अपश्यन्नरतिं याति समाधौ न च तिष्ठति।
न च तृप्यति दृष्ट्वापि पूर्ववद् बाध्यते तृषा॥ ६॥

सत्त्वों के प्रति राग होना भी अनुचित है, क्योंकि राग करने वाला स्वयं भी अनित्य है और राग उत्पत्ति का लक्ष्य भी अनित्य है। इसी प्रकार जब दोनों स्वभाव से दुःख हैं, अनित्य हैं और नैरात्म्य रूप हैं, अतः वास्तव में राग-द्वेष के योग्य नहीं। जैसे मान लो कुछ दस पन्द्रह अपराधी एक साथ रहते हो, जिन्हे दो एक दिन में लागू की जाने वाली मृत्यु दण्ड की सजा घोषित की गई हों तो वे लोग सबके सब अल्प समय में मरना निश्चित है, तो कैसे एक दूसरे से मतभेत या राग-द्वेष कर सकते हैं, उसका कोई अवसर ही कहाँ है। "कस्यानित्येष्वनित्यस्य द्वेषो भवितुमर्हति।" भला कैसे

अनित्य से अनित्य का द्वेष करना उचित है ? ऐसे अर्थ लेकर अन्य दोषों को भी समझ सकते हैं।

ऐसा स्नेह या राग होना निरर्थक है क्योंकि उस राग का विषय हजारों जन्म में देख पाना भी असंभव है। न देखें तो मन उदास होता है और देखने की अभिलाषा से व्याकुल होकर समाधि में नहीं रह पाता। परन्तु देखकर मन तृप्त नहीं होता, वह देखने से पहले की तरह ही असन्तुष्ट और समुत्सुक बना रहता है।

न पश्यति यथाभूतं संवेगादवहीयते।
दह्यते तेन शोकेन प्रियसंगमकांक्षया ॥ ७ ॥

ऐसे किसी के प्रति आसक्त होने पर तत्त्व-ज्ञान में बाधा आती है, तृष्णा तथा राग के कारण संसार से विरक्ति नहीं होती। जितना भी राग या तृष्णा से ग्रस्त होंगे अन्त में उस विषय से वियोग होकर दुःख होना निश्चित है।

तच्चिन्तया मुधा याति ह्रस्वमायुर्मुहुर्मुहुः।
अशाश्वतेन मित्रेण धर्मो भ्रश्यति शाश्वतः ॥ ८ ॥

इस प्रकार के काम करने वालों या वैसे कामों में आसक्त व्यक्तियों का जीवन व्यर्थ में बीतेगा। यह मित्र और शत्रु का क्रम एक जीवन काल में भी अनिश्चित है, पहले के मित्र बाद में शत्रु और पहले के शत्रु अन्त में मित्र में परिवर्तित हो सकते हैं। इसलिए ऐसे अनित्य मित्र-बन्धु के प्रति काम और तृष्णा के कारण मोक्ष प्राप्ति का अवसर नष्ट होता है। उसे प्राप्त करने का उपाय धर्म-अभ्यास भी नहीं हो पाता।

बालैः सभागचरितो नियतं याति दुर्गतिम्।
नेष्यते विसभागश्च किं प्राप्तं बालसंगमात् ॥ ९ ॥

पृथग्जनों के साथ रह कर धर्म-अभ्यास होना बहुत कठिन है, क्योंकि उनके आचरण के अनुकूल करने से दुर्गति प्राप्त होना निश्चित है अतः पृथग्जनों से सम्बन्ध ही न रखना अच्छा है।

क्षणाद् भवन्ति सुहृदो भवन्ति रिपवः क्षणात्।
तोषस्थाने प्रकुप्यन्ति दुराराध्याः पृथग्जनाः॥ १०॥

ये क्षण में मित्र हो जाते हैं और बातों बातो में बहुत छोटे कारणों से शत्रु हो जाते हैं, दैनिक जीवन के कार्यों में व्यस्त रहकर सुख-साधक और पुण्य-कर्म के प्रति अप्रसन्नता प्रकट करने वाले पृथग्जनों को संतुष्ट करना बहुत कठिन है। इसलिए धर्म-साधक को उनके संपर्क से दूर रहना ही उचित है।

हितमुक्ताः प्रकुप्यन्ति वारयन्ति च मां हितात्।
अथ न श्रूयते तेषां कुपिता यान्ति दुर्गतिम्॥ ११॥

जैसे एक कहावत है, "उपकार की बातें कड़ई होती है",—वैसे ही पृथग्जन, कल्याण की बातें कहने से प्रसन्न नहीं होते। यही नहीं हमको भी उपकार के कार्य छोड़ने में मजबूर करेंगे, उनकी बातों को मानने से धर्म-अभ्यास हो नहीं सकता। यदि न माने तो वे कुपित होते हैं जिससे उन्हें दुर्गति प्राप्त होगी।

ईर्ष्योत्कृष्टात् समाद् द्वन्द्वो हीनान्मानः स्तुतेर्मदः।
अवर्णात्प्रतिघश्चेति कदा बालाद्धितं भवेत्॥ १२॥

पृथग्जन के चरित्र के अन्य दोष भी इस प्रकार हैं, जैसे कि अपने से उत्कृष्ट लाभ-सत्कार या सम्मान वालों से ईर्ष्या, समान परिस्थिति वालों से कलह और हीन लोगों का दमन करना। वे स्वयं को उनसे उत्कृष्ट समझकर मान करते हैं। थोड़ी प्रशंसा करने से अभिमान और निन्दा या

वास्तविक बातों से क्रोध उत्पन्न होता है। इसलिए पृथग्जन से किसी का हित होने का अवसर बहुत कम है।

आत्मोत्कर्षः परावर्णः संसाररतिसंकथा।
इत्याद्यवश्यमशुभं किंचिद् बालस्य बालतः॥ १३॥

पृथग्जन की कुसंगति से आत्म-स्तुति, पर-निन्दा, सांसारिक रति-चर्चा जैसे अनेक दुष्कर्मों से प्रभावित होकर अनेक पाप-कर्म में डूब जाना निश्चित है।

एवं तस्यापि तत्संगात् तेनानर्थसमागमः।
एकाकी विहरिष्यामि सुखमक्लिष्टमानसः॥ १४॥
बालाद्दूरं पलायेत प्राप्तमाराधयेत् प्रियैः।
न संस्तवानुबन्धेन किन्तूदासीनसाधुवत्॥ १५॥

अतः एक साधक के लिए अन्य पृथग्जन की संगति से एक दूसरे का हित नहीं हो सकता, न वह हमारा कल्याण करते हैं, और न हम उनका हित कर पाते हैं। अब यही अच्छा है कि पृथग्जनों से सुदूर विहार करें। परन्तु जब कभी मिले तो स्वागत कर प्रसन्न करना चाहिए और मात्र जान-पहचान तक सीमित संबन्ध रखकर राग-द्वेष से रहित आचरण करना चाहिए।

धर्मार्थमात्रमादाय भृंगवत् कुसुमान्मधु।
अपूर्व इव सर्वत्र विहरिष्याम्यसंस्तुतः॥ १६॥

जिस प्रकार भौंरे फूलों से मधु लेते हैं परन्तु फूलों के रंग रूप से आकर्षित नहीं होते उसी प्रकार बोधिचर्या का अभ्यास करने वालों को भी पृथग्जनों के साथ धर्म-प्रयोजन तथा अपने और दूसरों के कल्याण मात्र के सम्बन्ध रखकर अपरिचित या नवागन्तुक की तरह सबके साथ निष्पक्ष आचरण करना चाहिए।

लाभी च सत्कृतश्चाहमिच्छन्ति बहवश्व माम्।
इति मर्त्यस्य संप्राप्तान्मरणाज्जायते भयम् ॥ १७ ॥

यदि हमारा मन यह तर्क देता है कि हमें पृथग्जनों से निकट सम्बन्ध रखकर ही अनेक लाभ, सत्कार मिलेगा और बहुत लोग मित्र बनकर स्नेह देंगे। तो ऐसा सोचना एक बहुत उग्र विचार है, क्योंकि लाभ सत्कार मात्र इस जीवन काल के लिए है और इनके कारण मृत्यु के बाद अनेक दुःख सहने पड़ेंगे।

यत्र यत्र रतिं याति मनः सुखविमोहितम्।
तत्तत् सहस्रगुणितम् दुःखं भूत्वोपतिष्ठति ॥ १८ ॥

अज्ञानवश जिन पर मोहित होकर राग होता है, उन्हीं से उस अल्पकालिक सुख का सहस्र गुना दुःख मिलने के भविष्य-फल का स्मरण कर मोह त्याग देना चाहिए।

तस्मात्प्रज्ञो न तामिच्छेद् इच्छातो जायते भयम्।
स्वयमेव च यात्येतद् धैर्यं कृत्वा प्रतीक्षताम् ॥ १९ ॥

अतः बुद्धिमान लोगों को इस प्रकार का राग छोड़ना उचित है क्योंकि राग-इच्छा से दुर्गति का भय प्राप्त होगा और इस राग के विषय को अस्थिर तथा परिवर्तनशील स्वभाव का जान कर स्थिर मन से विचार करना चाहिए।

बहवो लाभिनोऽभूवन् बहवश्च यशस्विनः।
सहलाभयशोभिस्ते न ज्ञाताः क्व गता इति ॥ २० ॥

जीवन काल में जितना भी लाभ-सत्कार, नाम-यश और स्तुति प्राप्त हो सभी निरर्थक है, क्योंकि मृत्यु के समय सबको छोड़ कर जाना है।

मामेवान्ये जुगुप्सन्ति किं प्रहृष्याम्यहं स्तुतः।
मामेवान्ये प्रशंसन्ति किं विषीदामि निन्दितः॥ २१॥

यहाँ एक बहुत सरल परन्तु महत्वपूर्ण शिक्षा दी गई है कि—हमें अपने सामने स्तुति होने पर प्रसन्न होना उचित नहीं, जब कि पीठ पीछे अनेक हमारी निन्दा करते हैं, और न हमे निन्दा सुनकर अप्रसन्न होने का ही कोई कारण है, जब कि अनेक लोग हमारी स्तुति करते हैं।

नानाधिमुक्तिकाः सत्त्वा जिनैरपि न तोषिताः।
किं पुनर्मादृशैरज्ञैस्तस्मात् किं लोकचिन्तया॥ २२॥

प्राणी नाना आधिमुक्तिक हैं (तथागत बुद्ध ने भी हर एक भारतीय को बौद्ध मत में परिवर्तित करने का न तो कोई उपदेश दिया, न ही अपनी इच्छा प्रकट की या चेष्टा की। सभी कुछ प्राणियों के अपनी बुद्धि और इच्छा पर छोड़ कर मार्ग देशना दी।) हर एक प्राणी की अपनी-अपनी इच्छा, विश्वास तथा अभिरुचि के कारण भगवान् बुद्ध स्वयं भी हर एक प्राणी को प्रसन्न तथा संतुष्ट नहीं कर पाये, फिर हम जैसे अज्ञानी पृथग्जनों के द्वारा सभी को प्रसन्न कर पाना असंभव है। अतः असंभव कार्य की इच्छा त्यागना अच्छा है।

["ब्लो-जोङ्-दोन्-बदुन्-मा" 'अर्थसप्ततिचित्ताभ्यास' में स्वयं के प्रमुख साक्ष्य का वर्णन किया है, किसी कार्य के पर और स्व ये दो प्रकार के साक्ष्य हो सकते हैं। स्वयं अपनी जानकारी से कोई भी स्वकृत बात छिपी नहीं रह सकती। इसलिए अपने कार्यों के निर्णय स्वयं अपनी बुद्धि के आधार पर करना चाहिए। बुद्धि के परीक्षण से ही निर्णय लेना अच्छा है।]

निन्दन्त्यलाभिनं सत्त्वमवध्यायन्ति लाभिनम्।
प्रकृत्या दुःखसंवासैः कथं तैर्जायते रतिः॥ २३॥

और भी अनेक कारण हैं जिनसे हम सभी प्राणियों को संतुष्ट नहीं कर सकते। जैसे—साधारणतः पृथग्जन लाभ-सत्कार से वंचित को अभागे की संज्ञा देकर कोसते हैं, लाभ-सत्कार प्राप्त लोगों को, "पाप का माल है, वह धोखाधड़ी है ऐसा कहकर निन्दा करते हैं। कैसी भी परिस्थिति हो प्रसन्न न होने वाले ऐसे स्वभाव वालों की संगति करके संतुष्ट कर पाना अत्यन्त कठिन है।

न बालः कस्य चिन्मित्रमिति चोक्तं तथागतैः।
न स्वार्थेन विना प्रीतिर्यस्माद् बालस्य जायते ॥ २४ ॥
स्वार्थभावेन या प्रीतिरात्मार्थं प्रीतिरेव सा।
द्रव्यनाशे यथोद्वेगः सुखहानिकृतो हि सः ॥ २५ ॥*

पृथग्जन दूसरों से अधिक स्वार्थ सिद्ध हुए विना प्रसन्न नहीं होते, जब कि ऐसा हममें हो पाना असंभव है। इसी कारण, तथागतों ने कहा है कि पृथग्जन कदाचित् किसी का भी कल्याणमित्र नहीं हो सकता।

[अतः स्वयं अपनी ओर से विचार करके जानने की क्षमता और तरीका जानना आवश्यक है। नहीं तो आजकल संसार के बड़े बड़े शहरों में देखने को मिलता है कि, जहाँ लाखों की संख्या में समान जातीय लोग निवास करते हैं, वह एक मानव जाति के हैं, परन्तु आपस में शोषण और धोखेबाजी आदि के कारण उस अपार जनसमूह में रहते हुए भी अपने आप में असुरक्षित, अकेले और अनाथ महसूस करते हैं। यह सब पृथग्जनों का दोष है।]

---

* अपने स्वार्थ की भावना से जो प्रीति होती है, वह अपने हित के लिए होती है। जैसे द्रव्यनाश से जो दुःख होता है, वह सुख की हानि के कारण होता है। (यह श्लोक भोट-अनुवाद में उपलब्ध नहीं है)।

नावध्यायन्ति तरवो न चाराध्याः प्रयत्नतः।
कदा तैः सुखसंवासैः सहवासो भवेन्मम ॥ २६ ॥

(एकान्त स्थल में रहने का सुख और शान्ति इस प्रकार है)—जहाँ सुनसान वन के वृक्ष, स्वतन्त्र जीवी जंगली जानवर तथा वन के पक्षी कोई बुरा भला नहीं कहते, उनका सहवास कर ऐसे स्थल पर समाधि में बैठने के लिए साधक को समुत्सुक होना चाहिए।

शून्यदेवकुले स्थित्वा वृक्षमूले गुहासु च।
कदानपेक्षो यास्यामि पृष्ठतो ऽनवलोकयन् ॥ २७ ॥

ध्यान-अभ्यास के इच्छुक साधक का ऐसा विचार होना चाहिए कि कब मझे चट्टान या पर्वत की गुफा में खाली पुराने मठ-मन्दिर में या वृक्ष के नीचे बैठकर सांसारिक सम्बन्धों की ओर पीछे न मुड़ते हुए ध्यान के लिए मुक्त होने का अवसर प्राप्त होगा।

अममेषु प्रदेशेषु विस्तीर्णेषु स्वभावतः।
स्वच्छन्दचार्यनिलयो विहरिष्याम्यहं कदा ॥ २८ ॥

अनधिकृत विशाल प्रदेशों में बिना आसक्ति के स्वतन्त्र वातावरण में रहकर सर्वज्ञाता प्राप्ति के अलावा और किसी प्रकार का प्रपञ्च न हो।

मृत्पात्रमात्रविभवश्चौरासंभोगचीवरः।
निर्भयो विहरिष्यामि कदा कायमगोपयन् ॥ २९ ॥

ऐसे एकांत स्थान पर अभ्यास करते समय भिक्षा-पात्र, कमण्डलु आदि खाने पीने की न्यूनतम सामग्री और किसी के काम न आने वाले चीवर पहने, अपने पास कुछ भी चुराये और लूटे जाने लायक वस्तु न होने से बिना लुके-छिपे निश्चिन्त जीवन बीताने को मिले। इसका एक सुन्दर उदाहरण तिब्बत के महायोगी मिला-रेसूपा की जीवनी में मिलता

है। एकबार उनकी गुफा में रात को कुछ चोर घुसे और सर्वत्र तलाश करने लगे तो मिला-रेस्पा ने कहा, "जहाँ मुझे दिन में कुछ नहीं मिलता, वहाँ तुम्हें रात को क्या मिलेगा ?" वास्तव में उनके पास चोरों के लायक कुछ था ही नहीं।

कायभूमिं निजां गत्वा कंकालैरपरैः सह।
स्वकायं तुलयिष्यामि कदा शतनर्धामिणम् ॥ ३० ॥

(इस प्रकार न्यूनतम जीविका समग्री के साथ एकांत में रहते हुए चित्त में नित्य-धारणा होना उचित नहीं)—इसलिए नित्यता की भावना दूर करने हेतु श्मशानों में जाकर दूसरों की गली-सड़ी लाशों और पुरानी हड्डियों को देखकर, कभी न कभी मेरा शरीर भी इसी तरह गलने-सड़ने लगेगा, यह अनित्य है' ऐसा चिन्तन करना चाहिए। [इससे पहले धन-दौलत और मित्र-बन्धुओं के प्रति राग न करने की शिक्षा आई है, उसी प्रकार यहाँ अपने शरीर के प्रति भी राग न करने की शिक्षा है।]

अयमेव हि कायो मे एवं पूतिर्भविष्यति।
शृगाला अपि यद्गन्धान्नोपसर्पेयुरन्तिकम् ॥ ३१ ॥

इस समय हमें प्रिय और अपना लगने वाला यह शरीर वास्तव में वही शरीर है जो मृत्यु के समय् अपने से पृथक होने पर सड़ जायेगा और लोमड़ी जैसे मांसभक्षी जानवर भी दुर्गंध के कारण इसके पास भी नहीं आयेंगे।

एकैकस्यापि कायस्य सहजा अस्थिखंडकाः।
पृथक् पृथक् गमिष्यन्ति किमुतान्यः प्रियो जनः। ३२ ॥

जब जन्म से साथ उत्पन्न हुए इस शरीर के मांस-हड्डी भी पृथक हो जाते हैं, मांस सड़ने-गलने से लुप्त हो जाता है और हड्डियाँ भी धीरे-धीरे

मिट्टी बन जाती हैं, तो जन्म के बाद अलग से संबंधित होने वाले मित्र-बन्धु तो निश्चिय ही अनित्य और हम से पृथक होने वाले हैं, अतः उनके प्रति राग होना अनुचित है।

एक उत्पद्यते जन्तुर्म्रियते चैक एव हि।
नान्यस्य तद्व्यथाभागः किं प्रियैर्विघ्नकारकैः॥ ३३॥

(जन्म तथा मृत्यु ये दो अवसर जीवन के सर्वाधिक महत्वपूर्ण समय हैं)—जीवनकाल में जहाँ स्वयं देख सुन कर कुछ उपाय कर सकते हैं, ऐसे समय मित्र-बन्धु भी हमारी सहायता कर सकते हैं, हमें मदद मिल सकती है, परन्तु जन्म और मृत्यु के समय यह संभव नहीं। अकेले जन्म लेते हैं और अकेले ही मृत्यु होती है। उस समय कोई दूसरा मित्र बन्धु सहायता कर नहीं सकता। उस समय मात्र पुण्यकर्म ही सहारा देंगे, तो पुण्यकर्म में विघ्न डालने वाले मित्र-बन्धु से कुछ लाभ नहीं।

अध्वानं प्रतिपन्नस्य यथावासपरिग्रहः।
तथा भवाध्वगस्यापि जन्मावासपरिग्रहः॥ ३४॥

जैसे, राही रात भर या कुछ दिन के लिए जहाँ बसेरा लेगा तो उसका न उस घर में हमेशा रहने का प्रयोजन बनेगा और न कोई विशेष राग होगा, उसी प्रकार हम भव-यात्रा के यात्री हैं। अधिकतम सौ-पचास वर्ष के मेहमान हैं। अतः इस जन्म को सांसारिक राही का बसेरा मात्र जानकर भविष्य की लम्बी यात्रा के लिए पुण्य-संचय करना चाहिए।

चतुर्भिः पुरुषैर्यावत् स न निर्धार्यते ततः।
आशोच्यमानो लोकेन तावदेव वनं व्रजेत्॥ ३५॥

शोक में डूबे हुए मित्रबन्धुओं के बीच मृतक बनकर चार पुरुषों के कन्धे पर उठाये जाने का समय आने से पहले ही हमें वन में जाकर धर्म-अभ्यास

करना चाहिए। [यह वास्तव में आवश्यक है कि मरने के बाद दूसरों के द्वारा पूजा-पाठ और प्रार्थना करने से थोड़ा बहुत कल्याण हो सकता है परन्तु यदि हम ऐसे कार्य में विश्वास और श्रद्धा रखते हैं तो अपने मरने से पूर्व पूजा-पाठ, प्रार्थना जैसा जो कुछ करना है स्वयं कर डालना चाहिए। अपने जीवन काल में हर प्रकार के अनैतिक कार्य करते रहें तो मरने के बाद किसी से कुछ करवाने पर भी कल्याण सिद्ध नहीं होगा। अतः हमें जीवित तथा स्वतन्त्र रहते समय धर्म-अभ्यास करना अति आवश्यक है। कांग्युर और तेनग्युर* की जो लगभग तीन सौ पोथियाँ आज हमारे पास हैं, उनमें दी हुई कुछ एक दो बातें मरणोपरान्त क्रिया की होंगी, शेष समस्त बातें जीवन काल के अभ्यास के लिए हैं। मरने से पहले भविष्य के लिए क्या करना चाहिए इन बातों की शिक्षा है। कुछ लोग सारा जीवन सांसारिक कामकाज में व्यतीत करते रहे और बाद में थोड़ासा धन अलग रखकर कहते हैं, "यह मेरे मरने के बाद पूजापाठ या प्रार्थना के लिए है"। इतनी बातों से संतुष्ट होना व्यर्थ है। जन्म-जन्मान्तर में पुण्य-कर्म के अभ्यास की उत्तरोत्तर वृद्धि के लिए अपने चित्त पर पुण्य का संस्कार होना आवश्यक है, न कि मरणोपरान्त प्रार्थना। अतः यथासंभव पुण्य संचय करना और चित्त पर धर्म कर्म के बातों का आभास रहना चाहिए।

असंस्तवाविरोधाभ्यामेक एव शरीरकः।
पूर्वमेव मृतो लोके म्रियमाणो न शोचति॥ ३६॥

---

* तथागत गौतम बुद्ध के सूत्रों तथा भारतीय बौद्ध आचार्यों की शास्त्रों के तिब्बती अनुवादित संग्रह को क्रमशः कांग्युर तथा तेन्ग्युर कहते हैं।

जहाँ न राग के विषय मित्र-बन्धु हों, न द्वेष के विषय शत्रु हों, ऐसे सुनसान स्थान पर रहते किसी को अपने जीने-मरने की कोई खबर ही न हो और मृत्यु के समय कोई रोने पीटने वाला न हो तो अच्छा है।

न चान्तिकचराः केचिच्छोचन्तः कुर्वते व्यथाम्।
बुद्धानुस्मृतिं चास्य विक्षिपन्ति न केचन ॥ ३७ ॥

ऐसे वातावरण में मृत्यु होते समय अपने आस-पास न कोई शोक में रोने चिल्लाने वाला होगा और न कोई हानि करने वाला। इसलिए बुद्ध की अनुस्मृति, इष्ट देवता के योग जैसे पुण्य और सुखद चिन्तन के साथ मरने का सुअवसर मिलेगा। कोई मरती आत्मा को विचलित नहीं करेगा।

[इसलिए अपने घर में या कहीं किसी की मृत्यु के समय उसके सामने रोना चिल्लाना नहीं चाहिए, क्योंकि इससे उस मरने वाले का चित्त विचलित होता है, और पुण्य-अभ्यास में विघ्न पड़ता है। मरने वाले को शान्त रखकर, यदि संभव हो तो धर्म-कर्म की बातें सुनाकर पुण्य-विचार उत्पन्न करना चाहिए, जो उसके लिए बहुत लाभदायक सिद्ध होगा।]

तस्मादेकाकिता रम्या निरायासा शिवोदया।
सर्वविक्षेपशमनी सेवितव्या मया सदा ॥ ३८ ॥

अतः एक साधक को जहाँ सरलता से जीविका उपलब्ध हो सके उस रमणीय शान्त, सभी विक्षेपों का शमन कर देने वाले वन में अकेले ध्यान या धर्म-अभ्यास के लिए रहना चाहिए।

सर्वान्यचिन्तानिर्मुक्तः स्वचित्तैकाग्रमानसः।
समाधानाय चित्तस्य प्रयतिष्ये दमाय च ॥ ३९ ॥

राग द्वेष आदि सभी अन्य-चिन्ताओं से मुक्त अपने ही चित्त का एकाग्र भावना से शमथ प्राप्त कर विपश्यना के द्वारा तत्वज्ञान से क्लेशों के दमन के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

कामा ह्यनर्थजनका इह लोके परत्र च।
इह बन्धवधच्छेदैर्नरकादौ परत्र च॥ ४०॥

नाम, यश तथा जीविका साधन जैसे काम के कारण इस लोक में मतभेद, लड़ाई-झगड़ा और मारपीट जैसा अनर्थ और परलोक में इन पापों के कारण नरक आदि अनेक दुःख भोगना पड़ेगा।

[अब आगे साधारणतः रूप, शब्द, गन्ध, रस तथा स्पर्श इन पाँच काम-विषयों के प्रति मोह या राग के निराकरण के उपाय और विशेषतः रति क्रिया के प्रति आसक्ति के निराकरण के उपायों का वर्णन है। यहाँ एक साधक पुरुष को आधार मान कर स्त्री के प्रति काम उत्पत्ति दूर करने का वर्णन है, परन्तु स्त्री-पुरुष दोनों के लिए अपने प्रसंग में इसका अर्थ लेकर काम-आसक्ति को दूर करने के उपायों का अभ्यास करना चाहिए।]

यदर्थं दूतदूतीनां कृतांजलिरनेकधा।
न च पापमकीर्तिर्वा यदर्थं गणिता पुरा॥ ४१॥
प्रक्षिप्तश्च भयेऽप्यात्मा द्रविणं च व्ययीकृतम्।
यान्येव च परिष्वज्य बभूवोत्तमनिर्वृतिः॥ ४२॥
तान्येवास्थीनि नान्यानि स्वाधीनान्यममानि च।
प्रकामं संपरिष्वज्य किं न गच्छसि निर्वृतिम्॥ ४३॥

विवाह आदि संबन्ध पाने के लिए पहले दूत-दूतियों के द्वारा अनेक बार प्रार्थना करनी पड़ती है, उसे पाने के प्रयत्न के बीच पाप तथा अपमान की चिन्ता नहीं करते, अनेक प्रकार के भय की सामना करते हैं और

धन दौलत भी नष्ट होता है। परन्तु उसके पाने का प्रयोजन मात्र इतना है कि उसके साथ कामवश आलिंगन का सुख प्राप्त होगा। यदि उसका परीक्षण करें तो जैसे पहले भी वर्णन आया है, वास्तव में यह शरीर कंकाल है, मात्र मांस-हड्डियों का ढेर है। उस लड़के या लड़की की न स्वतन्त्र सत्ता है और न आत्म स्वभाव है। अतः उसी के प्रति कामवश तृष्णा कर जीवन व्यतीत न कर धर्म(पुण्य)का अभ्यास और मोक्ष प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए।

उन्नाम्यमानं यत्नाद् यन्नीयमानमधो ह्रिया।
पुरा दृष्टमदृष्टं वा मुखं जालिकयावृतम्॥ ४४॥

तन्मुखं त्वत्परिक्लेशमसहद्भिरिवाधुना।
गृध्रैर्व्यक्तीकृतं पश्य किमिदानीं पलायसे॥ ४५॥

जो मुंह पहले प्रेम से यत्न के साथ उठाने पर भी लाज से नीचे झुक-कर घूंघट में छिपा रहता था और तुम उस घूंघट को उठाकर देखने के लिए लालायित होते थे, आज जब उस मुंह के आवरण को गीधों ने खींचकर उठा लिया है और वह चेहरा स्पष्ट रूप से तुम्हारे सामने है तो दूर क्यों भागते हो?

परचक्षुर्निपातेभ्योऽप्यासीद् यत्परिरक्षितम्।
तदद्य भक्षितं यावत् किमीर्ष्यालो न रक्षसि॥ ४६॥

दूसरों की निगाहों से भी बचाकर जिस शरीर की रक्षा करते थे, आज वह शरीर गीधों द्वारा खाया जा रहा है, हे ईर्ष्यालु! अब उसकी रक्षा क्यों नहीं करते?

मांसोच्छ्रयमिमं दृष्ट्वा गृध्रैरन्यैश्च भक्षितम्।
आहारः पूज्यतेऽन्येषां स्रक्चन्दनविभूषणैः॥ ४७॥

वह शरीर जिसे तुम सुन्दर समझते हो वह मात्र मांस का पुंज है और समय पर गीध तथा अन्य जानवरों का भोजन बनने वाला है, इसलिए दूसरों के भोजन की माला, चन्दन और आभूषणों से पूजा करना व्यर्थ है।

निश्चलादपि ते त्रासः कंकालादेवमीक्षितात्।
वेताडेनेव केनापि चाल्यमानाद् भयं न किम्॥ ४८॥

श्मशान में पड़े निश्चल कंकाल को देखकर जब तुम डरते हो तो उस कंकाल पर मांस तथा चर्म के आवरण के हिलते-डुलते जिन्दा लाश के समान इस शरीर से भी डरना चाहिए, आसक्त नहीं होना चाहिये।

एकस्मादशनादेषां लालामेध्यं च जायते।
तत्रामेध्यमनिष्टं ते लालापानं कथं प्रियम्॥ ४९॥*

हम स्त्री-पुरुष एक दूसरे के शरीर के प्रति वस्त्र धारण किए हुए भी आकर्षित होते हैं, हममें काम उत्पन्न होता है और आलिङ्गन करते हैं तो मरने के बाद श्मशान में जब विना आवरण या कपड़े के नंगे पड़े होंगे तो उस समय उसे क्यों नहीं चाहते? 'यह लाश है, उसका कोई प्रयोजन नहीं, इसलिए मैं उसे प्रेम नहीं करता' ऐसा तर्क देना भी उचित नहीं, क्योंकि वही शरीर जो ढका था और जिस पर तुम प्रेम करते थे अब और स्पष्ट रूप से तुम्हारे सामने है।

तूलगर्भैर्मृदुस्पर्शै रमन्ते नोपधानकैः।
दुर्गन्धं न स्रवन्तीति कामिनोऽमेध्यमोहिताः॥ ५०॥*

शरीर से निकलने वाले लार तथा मल-मूत्र सभी एकही पदार्थ

---

* ४९ से ५१ तक का श्लोक क्रम तिब्बती पाठ के अनुसार है। संस्कृत पाठ में यह क्रम ५०, ५१, ४९ से है।

भोजन से उत्पन्न होते हैं, फिर क्यों हम मल-मूत्र को गन्दा समझते हैं और लार को पसन्दकर चुम्बन करते हैं।

यत्र च्छन्नेऽप्ययं रागस्तदच्छन्नं किमप्रियम्।
न चेत् प्रयोजनं तेन कस्माच्छन्नं विमृद्यते ॥ ५१ ॥*

यह शरीर कोमल है, उसके स्पर्श से सुख मिलता है, ऐसा समझना भी अनुचित है। कामवश मोहित होकर अपवित्र को पवित्र समझते हैं, नहीं तो फिर कोमल पवित्र रूई के तकियों से संतुष्ट होना चाहिए, जिससे दुर्गन्ध वाले मल-मूत्र नहीं निकलते और वह बहुत कोमल भी है।

(५१ ख) .... ॥ ×

काम से मोहित लोग इस मृदु और पवित्र रूई को, इससे रति-कर्म में सहभागी नहीं बनते, ऐसा कह कर उन पर कुपित होते हैं।

यदि ते नाशुचौ रागः कस्मादालिंगसे ऽपरम्।
मांसकर्दमसंलिप्त स्नायुबद्धास्थिपञ्जरम् ॥ ५२ ॥

यदि इन अपवित्र पदार्थों से प्रेम नहीं करते, तो वास्तव में नसों से बंधी हड्डियों के पिंजर पर माँस के कीचड़ से लीपे गए उस शरीर को गोद में लेकर आलिङ्गन क्यों करते हो ?

स्वमेव बह्वमेध्यं ते तेनैव धृतिमाचर।
अमेध्यभस्त्रामपरां गूथघस्मर विस्मर ॥ ५३ ॥

हमारे अपने ही शरीर में पर्याप्त अशुचि है, उसीसे संतुष्ट होना चाहिए, फिर एक दूसरी अशुचि पदार्थों की धौंकनी को क्यों प्राप्त करना चाहते हो ?

× यह श्लोक संस्कृत पाठ में नहीं है।

मांसप्रियोऽहमस्येति द्रष्टुं स्प्रष्टुं च वाञ्छसि ।
अचेतनं स्वभावेन मांसं त्वं कथमिच्छसि ॥ ५४ ॥

यदि मल-मूत्र से नहीं परन्तु मांस से प्रेम है, क्योंकि इसको देखने और छूने से सुख मिलता है, ऐसा समझते हो, तो उस अचेतन लाश के मांस को क्यों नहीं चाहते ?

यदिच्छसि न तच्चित्तं द्रष्टुं स्प्रष्टुं च शक्यते ।
यच्च शक्यं न तद्वेत्ति किं तदालिंगसे मुधा ॥ ५५ ॥

'उसका शरीर नहीं परन्तु चित्त इष्ट है जो मुझे प्रेम करता है, ऐसा समझना भी तर्कसंगत नहीं है। वह चित्त न देख सकता है, न छू सकता है और जिससे छूकर आलिङ्गन करते हो वह शरीर है, चित्त नहीं, जिसे तुम चाहते हो।

नामेध्यमयमन्यस्य कायं वेत्सीत्यनद्भुतम् ।
स्वामेध्यमयमेव त्वं तं नावैषीति विस्मयः ॥ ५६ ॥

संक्षेप में, दूसरों के शरीर के अपवित्र होने की जानकारी न होना कोई आश्चर्य नहीं; बल्कि स्वयं को मलमय होते हुए भी अशुचि न जानना ही बहुत आश्चर्य की बात है।

विघनार्कांशुविकचं मुक्त्वा तरुणपंकजम् ।
अमेध्यशौण्डचित्तस्य का रतिर्गूथपंजरे ॥ ५७ ॥

उन मलमय पदार्थों पर नहीं परन्तु उनके रंग-रूप पर राग उत्पन्न होना भी अनुचित है। यदि ऐसा है तो निर्मल आकाश के सूर्य की किरणों से खिलने वाले कोमल सुगन्धित कमल को अपनाना चाहिए। वास्तव में काम मोहित मन से मलमय ढेर के प्रति आसक्ति है।

मृदाद्यमेध्यलिप्तत्वाद् यदि न स्प्रष्टुमिच्छसि ।
यतस्तन्निर्गतं कायात्तं स्प्रष्टुं कथमिच्छसि ॥ ५८ ॥

मल-मूत्र से दूषित मिट्टी तक जब छूना नहीं चाहते फिर यह कैसी इच्छा है कि हम मल-मूत्र के स्रोत उसी शरीर को छूना चाहते हैं ।

यदि ते नाशुचौ रागः कस्मादालिंगसे परम् ।
अमेध्यक्षेत्रसंभूतं तद् बीजं तेन वर्धितम् ॥ ५९ ॥

यदि अशुचि से प्रेम नहीं, तो दूसरों की शरीर से आलिंगन की इच्छा छोड़नी चाहिए, क्योंकि वह शरीर अपवित्र क्षेत्र माँ के गर्भ से और मलमय बीज खून तथा शुक्र से उत्पन्न होता है ।

[इस प्रकार से परीक्षा करने पर हर तरह से यह शरीर अपवित्र दिखाई देता है, यह शुक्र तथा शोणित जैसे द्रव्यों से उत्पन्न होता है । वर्तमान शरीर का अपना स्वभाव मलमय है और इससे उत्पन्न होने वाला भी मलमय ही है । कितना भी अच्छा और साफ भोजन खावें सभी इस शरीर के अन्दर मल-मूत्र में परिवर्तित हो जाता है । यह शरीर मल-मूत्र आदि पदार्थों का उत्पादक है । अतः इसे अपवित्र समझना चाहिए । कपड़े से हमारा शरीर ढका है और यह शरीर अपने अन्दर का मल-मूत्र को ढकता है । सब तरह के मलमय पदार्थ हमारे शरीर के अन्दर होते हैं, फिर भी हम शौचालय आदि में नाक-मुख ढककर जाते हैं । शरीर अधिक ठंडा पड़ने पर पेट चलने लगता है । अधिक गरमी से कब्ज होता है । नियमित मल-मूत्र होने के लिए शरीर के तापमान को स्थिर रखना पड़ता है, इस प्रकार यह वास्तव में मल-मूत्र के कारखाने जैसा है ।] इसलिए आगे कहते हैं—

अमेध्यभवमल्पत्वान्न वांछस्यशुचिं कृमिम् ।
बह्वमेध्यमयं कायममेध्यजमपीच्छसि ॥ ६० ॥

अशुचि द्रव्य से उत्पन्न बहुत छोटे कीड़े-मकोड़े जैसे बाहरी पदार्थ को मलमय समझा जाता है, परन्तु उससे भी अधिक मात्रा में मलमय पदार्थ उत्पन्न करने वाले शरीर को हम चाहते हैं, इसे अशुचि क्यों नहीं समझते ?

न केवलममेध्यत्वमात्मीयं न जुगुप्ससि।
अमेध्यभाण्डानपरान् गूथघस्नर वांछसि ॥ ६१ ॥

एक दूसरे के शरीर पर राग उत्पन्न होने का यह अर्थ हुआ कि हम अपने मल भरे शरीर को पवित्र समझने की गलतफहमी होने के साथ साथ दूसरों के मल-मूत्र से भरे शरीर पर राग उत्पन्न करते हैं।

कर्पूरादिषु हृद्येषु शाल्यन्नव्ययंजनेषु वा।
मुखक्षिप्तविसृष्टेषु भूमिरप्यशुचिर्मता ॥ ६२ ॥

इस उदाहरण से भी हमारा शरीर कितना गन्दा है, यह सिद्ध होता है कि—कपूर आदि मनोरम द्रव्य या अन्न और व्यंजन जो पवित्र है उनको भी एक बार मुंह में डालकर फेंकने से, वह भूमि भी अपवित्र मानी जाती है, तो इनके अपवित्र होने का कारण मात्र यह शरीर है, जिससे उनका संपर्क हुआ।

यदि प्रत्यक्षमप्येतदमेध्यं नाधिमुच्यते।
श्मशाने पतितान् घोरान् कायाम् पश्यापरानंपि ॥ ६३ ॥

अब भी यदि विश्वास नहीं होता, तो श्मशानों में जाकर वहाँ पड़ी लाशों को बारम्बार देखकर चिन्तन करें।

चर्मण्युत्पाटिते यस्माद् भयमुत्पद्यते महत्।
कथं ज्ञात्वापि तत्रैव पूनरुत्पद्यते रतिः ॥ ६४ ॥

जिसकी खाल उधेड़कर खोलने पर जो इतना भयानक लगता है, यह जानते हुए भी उस पर प्रेम कैसे हो सकता है ?

कायें न्यस्तो ऽप्ययं गन्धश्चन्दनादेव नान्यतः।
अन्यदीयेन गन्धेन कस्मादन्यत्र रज्यते ॥ ६५ ॥

सुगन्ध के कारण शरीर से प्रेम करना भी उचित नहीं, क्योंकि यह सुगन्ध चन्दन आदि की है, उस शरीर का नहीं। फिर दूसरे के गन्ध से उस शरीर पर प्रेम कैसे ? उस शरीर से अनेक प्रकार की दुर्गन्ध ही निकलती है।

यदि स्वभावदौर्गन्ध्याद् रागो नात्र शिवं ननु।
किमनर्थरुचिर्लोकस्तं गन्धेनानुलिम्पति ॥ ६६ ॥

स्वभाव से दुर्गन्धित इस शरीर से प्रेम न होना अच्छा है, परन्तु व्यर्थ में ही सांसारिक तृष्णा वाले लोग सुगन्ध लगाते हैं।

कायस्यात्र किमायातं सुगन्धि यदि चन्दनम्।
अन्यदीयेन गन्धेन कस्मादन्यत्र रज्यते ॥ ६७ ॥

यह सुगन्ध चन्दन आदि द्रव्यों का गुण है और शरीर से ऐसे सुगन्ध वाला कोई भी पदार्थ नहीं निकलता, फिर दूसरे की सुगन्ध से सुगन्धित उस शरीर पर राग कैसे ?

यदि केशनखैर्दीर्घैर्दन्तैः समलपांडुरैः।
मलपंकधरो नग्नः कायः प्रकृतिभीषणः ॥ ६८ ॥
स किं संस्क्रियते यत्नादात्मघाताय शस्त्रवत्।
आत्मव्यामोहनोद्युक्तैरुन्मत्तैराकुला मही ॥ ६९ ॥

(वस्तुतः शरीर के स्वभाव का वर्णन इस प्रकार है)—बिना किसी कृत्रिम सजावट के स्वभावतः इस शरीर का आकार बड़ा भयानक है।

लम्बे-लम्बे केश तथा नाखून वाले, मैले और पीले दाँतों से युक्त, मलमय कीचड़ से लथफथ इस शरीर का स्वभाव भयंकर है। ऐसे इसकी देख भाल करना आत्मघात के लिए शस्त्र का संस्कार करने के बराबर है। अविद्या के कारण आत्मविमोहित होकर संसार में व्याकुल होकर भटकने वालों से पृथिवी परिव्याप्त है।

कंकालान् कतिचिद् दृष्ट्वा श्मशाने किल ते घृणा।
ग्रामश्मशाने रमसे चलत्कंकालसंकुले ॥ ७० ॥

जब श्मशान में हड्डियाँ देखकर घृणा होती है तो चलते फिरते ऐसे कंकालों से भरे ग्रामरूपी श्मशान में मन कैसे लग सकता है?

एवं चामेध्यमप्येतद् विना मूल्यं न लभ्यते।
तदर्थमर्जनायासो नरकादिषु च व्यथा ॥ ७१ ॥

फिर स्त्री या पुरुष सरलता से प्राप्त नहीं होते, हर तरह से महँगे पड़ते हैं। एक दूसरे को पाने के लिए हर तरह का कष्ट झेलना पड़ता है और यहाँ तक कि नरक की पीड़ा भी भोगनी पड़ती है।

शिशोर्नार्जनसामर्थ्यं केनासौ यौवने सुखी।
यात्यर्जनेन तारुण्यं वृद्धः कामैः करोति किम् ॥ ७२ ॥

बचपन में धन कमा नहीं सकते, यौवन धन कमाने में व्यतीत हो जाता है, काम-उपभोग का समय नहीं मिलता, इतने में जब बुढ़ापा आ जाती है तो काम-भोग से क्या लेना देना?

केचिद्दिनान्तव्यापारैः परिश्रान्ताः कुकामिनः।
गृहमागत्य सायाह्ने शेरते स्म मृता इव ॥ ७३ ॥
दण्डयात्राभिरपरे प्रवासक्लेशदुःखिताः।
वत्सरैरपि नेक्षन्ते पुत्रदारांस्तदर्थिनः ॥ ७४ ॥

(काम-उपभोग के लिए एक दूसरे को पाकर भी)—जैसे कोई श्रमिक दिन भर के श्रम से थका शाम को घर आकर मुर्दे के समान सो जाता है और कोई दूर यात्रा में जाकर, कोई जीविका व्यवसाय के कारण पति-पत्नी को एक दूसरे से अलग रहना पड़ता है और बहुत चाहने पर भी वर्षों तक वे एक दूसरे से मिल नहीं पाते।

यदर्थमिव विक्रीत आत्मा कामविमोहितैः।
तन्न प्राप्तं मुधैवायुर्नीतं तु परकर्मणा ॥ ७५ ॥

विक्रीतस्वात्मभावानां सदा प्रेषणकारिणाम्।
प्रसूयन्ते स्त्रियोऽन्येषामटवीविटपादिषु ॥ ७६ ॥

कोई अपनी सुख-सुविधा की इच्छा से मोहित होकर दूसरों के काम करता है, जैसे कि मजदूरी करने वाला है। वह अपने को बेचने के समान है क्योंकि जब तक मजदूरी नहीं मिलती वह दूसरों के वश में है। कोई जीविका पाने के लिए अपना शरीर बेचकर दूसरों की सेवा में परतन्त्र रहता है। उसकी स्त्रि को अकेले जंगल में वृक्ष के नीचे या अन्य निर्जन स्थान में प्रसव करना पड़ता है।

रणं जीवितसंदेहं विशन्ति किल जीवितुम्।
मानार्थं दासतां यान्ति मूढाः कामविडम्बिताः॥ ७७ ॥

काम इच्छा से अभिभूत मूर्ख लोग जीविका के लिए जान जोखिम में डालकर युद्ध करने जाते हैं और कोई किसी के दास बनते हैं।

छिद्यन्ते कामिनः केचिदन्ये शूलसमर्पिताः।
दृश्यन्ते दह्यमानाश्च हण्यमानाश्च शक्तिभिः॥ ७८ ॥

कामवश कोई अपने शरीर को काटकर, कोई शूली पर चढ़ाकर, कोई बरछियों से छेदकर और कोई जलाकर मारे जाते हैं या आत्महत्या

करते हैं। [ऐसी अनेक परिस्थितियाँ हमें दैनिक जीवन में ही दिखने को मिलती है। काम उपभोग की अभिलाषा से एक दूसरे को पाने के लिए भरसक कोशिश करते हैं, परन्तु विवाह होने के बाद अनेक बातों पर झगड़े होने लगते हैं। एक दूसरे से घृणा करते हैं, यहाँ तक कि तलाक भी हो जाती है। कोई दम्पति निःसन्तान् रहकर दुःखी होते हैं तो कोई अधिक बच्चों के कारण, अनेक गर्भ-निरोध के उपाय अपनाते हैं, और कभी गर्भपात करके हत्या का पाप करते हैं फिर अन्त में दोनों बूढ़े-बूढ़ी होकर एक दूसरे को देखकर खिन्न होते हैं कि कौन पहले गुजरने वाला है। इसलिए काम इच्छा का त्याग न होने पर भी उसका दमन कर प्रतिपक्ष का अभ्यासकर ब्रह्मचर्य का पालन करने से अनर्थपूर्ण कार्य बहुत कम होंगे। इससे अपनी योग्यता के अनुसार धर्म-अभ्यास करने का पूरा अवसर मिल सकता है। परन्तु गृहस्थ जीवन में, जैसे कहा गया है कि चाहे धनवान् हो या निर्धन, गृहस्थी में अवसर कहाँ? अर्थात् घर-गृहस्थी जीवन में ज्यादा से ज्यादा पचास प्रतिशत धर्म-अभ्यास का विचार हो सकता है, उससे अधिक नहीं, क्योंकि बच्चों की देखभाल, उनकी पढ़ाई की चिन्ता, (प्राइमरी स्कूल फिर माध्यमिक और फिर उच्च शिक्षा की पढ़ायी) जैसे अनेक कार्यों की चिन्ता में व्यस्त रहना पड़ता है। हाँ, यदि सभी प्राणियों के लिए इस प्रकार की चिन्ता हो तो एक बात हैं, ऐसा भी नहीं होता। धर्म-अभ्यास की इच्छा होने पर भी समय नहीं मिल पाता। अतः लगता है कि वास्तव में ब्रह्मचर्य अपनाने में अनेक लाभ हैं। इसी प्रयोजन को-देखकर स्वयं भगवान् बुद्ध ने भी घर-परिवार त्यागकर ब्रह्मचारी के रूप में बुद्धत्व प्राप्त किया।

इसलिए हम ब्रह्मचारियों के लिए यह बहुत महत्वपूर्ण सुअवसर है, परन्तु यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि मात्र चीवर धारण करने से, बाहरी वेष-भूषा बदलने से सब प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, बाहरी

वेष-भूषा बदलने के साथ-साथ आन्तरिक विचार विधि में भी परिवर्तन लाकर धर्माचरण का अनुसरण करना आवश्यक है। ब्रह्मचर्य या प्रव्रज्या के नाम पर मठ-मन्दिर में रहकर भी अनुचित आचरण करना स्वयं अपने लिए हानिकारक सिद्ध होगा और दूसरे लोगों के भी निन्दा का विषय बनेंगे, जैसे कि यह भिक्षु लोग ऐसा करते हैं, उस मठ के लोग वैसा करते हैं, आदि संघनिन्दा के पाप संचय का कारण बनना उचित नहीं।

क्या धर्म-अभ्यास के लिए प्रव्रजित होना अनिवार्य है? ऐसा प्रश्न उठ सकता है। ऐसी कोई अनिवार्यता नहीं, क्योंकि करुणा के सागर भगवान् बुद्ध ने उपायों में पारंगत होने के कारण ऐसे अनेक उपदेश घर-गृहस्थी में अभ्यास के लिए दिये हैं और गृहस्थ होते हुए भी उपासक की दीक्षा लेकर अभ्यास कर सकते हैं, बुद्धत्व प्राप्त कर सकते हैं। प्रति-मोक्ष दीक्षा में प्रव्रज्या तथा गृहस्थ-दीक्षा दोनों का वर्णन है, इसी प्रकार तन्त्र और बोधिचित्त की शिक्षा में यह स्पष्ट उपदेश दिया गया है कि गृहस्थ होते हुए भी मार्ग एवं भूमि का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, बोधिचित्त उत्पन्न हो सकता है। फिर भी भगवान् बुद्ध ने और अनेक सिद्धों तथा विद्वानों ने भी भगवान् का अनुसरण कर प्रव्रज्या मार्ग अपनाया और सर्वश्रेष्ठ आधार प्रव्रज्या को माना। अतः इस पर ज्यादा जोर दिया गया है।]

अर्जनरक्षणनाशविषादैरर्थमनर्थमनन्तमवेहि।
व्यग्रतया धनसक्तमतीनां नावसरो भवदुःखविमुक्तेः ॥७९॥

धन-दौलत भी विभिन्न प्रकार के अनर्थ का स्रोत है। धनार्जन के दुःख हैं, फिर उस धन की रक्षा की चिन्ता है, अन्त में नष्ट होने का दुःख होता है। जो धन की चिन्ता में डूबा है उसे सांसारिक दुःख से मुक्त होने का कोई अवसर नहीं।

एवमादीनथो भूयानल्पास्वादस्तु कामिनाम् ।
शकटं वहतो यद्वत्पशोर्घासलवग्रहः ॥ ८० ॥
तस्यास्वादलवस्यार्थे यः पशोरप्यदुर्लभः ।
हता दैवहतेनेयं क्षणसंपत् सुदुर्लभा ॥ ८१ ॥

कामियों को इस प्रकार के अनेक अनर्थ के दुःख मिलते हैं, परन्तु सुख का अवसर बहुत कम है, वे रथ खींचने वाले पशुओं के रथ खींचते हुए ही कवल भर घास खाने के तुल्य हैं। अतः उन कामियों की यह दुर्लभ क्षणसंपत्ति (मानव जीवन) इस प्रकार के अनर्थकारी तथा पशुओं से भी सुसाध्य कार्यों में व्यर्थ ही बीत जाती है।

अवश्यं गन्तुरल्पस्य नरकादिप्रपातिनः ।
कायस्यार्थे कृतो योऽयं सर्वकालं परिश्रमः ॥ ८२ ॥
ततः कोटिशतेनापि श्रमभागेन बुद्धता ।
चर्यादुःखान्महद्दुःखं सा च बोधिर्न कामिनाम् ॥ ८३ ॥

राजा के वैभव जैसे भौतिक लाभ भी नश्वर है, निकृष्ट हैं और जिनके लिए पाप-संचय से नरक में पतन भी होता है। ऐसे अनर्थ और अल्प महत्व वाले प्रयोजन के लिए जो परिश्रम एक कामी करता है, उस श्रम के कोटिशत-भाग को पुण्य-कर्म के लिए करें तो बुद्धत्व प्राप्त हो सकता है। कामियों को बोधिचर्या-अभ्यास के कष्ट से बहुत अधिक मात्रा में दुःख तो भोगना ही पड़ता है, परन्तु बोधि प्राप्ति नहीं होती, अर्थात् धनादि के लिए कष्ट अधिक और उपलब्धि स्वल्प है, दूसरी ओर बोधि के लिए प्रयत्न करने में कष्ट कम और उपलब्धि अधिक है।

न शास्त्रं विषं नाग्निर्न प्रपातो न वैरिणः ।
कामानामुपमां यान्ति नरकादिव्यथास्मृतेः ॥ ८४ ॥

केवल नरक–दुःखों के स्मरण से ही जान सकते हैं कि शस्त्र, विष, अग्नि, प्रपात, शत्रु आदि कोई भी सांसारिक भय कामों की तुलना नहीं

कर सकते, ये सब इतना दुःख-पीड़ा नहीं दे सकते जितना कि काम लोभ आदि।

एवमुद्विज्य कामेभ्यो विवेके जनयेद् रतिम्।
कलहायासशून्यासु शांतासु वनभूमिषु ॥ ८५ ॥
धन्यैः शशांककरचंदनशीतलेषु
रम्येषु हर्म्यविपुलेषु शिलातलेषु।
निःशब्दसौम्यवनमारुतवीज्यमानैः
चंक्रम्यते परहिताय विचिन्त्यते च ॥ ८६ ॥

इसलिए कामों से विमुख होकर बाहरी कलह और राग द्वेष आदि आन्तरिक क्लेश से रहित शांत एवं एकांत वन में विवेक उत्पन्न करके ध्यान-अभ्यास करना चाहिए। [जैसे 'रत्नावली' में कहा गया है, "क्लेशों समूल नष्ट न होकर भी कुछ कम अवश्य हो सकते हैं।" अतः क्लेश कम करने का प्रयत्न होना चाहिए, क्योंकि जितना कम क्लेश होगा उतनी ज्यादा सुख शान्ति होगी, इस जीवन में और भविष्य में भी। इस प्रकार के चिन्तन को निष्प्रयोजन न समझकर छोटे से छोटे अभ्यास से प्रारम्भ करके चिन्तन करने पर क्रमशः क्लेश में कमी आ सकती है।]

ऐसे शांत वन में, चन्दन के लेप के समान चन्द्र किरणों से शीतल महलों के समान विस्तीर्ण और रमणीय शिलातलों के कुटीरों में निःशब्द सौम्य वन-पवन के सुखमय वातावरण में रहकर पर-कल्याण का चिन्तन करना चाहिए और थकावट महसूस होने पर खुली हवा में टहलना चाहिए।

विहृत्य यत्र क्व चिदिष्टकालं शून्यालये वृक्षतले गुहासु।
परिग्रहारक्षणखेदमुक्तश्चरत्यपेक्षाविरतो यथेष्टम् ॥ ८७ ॥
स्वच्छन्दचार्यनिलयः प्रतिबद्धो न कस्यचित्।
यत् संतोषसुखं भुंक्ते तदिन्द्रस्यापि दुर्लभम् ॥ ८८ ॥

इस प्रकार खाली पुराने घर, वृक्षतल या गुफाओं में अनासक्तभाव से परिग्रह और रक्षण की परेशानी से मुक्त होकर यथेष्ट समय तक शत्रु-मित्र, अपने-पराये जैसे संबंध के बन्धन से परे और धर्म-अभ्यास के लिए हर तरह की सुविधा से युक्त ऐसे सुअवसर इन्द्र आदि देवताओं को भी दुर्लभ है।

एवमादिभिराकारैर्विवेकगुणभावनात्।
उपशांतवितर्कः सन् बोधिचित्तं तु भावयेत्॥ ८९॥

ऐसे एकांत के अनेक गुणों से प्रसन्न होकर वितर्कों के शमन और बोधिचित्तोत्पाद के लिए समाधि का अभ्यास करना चाहिए।

परात्मसमतामातौ भावयेदेवमादरात्।
समदुःखसुखाः सर्वे पालनीया मयात्मवत्॥ ९०॥

(वास्तविक बोधिचित्तोत्पाद की चिन्तन विधि इस प्रकार है)— सर्वप्रथम परात्मसमता की भावना उत्पन्न करनी चाहिए, क्योंकि जैसे हम अपने लिए दुःख नहीं चाहते और सुख की अभिलाषा करते हैं, वैसे ही हरएक प्राणी भी सुख का अभिलाषी और दुःख का अनिच्छुक है। अतः हम अपने दुःख निवृत्ति और सुख प्राप्ति के लिए जैसी चेष्टा करते हैं वैसी ही हरएक प्राणी के लिए भी करनी चाहिए।

हस्तादिभेदेन बहुप्रकारः कायो यथैकः परिपालनीयः।
तथा जगद्भिन्नमभिन्नदुःखसुखात्मकं सर्वमिदं तथैव॥ ९१॥

जैसे हमारे शरीर के हाथ, पैर आदि अनेक भिन्न अंग है, हर एक अंग को अपना समझकर समान रूप से उनकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार देव जगत्, मानव जगत्, मनुष्यों में भी एशियाई, पाश्चात्य, धनी या निर्धन, विद्वान् या अनपढ़ और अन्य सभी प्राणी सुख चाहने और दुःख न चाहने में समान हैं। अपनी तरह ही सबकी रक्षा या उपकार होना चाहिए।

यद्यप्यन्येषु देहेषु मद्दुःखं न प्रबाधते।
तथापि तद्दुःखमेव ममात्मस्नेहदुःसहम्॥ ९२॥
तथा यद्यप्यसंवेद्यमन्यद्दुःखं मयात्मना।
तथापि तस्य तद्दुःखमात्मस्नेहेन दुःसहम्॥ ९३॥

(सुख चाहने और दुःख न चाहने में समानता अवश्य है परन्तु सुख-दुःख का उपभोग अपनी-अपनी जगह है। मेरी पीड़ा से दूसरों को पीड़ा नहीं हो सकती, ऐसा विचार आना भी अनुचित है)—यद्यपि अपनी पीड़ा से दूसरों के शरीर में पीड़ा नहीं होती फिर भी अपने प्रति स्नेह के कारण दुःख पीड़ा होती है, उसी प्रकार दूसरों के शरीर आदि की पीड़ा हम अनुभव नहीं कर सकते फिर भी पराये पर अपनेपन की भावना से दूसरों के दुःख दूर करने की प्रबल इच्छा के कारण अपनी पीड़ा जैसी है। जैसे, अपनी माँ रोग से पीड़ित होने पर स्वयं भी दुःखी होती है, यद्यपि माँ और अपना शरीर पृथक हैं फिर भी माँ के प्रति अपने स्नेह के कारण ऐसा होता हैं।

[हमारे अपने लिए दुःख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति की चेष्टा करने का कारण क्या है, यह पूछा जाय तो केवल यही उत्तर हों सकता है कि हमें सुख चाहिए, दुःख नहीं। परन्तु हमारे स्कन्धों पर आधारित सहज अहंभाव के कारण आत्मस्नेह की भावना होती है, जिसके कारण हम अपने लिए सुख सुविधा चाहते हैं, उससे बढ़कर कोई कारण नहीं, न मनुष्य होने के कारण सुख के अभिलाषी हैं, न ही बड़े आदमी होने के कारण। यदि ऐसा कारण होता तो हम कह सकते हैं कि उसे दुःख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति की अभिलाषा नहीं है क्योंकि वह मनुष्य नहीं है, या वह बड़ा आदमी नहीं है या वह निर्धन है, ऐसा तर्क दे सकते हैं, परन्तु यह भावना हरएक प्राणी में समान है। अतः यह स्पष्ट है कि प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है, दुःख नहीं चाहता और सुख की प्राप्ति तथा

दुःख निवृत्ति के लिए समान अधिकारी भी है, फिर स्वयं और पराये में अन्तर हो ही नहीं सकता।

अब यदि स्वयं और दूसरों में तुलना करें तो स्वयं एक प्राणी है और दूसरे अनन्त हैं, अपनी सुख-सुविधा का महत्व कम है दूसरों की सुख-सुविधा का प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण है। जैसे पहले कहीं कहा गया है,* "नेतरार्थं त्यजेच्छ्रेष्ठामन्यत्राचारसेतुतः ॥—कम प्रयोजन के लिए ज्यादा प्रयोजन का त्याग उचित नहीं, परकल्याण को अधिक महत्त्व देना चाहिए।" इसलिए हमें अपने स्वार्थ के लिए परार्थ त्यागना या अधिक महत्त्व वाले को त्यागकर कम महत्त्व की बातों को लेना अनर्थकारी होगा। दूसरी ओर अनन्त प्राणियों के लिए अकेले अपना स्वार्थ छोड़ना अच्छा है। कोई कुशल व्यापारी हमारों रूपए के लाभ के लिए पन्द्रह-बीस या एक दो सौ रूपए का त्याग करना उचित समझेगा, परन्तु पन्द्रह-बीस रूपए के लाभ के लिए हजारों रूपए लगाना मूर्खता समझेगा। इसी प्रकार अनन्त पर-कल्याण के लिए एक अपने स्वार्थ को त्याग करने को तर्कसंगत समझना आवश्यक है।]

मयान्यदःदुःखं हन्तव्यं दुःखत्वादात्मदुःखवत्।
अनुग्राह्या मयान्येऽपि सत्त्वत्वादात्मसत्त्ववत् ॥ ९४ ॥

इसलिए हमें दूसरों का दुःख दूर करना चाहिए, क्योंकि वह भी वैसा ही दुःख है जैसा कि हमारा दुःख, जिसका हम निवारण चाहते हैं। हमारे समान दूसरे भी प्राणी हैं, जो सुख के अभिलाषी हैं, इसलिए दूसरों का उपकार करना चाहिए।

यदा मम परेषां च तुल्यमेव सुखं प्रियम्।
तदात्मनः को विशेषो येनात्रैव सुखोद्यमः ॥ ९५ ॥

---

* पांचवें परिच्छेद के ८३ वें श्लोक के उत्तरार्ध में।

यदा मम परेषां च भयं दुःखं च न प्रियम्।
तदात्मनः को विशेषो यत्तं रक्षामि नेतरम् ॥ ९६ ॥

जब दूसरे भी अपनी तरह सुख चाहते हैं, फिर क्यों अकेले अपनी सुख-सुविधा के लिए प्रयत्न करें, और इसी प्रकार जब स्वयं और दूसरे दोनों दुःख-निवारण चाहते हैं तो फिर यह कैसे उचित है कि असंख्य दूसरों के सुख-साधन की रक्षा न कर अकेले अपने सुख की रक्षा की जाये ?

तद्दुःखेन न मे वाधेत्यतो यदि न रक्ष्यते।
नागामिकायदुःखान्मे बाधा तत्केन रक्ष्यते ॥ ९७ ॥

दूसरों के दुःख से स्वयं को पीड़ा नहीं होती, इसलिए पराये सुख-सुविधा की रक्षा नहीं करता, फिर भविष्य का दुःख भी इस समय हमको पीड़ा नहीं पहुँचाता, इसलिए भविष्य में सुख-सुविधा प्राप्त करने के लिए, इस समय धर्म (पुण्य) के लिए प्रयत्न करना व्यर्थ है। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है।

अहमेव तदापीति मिथ्येयं परिकल्पना।
अन्य एव मृतो यस्मादन्य एव प्रजायते ॥ ९८ ॥

आत्मा को नित्य मानकर, यदि ऐसी कल्पना करे कि यही 'अहम्' भविष्य जन्म में भी रहेगा और दुःख भोग करेगा तो यह कल्पना मिथ्या है, क्योंकि आत्मा के अनित्य होने के कारण यहाँ से मरने वाला और भविष्य में जन्म लेने वाला दोनों एक ही नित्य आत्मा नहीं हैं। यदि मात्र पृथक् होने के कारण हो तो फिर इस समय का आत्मा और परलोक का आत्मा भी पृथक् हैं और एक के कर्म के फल दूसरे को प्राप्त नहीं हो सकते।

यदि यस्यैव यद्दुःखं रक्ष्यं तस्यैव तन्मतम् ।
पाददुःखं न हस्तस्य कस्मात्तत्तेन रक्ष्यते ।। ९९ ।।

यह भी तर्क दे सकते हैं कि एक के दुःख से दूसरे को कोई प्रयोजन नहीं है, अपने दुःख का निवारण स्वयं को ही करना है। यदि ऐसा ही होता तो अपने शरीर के किसी एक अंग की रक्षा दूसरे से नहीं होनी चाहिए और पैर और हाथ दोनों अलग-अलग होते हुए एक दूसरे की पीड़ा दूर नहीं करते।

अयुक्तमपि चेदेतदहंकारात् प्रवर्तते ।
यदयुक्तं निवर्त्यं तत्स्वमन्यच्च यथाबलम् ।। १०० ।।

यदि कोई यह कहे कि ऐसा सोचना असंगत है फिर भी अनायास अहंकारवश यह विचार उत्पन्न होता है। अपना हो या दूसरों का, असंगत विचार को तो त्यागना ही अच्छा है। अतः यथासंभव उसे दूर करना चाहिए।

संतानः समुदायश्च पङ्क्ति सेनादिवन्मृषा ।
यस्य दुःखं न नास्त्यस्मात् कस्य तत्स्वं भविष्यति ।। १०१ ।।

यह अहम् की सत्ता या नित्यता मिथ्या विचार है। जो चित्त के संतान और स्कन्धों के समुदाय के आधार पर कल्पित है। संतान या समुदाय की स्वतन्त्र सत्ता कहना वैसा ही मिथ्या है, जैसे कि अनेक दानों को माला तथा सशस्त्र व्यक्तियों के समुदाय को सेना कहना।

अस्वामिकानि दुःखानि सर्वाण्येवाविशेषतः ।
दुःखत्वादेव वार्याणि नियमस्तत्र किंकृतः ।। १०२ ।।

इसलिए दुःखों का कोई स्वामी ही जब नहीं रहा तो अपने और पराये

दुःख का प्रश्न नहीं हो सकता। केवल दुःख होने के कारण ही उसे दूर करना चाहिए। इसमें अपने और पराये विचार का आभास व्यर्थ है।

> दुःखं कस्मान्निवार्यं चेत्सर्वेषामविवादतः।
> वार्यं चेत्सर्वमप्येवं न चेदात्मपि सत्त्ववत् ॥ १०३ ॥

सभी समान रूप से दुःख का निवृत्ति चाहते हैं, इसलिए यदि दुःख दूर करना है तो सबका दुःख दूर होना चाहिए। केवल अपने दुःख दूर करने का प्रयत्न नहीं होना चाहिए, क्योंकि दुःख सबके लिए दुःख ही होता है।

> कृपया बहु दुःखं चेत्कस्मादुत्पाद्यते बलात्।
> जगद्दुःखं निरूप्येदं कृपादुःखं कथं बहु ॥ १०४ ॥
> बहूनामेकदुःखेन यदि दुःखं विगच्छति।
> उत्पाद्यमेव तद्दुःखं सदयेन परात्मनोः ॥ १०५ ॥

(यहाँ यह भी प्रश्न उठ सकता है कि)—करुणा के अभ्यास से मनमें चिन्ता और अनेक प्रकार के दुःख उत्पन्न होते हैं, तो हम दुःख न चाहते हुए भी दुःख उत्पन्न करने की चेष्टा क्यों करें? करुणा के द्वारा जब प्राणियों के असंख्य और अनन्त दुःखों का विचार करते हैं तो उस अनन्त दुःख की अपेक्षा अकेले अपना दुःख बहुत कम सिद्ध होता है। यही नहीं, यदि एक करुणा की उत्पत्ति के दुःख से अनेक दुःखों का अन्त होता हो, तो यह संगत है, और बुद्धिमत्ता का कार्य है। अतः हरएक को करुणा की उत्पत्ति के लिए प्रयत्न करना उचित है।

> अतः सुपुष्पचन्द्रेण जानतापि नृपापदम्।
> आत्मदुःखं न निहतं बहूनां दुःखिनां व्ययात् ॥ १०६ ॥

इसलिए बोधिसत्त्व सुपुष्पचन्द्र ने राजा के द्वारा होने वाली हानि

को जानते हुए भी अपनी दुःख पीड़ा दूर करने का उपाय न कर अनेक दुःखियों का उद्धार किया।

एवं भावितसंतानाः परदुःखसमप्रियाः।
अवीचिमवगाहन्ते हंसाः पद्मवनं यथा ॥ १०७ ॥

इस प्रकार की निरन्तर परात्मसमता की भावना से दूसरों के दुःख दूर करने में बहुत अधिक प्रसन्नता और उत्सुकता उत्पन्न होती है। जिस प्रसन्नता के साथ हंस पद्म–सरोवर में प्रवेश करता है दूसरों के दुःखों के निराकरण के लिए बोधिसत्त्व अवीचि नरक में भी प्रसन्नता के साथ प्रवेश कर दुःख भोगने में वैसा ही प्रवृत्त होता है।

मुच्यमानेषु सत्त्वेषु ये ते प्रामोद्यसागराः।
तैरेव ननु पर्याप्तं मोक्षेणारसिकेन किम् ॥ १०८ ॥

अतः प्राणियों को मिलने वाली सुख-सुविधा, मुक्ति तथा निर्वाण से जो प्रमोद-सागर मिलता है, वही पर्याप्त है। स्वयं अपनी मोक्ष-प्राप्ति का कोई प्रयोजन नहीं।

अतः परार्थं कृत्वापि न मदो न च विस्मयः।
न विपाकफलाकांक्षा परार्थैकान्ततृष्णया ॥ १०९ ॥

इसी प्रकार परोपकार के इच्छुक बोधिसत्त्व को हर तरह से परकल्याण में लगे रहकर भी न गर्व होता है, न विस्मय और न ही विपाक प्रति फल की आशा रहती है

तस्माद्यथाल्पशोऽवर्णादात्मानं गोपयाम्यहम्।
रक्षाचित्तं दयाचित्तं करोम्येवं परेष्वपि ॥ ११० ॥

जैसे हम अपनी बहुत छोटी बदनामी से भी बचना चाहते हैं,

उसी प्रकार दूसरों की रक्षा करने की इच्छा और करुणा हममें होनी चाहिये।

[यद्यपि परात्मसमता और विशेषकर परात्मपरिवर्तन का अभ्यास कठिन अवश्य है, फिर भी निरन्तर अभ्यास से ये प्राप्त हो सकते है और बुद्धत्व-प्राप्ति के लिए इसका उत्पन्न होना आवश्यक है। एक अच्छा मनुष्य बनने के लिए भी इस प्रकार का विचार होना चाहिए। चिन्तन धारा या चित्त की स्थिति पर भावना का बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है; जैसा कि अगले श्लोक में वर्णित है।]

अभ्यासादन्यदीयेषु शुक्रशोणितबिन्दुषु।
भवत्यहमिति ज्ञानमसत्यपि हि वस्तुनि ॥ १११ ॥
तथा कायोऽन्यदीयोऽपि किमात्मेति न गृह्यते।
परत्वं तु स्वकायस्य स्थितमेव न दुष्करम् ॥ ११२ ॥

जिस प्रकार अपना यह शरीर वास्तव में दूसरों के शुक्र-शोणित की बूंदों से निर्मित होने पर भी निरन्तर यह मेरा हैं, मेरा शरीर है ऐसी भावना के कारण शरीर में अपनेपन का बोध उत्पन्न होता है, उसी प्रकार अभ्यासवश दूसरों के शरीर पर भी अपनापन उत्पन्न हो सकता है। ऐसे अभ्यास के द्वारा अपने और दूसरों के बीच स्थानान्तर द्वारा अपने शरीर को पराया समझने में भी कोई कठिनाई नहीं होती।

[यह हमें दैनिक जीवन में देखने को मिलता है कि किसी कसाई जैसे व्यक्ति को हर समय पशुओं को मारने के अभ्यास के कारण पशुओं को मारते समय इसका ध्यान ही नहीं रहता कि वह प्राणी है, चेतन है, परन्तु गाजर, मूली की तरह समझकर मार काट डालता है। दूसरी ओर कोई व्यक्ति पशुओं को मारते भी देख नहीं सकता। ऐसे दृश्य से भी उनके मन में शोक उत्पन्न होता है और वह दुःखी होता है। ऐसी पृथक् मनः स्थितियाँ अभ्यास पर निर्भर है।]

ज्ञात्वा सदोषमात्मानं परानपि गुणोदधीन् ।
आत्मभावपरित्यागं परादानं च भावयेत् ॥ ११३ ॥

आत्म स्नेह को हर प्रकार के दोष एवं दुःख का स्रोत तथा परकल्याण के प्रत्येक गुण के मूल में होने की यथार्थता को जानकर अपने को दोषी तथा दूसरों को गुणनिधि समझकर, पराये को अपना मानकर ग्रहण करने की भावना करनी चाहिए।

कायस्यावयवत्वेन यथाभीष्टाः करादयः ।
जगतोऽवयवत्वेन तथा कस्मान्न देहिनः ॥ ११४ ॥

जैसे हाथ पैर आदि अपने शरीर के अंग है और हम उन्हें समान महत्त्व देते हैं उसी प्रकार हर एक देहधारी (प्राणी) को जगत् का अवयव समझकर सबका उपकार करना चाहिए, जब हम प्राणिमात्र के कल्याण के लिए चित्तोत्पाद करते हैं।

यथात्मबुद्धिरभ्यासात् स्वकायेऽस्मिन् निरात्मके ।
परेष्वपि तथात्मत्वं किमभ्यासान्न जायते ॥ ११५ ॥

जब इस शरीर के निरात्मक होते हुए भी भावना या अभ्यासवश आत्मा और अहम् का बोध उत्पन्न होता है तो ऐसा कोई कारण नही, जिससे दूसरों के प्रति अपनापन न हो। निरन्तर अभ्यास से ऐसा अवश्य उद्भासित होगा।

एवं परार्थं कृत्वापि न मदो न च विस्मयः ।
आत्मानं भोजयित्वैव फलाशा न च जायते ॥ ११६ ॥

इस प्रकार चित्त अभ्यस्त होने पर परकल्याण कार्य में किसी प्रकार कठिनाई का अनुभव नहीं होता। दूसरों का उपकार करना ही अपना कर्तव्य समझकर उपकार करके गर्व या विस्मय जैसे दोष उत्पन्न नहीं होते

और न ही प्रतिफल की अभिलाषा होती है, जैसे कि हमें अपने लिए खाना खाकर प्रति फल की आशा नहीं होती।

तस्माद्व्यर्थातिशोकादेरात्मानं गोप्तुमिच्छसि।
रक्षाचित्तं दयाचित्तं जगत्यभ्यस्यतां तथा॥ ११७॥

अतः जैसे हम बहुत छोटी बदनामी से भी स्वयं को बचाते है वैसे ही हमें प्राणियों की सुख-सुविधा की रक्षा तथा करुणा के अभ्यास में प्रयत्न करना चाहिए।

अध्यतिष्ठदतो नाथः स्वनामाप्यवलोकितः।
पर्षच्छारद्यभयमप्यपनेतुं जनस्य हि॥ ११८॥

इसी करुणा तथा परोपकार की इच्छा से प्रेरित होकर अवलोकितेश्वर ने, "जो कोई मेरा नाम लें उसे जन समूह में पर्षद्-शारद्य न हो" ऐसा कहकर प्राणियों के छोटे से छोटे दुःख को भी दूर करने के लिए अपने नाम का भी अधिष्ठान किया।

दुष्करान्न निवर्तेत यस्मादभ्यासशक्तितः।
यस्यैव श्रवणात् त्रासस्तेनैव न विना रतिः॥ ११९॥

ऐसे परात्मपरिवर्तन का अभ्यास हो पाना बहुत कठिन समझकर उसका त्याग नहीं करना चाहिए। जैसा कि इस उदाहरण से सिद्ध होता है—एक समय जिस शत्रु के नाम से भी डर लगता हो, परन्तु उसके प्रति करुणा तथा स्नेह की भावना करते-करते ऐसा भी समय आता है जब उसके विना चित्त व्यग्र और दुःखी हो उठता है। अभ्यासवश ही ऐसा परिवर्तन संभव है।

आत्मानं च परांश्चैव यः शीघ्रं त्रातुमिच्छति।
स चरेत् परमं गुह्यं परात्मपरिवर्तनम्॥ १२०॥

ऐसे साधक को स्वयं और दूसरों को भव तथा मोक्ष के अन्तों से शीघ्र उबारने के लिए प्रथम भूमि चित्त या साधारण जन से न हो पाने वाले इस रहस्यपूर्ण एवं प्रभावशाली परात्मपरिवर्तन अभ्यास का आचरण करना चाहिए। [यहाँ प्रसंगवश अपने शरीर को हर एक दोष तथा पाप के स्रोत होने का कुछ वर्णन इस प्रकार है।]–

यस्मिन्नात्मन्यतिस्नेहादल्पादपि भयाद् भयम् ।
न द्विषेत्कस्तमात्मानं शत्रुवद्यो भयावहः ॥ १२१ ॥

इस अपने शरीर से राग के कारण ही उसकी रक्षा की चिन्ता से स्वल्पभय भी बहुत भयंकर जान पड़ता है। परन्तु इस शरीर की सुख-सुविधा तथा परितोष के लिए किये गये अपकर्म से अनेक दुःख मिलते हैं, अतः इसको दुःख तथा भय का स्रोत समझकर इससे शत्रु की तरह द्वेष करना चाहिए।

यो मान्द्यक्षुत्पिपासादिप्रतीकारचिकीर्षया ।
पक्षिमत्स्यमृगान् हन्ति परिपन्थं च तिष्ठति ॥ १२२ ॥
यो लाभसत्क्रियाहेतोः पितरावपि मारयेत् ।
रत्नत्रयस्वमादद्याद् येनावीचीन्धनो भवेत् ॥ १२३ ॥
कः पंडितस्तमात्मानमिच्छेद् रक्षेच्च पूजयेत् ।
न पश्येच्छत्रुवच्चैनं कश्चैनं प्रतिमानयेत् ॥ १२४ ॥

भूख और प्यास जैसे शारीरिक रोगों के प्रतिकार की इच्छा से पक्षी, मछली तथा मृगों को मारा जाता है, दूसरों को लूटने के लिए मार्ग में छिपकर प्रतीक्षा की जाती है। कोई लाभ-सत्कार के लिए माता-पिता की हत्या तक करता हैं, त्रिरत्न (बुद्ध, धर्म, और संघ) के धन की चोरी करते हैं, जिसके फल-स्वरूप अवीचि-नरक की आग में जलना पड़ता है।

इसलिए कोई भी बुद्धिमान् व्यक्ति इस शरीर की रक्षा और सत्कार के व्यर्थ कर्म में ही अपनी सारी शक्ति लगाता है तो इसे शत्रु के समान देखना चाहिए और इसका तिरस्कार करना चाहिए।

यदि दास्यामि किं भोक्ष्य इत्यात्मार्थे पिशाचिता।
यदि भोक्ष्ये किं ददामीति परार्थे देवराजता॥ १२५॥

(अब यहाँ से अपने और पराये से स्नेह के गुण-दोष पर प्रकाश डाला जा रहा है)–धन आदि दूसरों को दे दें तो अपने लिए कुछ नहीं रहता; ऐसा सोचना पिशाचधर्म है और यदि मैं इसका अपने लिए प्रयोग करूँ तो दूसरों के लिए कुछ नहीं बचता, ऐसा सोचना देव-धर्म है।

आत्मार्थं पीडयित्वान्यं नरकादिषु पच्यते।
आत्मानं पीडयित्वा तु परार्थे सर्वसंपदः॥ १२६॥

स्वयं अपनी सुख-सुविधा के लिए दूसरों के शरीर, धन, मित्र-बन्धु को हानि पहुँचाने से नरक की पीड़ा मिलेगी, मनुष्य जैसा अभ्युदित जन्म प्राप्त होने पर भी कम जीवन, अनेक रोग तथा आपस में हमेशा लड़ाई-झगड़े वाले साथी के सदृश दुःखों से पीड़ित होंगे। इसके विपरीत दूसरों की सुख-सुविधा के लिए अपने तन, मन, धन, यहाँ तक कि अपने प्राणों का परित्याग तक करके दुःख उठाने से जन्म-जन्मान्तिर में सुख-संपत्ति तथा समृद्धि प्राप्त होगी और अन्त में बुद्धत्व भी प्राप्त होगा।

दुर्गतिर्नीचता मौर्ख्यं ययैवात्मोन्नतीच्छया।
तामेवान्यत्र संक्राम्य सुगतिः सत्कृतिर्मतिः॥ १२७॥

अपना श्रेष्ठता की इच्छा से दुर्गति में पतन होता है, सुगति प्राप्त होने पर भी अवज्ञा, मूर्खता और हीन जन्म जैसे दोषों का भाजन होना पड़ेगा अर्थात् अपने मान, अहंकार तथा दूसरों को हीन दृष्टि से देखने का

फल स्वयं के लिए विपरीत होगा। दूसरी ओर दूसरों को पूज्य और सम्माननीय समझना चाहिये जैसा कि (कदम-पा आचार्य लङ्पङ्ग ने लोजोङ्ग छिगग्येद-मा में) कहा गया है, "जब कभी दूसरों के साथ संपर्क में आऊँ, तो मुझमें सब से हीन तथा नीच भावना हो और दूसरों के प्रति सच्चे हृदय से स्नेह हो।" उसी प्रकार दूसरों के नाम, यश की इच्छा तथा स्वयं के दूसरों का दास होने की भावना का फल अपने को सुगति प्राप्त कराता है और दूसरे अपने पर विश्वास करने लगते हैं, सम्मान करते हैं, और अन्य सुख-संपत्ति भी मिलेगी।

आत्मार्थं परमाज्ञाप्य दासत्वाद्यनुभूयते।
परार्थं त्वेनमाज्ञाप्य स्वामित्वाद्यनुभूयते॥ १२८॥

अपने लिए दूसरों से काम लेने का फल यह होगा कि दास, निर्धन और नीच से नीच कुल में जन्म लेना पड़ेगा और दूसरों की सेवा में यथासंभव अपनी शक्ति लगाने पर जन्म-जन्मान्तर में अच्छा जन्म, सुन्दर रूप और प्रभुता जैसा सुखद फल अनुभव करने को मिलेगा।

[भविष्य और जन्म-जन्मान्तर की बातों को छोड़कर दैनिक जीवन या इसी वर्तमान जीवन में भी यही बात उचित है, और इसका प्रभाव स्पष्ट रूप से हमारे सामने है। जो जितना निःस्वार्थ होगा, समाज चिन्तक, उद्धारकर्ता और परोपकारी होगा उतना ही ज्यादा समाज में लोग उससे प्रसन्न रहेंगे, आदर करेंगे और उसपर विश्वास करेंगे। दूसरी ओर एक दुष्ट तथा स्वार्थी व्यक्ति जो अपने लाभ के लिए दूसरों को धोखा देता है, कष्ट देता है, ऐसे स्वार्थी लोगों से सभी दूर रहना पसन्द करेंगे और कहेंगे कि उस स्वार्थी व्यक्ति से दूर रहना चाहिए, यह आपको धोखा देगा। समाज में उसे कोई नहीं चाहेगा और नीच समझेगा, निन्दा करेगा।

इतिहास भी इसी तथ्य का साक्षी है। इतिहास के माध्यम से एक

महान् समाज सेवक, जिसने निस्वार्थ भाव से समाज-कल्याण किया हो और दूसरों के उपकार किये हो, की मृत्यु से सैकड़ों वर्ष बाद भी लोग उसकी प्रशंसा करते हैं उसके कार्यों का अनुमोदन करते हैं, इस तरह उसका नाम प्रकाशमान रहता है। हाँ, इतिहास में बहुत दुष्ट, क्रूर लोगों का उल्लेख अवश्य आता है परन्तु सैकड़ों वर्ष बाद भी लोग उनकी निन्दा करते हैं, लोग उनके नाम से डरते हैं और कहते कि उस समय ऐसा एक क्रूर और हिंसक व्यक्ति हुआ, जिससे इतना दुःख और पीड़ा समाज को प्राप्त हुई। भगवान् करें भविष्य में ऐसे व्यक्ति संसार में न पैदा हों तो अच्छा हो। जीवन काल में भी ऐसे स्वार्थी व्यक्ति लाख कोशिश करें फिर भी सुखी एवं संतुष्ट नहीं हो सकते। वे हर प्रकार के कष्ट तथा अशुभ घटनाओं का लक्ष्य बनते हैं। यह सब बातें हमें प्रत्यक्ष रूप में यहीं आज देखने को मिलती है।

हमारे संसार का भविष्य भी इसी बात पर निर्भर करेगा। हम जितना कम स्वार्थी और अधिक समाज-कल्याण तथा परोपकार की भावना वाले होंगे उतना ही ज्यादा विश्व में सुख-शान्ति का वातावरण होगा और कुछ आशा की किरणें दिखाई देंगी। इसके विपरीत, धनी हो या निर्धन, विद्वान् हो या अनपढ़, स्वार्थी बनकर अपनी सुख-सुविधा के लिए दूसरों की जान पर भी खेलने वाले दुष्ट स्वभाव के लोगों से भर जाने पर कितनी भी बाहरी वस्तु तथा विज्ञान की उन्नति क्यों न हो, किन्तु इस धरती पर रहने वाले प्राणी कदाचित् सुख-चैन की सांस नहीं ले सकेंगे। अतः संक्षेप में सुख-दुःख के कारणों का वर्णन इस प्रकार है।—

ये केचिद् दुःखिता लोके सर्वे ते स्वसुखेच्छया।
ये केचित् सुखिता लोके सर्वे तेऽन्य सुखेच्छया॥ १२९॥

संसार में जितना सुख है, परोपकार की इच्छा से वह प्राप्त होता है

और संसार में हर एक दुःख आत्मस्नेह के कारण अपने सुख की इच्छा से प्राप्त होता है।

बहुना वा किमुक्तेन दृश्यतामिदमन्तरम्।
स्वार्थार्थिनश्च बालस्य मुनेश्चान्यार्थकारिणः ॥ १३० ॥

अधिक कहने की कोई आवश्यकता नहीं, हम इसी बात से ऐसा निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि जब हम मात्र अपने लिए प्रयत्नशील स्वार्थी पृथग्जन तथा हर तरह से परोपकार में लगे तथागत बुद्ध इन दोनों के क्या गुण क्या दोष है, इस अन्तर को देखते हैं तो सस्पष्ट हो जाता है कि निःस्वार्थ परकल्याण में क्या गुण हैं, और स्वार्थीपरत में क्या दोष है !

न नाम साध्यं बुद्धत्वं संसारेऽपि कुतः सुखम्।
स्वसुखस्यान्यदुःखेन परिवर्तमकुर्वतः ॥ १३१ ॥

परात्मपरिवर्तन भावना के द्वारा अपना सुख दूसरों के दुःख से विना बदले, हमें न बुद्धत्व प्राप्त होगा और न ही संसार के जीवन में सुख-शान्ति मिलेगी, क्योंकि स्वार्थ के कारण एक दूसरे का दमन करेंगे, इसके लिए आक्रमण होंगे। अतः परात्मपरिवर्तन के अभ्यास से ही जन्म-जन्मान्तर में देव एवं मानव जन्म की सुख-सुविधाएँ प्राप्त होगी और अन्त में बुद्धत्व भी इसी से प्राप्त होगा।

आस्तां तावत्परो लोको दृष्टोऽप्यर्थो न सिध्यति।
भृत्यस्याकुर्वतः कर्म स्वामिनोऽददतो भृतिम् ॥ १३२ ॥

परकल्याण की भावना के विना भविष्य और परलोक जैसे तो दूर की बात है, इसी जीवन की अर्थसिद्धि भी नहीं हो सकती। जैसे मजदूरी के अनुसार काम न करने वाला मजदूर और काम के अनुसार या समय पर मजदूरी न देने वाला स्वामी दोनों अपने ऐहिक अर्थ भी सिद्ध नहीं कर सकते।

त्यक्त्वान्योन्यसुखोत्पादं दृष्टादृष्टसुखोत्सवम् ।
अन्योन्यदुःखनाद् घोरं दुःखं गृह्णन्ति मोहिताः ॥ १३३ ॥

दृश्यमान वर्तमान जीवन और अदृश्य परलोक के लिए हर प्रकार के सुख के स्रोत परकल्याण को छोड़कर मूर्ख लोग दूसरे प्राणी को दुःख तथा कष्ट पहुँचाने के कारण अनचाहे अनन्त दुःख पाते हैं ।

उपद्रवा ये च भवन्ति लोके यावन्ति दुःखानि भयानि चैव ।
सर्वाणि तान्यात्मपरिग्रहेण तत् किं ममानेन परिग्रहेण ॥ १३४ ॥

यही नहीं, संसार में जितन बाहरी या आन्तरिक उपद्रव हैं, आठ या सोलह प्रकार के भय जैसे जितने भी भय है और अनेक तरह के दुःख है, उन सबकी जड़ आत्म-परिग्रह है, स्वार्थ-भावना है, जिसने हमें आज तक संसार के चक्र में घुमाया और बंधन में रखकर दुःख ही दुःख दिया । ऐसे प्रेतरूपी आत्मपरिग्रह की भावना को अवश्य त्यागना चाहिए ।

आत्मानपरित्यज्य दुःखं त्यक्तुं न शक्यते ।
यथाग्निमपरित्यज्य दाहं त्यक्तुं न शक्यते ॥ १३५ ॥

स्वार्थ-भावना का त्याग किये विना हम सुखी नहीं रह सकते, क्योंकि जैसे अग्नि को हाथ से छोड़े विना दाह से मुक्त नहीं हो सकते, उसी प्रकार आत्म परित्याग किये विना दुःख का परित्याग नहीं हो सकता ।

तस्मात्स्वदुःखशान्त्यर्थं परदुःखशमाय च ।
ददाम्यन्येभ्य आत्मानं परान् गृह्णामि चात्मवत् ॥ १३६ ॥

इसलिए अपने पर होने वाले उपद्रव या भय को शांत करने और दूसरों के दुःख को दूर करने के लिए अपने को दूसरों के उपकार के लिए समर्पित करना चाहिए और दूसरों को अपने समान ग्रहण करना चाहिए ।

अन्यसंबद्धमस्मीति निश्चयं कुरु हे मनः।
सर्वसत्त्वार्थमुत्सृज्य नान्यच्चिन्त्यं त्वयाधुना ।। १३७ ।।

(इस प्रकार आत्म तथा पर-परिग्रहण के गुण-दोषों को अच्छी तरह देखकर आत्म-परित्याग करने के बाद अपने मन को समझाना चाहिए कि)— हे मन ! अब तुम को दूसरों की सेवा के लिए त्याग चुका हूँ। अतः तुम्हे पर-कल्याण के अलावा और कुछ भी सोचने का अधिकार नहीं।

न युक्तं स्वार्थदृष्ट्यापि तदीयैश्चक्षुरादिभिः।
न युक्तं स्पन्दितुं स्वार्थमन्यदीयैः करादिभिः ॥ १३८ ॥

जब स्वयं दूसरों के लिए परित्याग कर चुके हैं तो अपनी नेत्रादि इन्द्रियाँ भी दूसरों के लिए हैं और इनका प्रयोग स्वार्थ के लिए नहीं होना चाहिए। साथ ही साथ अपनी आँख जैसी इन्द्रियों से दूसरों को हानि पहुँचाने जैसा विपरीतार्थक आचरण नहीं होना चाहिए, क्योंकि हम पर-कल्याण के लिए इनका परित्याग कर चुके हैं।

तेन सत्त्वपरो भूत्वा कायेऽस्मिन् यद्यदीक्षसे।
तत्तदेवापहृत्यास्मात् परेभ्यो हितमाचर ॥ १३९ ॥

अतः अब प्राणियों को प्रभुत्व देकर अपने शरीर में जो भी गुण हैं उन्हें छीनकर असंख्य प्राणियों के उपकार में लगाना चाहिये।

हीनादिष्वात्मतां कृत्वा परत्वमपि चात्मनि।
भावयेर्ष्या च मानं च निर्विकल्पेन चेतसा ।। १४० ।।

(अब यहाँ से एक विशेष चिन्तन अभ्यास विधि का वर्णन है)—यहाँ सर्वप्रथम दो पक्ष की कल्पना इस प्रकार करें कि "हीन आदि" अर्थात् अपने से हीन, अपने बराबर का और अपने से महान्, ऐसे तीन स्तर के

प्राणियों का समूह एक ओर करें और स्वयं दूसरी ओर आमने-सामने बैठे हों, तो अपना एक दूसरा रूप निष्पक्ष बनकर प्राणियों के समूह में शामिल होकर अपने उस मूलभूत स्वार्थमय रूप के आचरण की विवेचना करेंगे तो हम यह देखेंगे कि उस तरफ के स्वार्थी रूप, अपने से महान प्राणी के प्रति ईर्ष्या रखता है अपने बराबर के प्रति प्रतिद्वन्द्वात्मक विचार और अपने से हीन प्राणी के प्रति अभिमान भावना करता है। इस प्रकार का अभ्यास बहुत लाभदायक है।

[यहाँ पर एक आसान तरीका इस प्रकार हो सकता है जो "उत्पत्ति-क्रम" की भावना जैसा है। एक ओर स्वयं की स्वार्थ स्वभाव-वाला अहंकारी और अभिमानी रूप होने की कल्पना करे और दूसरी ओर दुःखी प्राणियों के समूह की भावना करे। अब इन दो पक्षों के बीच में आप निष्पक्ष होकर यह परीक्षण करें कि दोनों मे कौन महत्त्वपूर्ण है, किसको कितनी सुविधा मिलनी चाहिए? दोनों पक्ष सुख के अभिलाषी हैं, दुःख से मुक्त होना चाहते हैं और समान रूप से सुख-सुविधा प्राप्त करने और दुःख-निवृत्ति का अधिकार भी रखते हैं, परन्तु स्वयं को कितने भी महत्त्वपूर्ण क्यों न समझें, वह एक प्राणी है दूसरी ओर असंख्य प्राणियों के सुख-दुःख का प्रश्न है। अतः कोई भी निष्पक्ष विचार वाला व्यक्ति एक स्वार्थी व्यक्ति का पक्ष नहीं ग्रहण करेगा, बहुसंख्यक का पक्ष लेना ही स्वाभाविक है। इसलिए स्वयं प्राणि समूह के पक्ष में बैठकर उस स्वार्थ आत्मकेन्द्रस्थ के प्रति ईर्ष्या, अहंकार तथा प्रतिद्वन्द्वी का विचार उत्पन्न कर अभ्यास करने से चिन्तन स्पष्ट होगा, जो लाभदायक होगा। बहुजन के उपकार का विचार करना बुद्धिमानी का कार्य है। अतः स्वयं उस प्राणि समूह के पक्ष में शामिल होकर उस स्वार्थी के प्रति इस प्रकार परिवाद करें] जैसे—

एष सत्क्रियते नाहं लाभी नाहमयं यथा।
स्तूयतेऽयमहं निन्द्यो, दुःखितोऽहमयं सुखी ॥ १४१ ॥

इस स्वार्थी 'आत्मा' का सत्कार होता है, हमारा नहीं, वह लाभ-युक्त है हम लोग नहीं, उसकी स्तुति होती है और हमारी निन्दा, वह सुखी है पर हम दुःखी है, ऐसा अन्याय क्यों ?

अहं करोमि कर्माणि, तिष्ठत्येष तु सुस्थितः ।
अयं किल महान् लोके, नीचोऽहं किल निर्गुणः ।। १४२ ।।

हम हर प्रकार का परिश्रम करते हैं, और वह आराम से बैठा है, फिर भी वह लोक में महान् है और हम नीच तथा निर्गुण है ।

सातवाँ दिन

[जैसे ध्यान अभ्यास के प्रसंग में आचार्य नागार्जुन ने कहा है, "पुण्य-वर्ग एवं ज्ञानवर्ग के संभार की पूर्ति से प्राणि-मात्र के हित के लिए (धर्मकाय तथा रूपकाय) दोनों श्रेष्ठ कायों की प्राप्ति हो ।* ऐसे विचार के साथ 'ध्यान पारमिता परिच्छेद' का अध्ययन करना चाहिए । उस पुण्यवर्ग तथा ज्ञानवर्ग संभार संचय के अनेक उपाय बोधिचर्यावतार में वर्णित हैं । यहाँ ध्यान-पारमिता परिच्छेद में एक उपाय बोधिचित्त का अभ्यास करना है । बोधिचित्त के आधार के साथ पुण्य संचय होने से बुद्धत्व प्राप्त होता है । हमारे जितने भी पुण्य संचित होंगे उनका बोधि प्राप्ति के लिए उपयुक्त होना या न होना बोधिचित्त पर निर्भर है । बोधिचित्त के बिना शून्यता के ज्ञानवाली प्रज्ञा से भी बोधि प्राप्त नहीं हो सकती । इसलिए ध्यान पारमिता परिच्छेद में भी बोधिचित्त के अभ्यास पर जोर देता है और यही महायान धर्म का सार है ।

यह बोधिचित्त परकल्याण की भावना है, अत्यन्त भद्र तथा उत्तम

---

* पुण्येनानेन पुरुषः भूत्व सम्भारलभिनः ।
पुण्यज्ञानादिसम्भूतसत्कायद्वयमाप्नुयुः ।। युक्तिषष्ठिक ।। ६१ ।।

चित्त है। थोड़ा बहुत हितकारी और उदार मन होने पर भी सुख चैन की साँस लेने को मिलता हैं। इससे स्वयं सुखी रहता है और अपने घर परिवार या पास-पड़ोस के लोगों को भी चैन मिलता है। यदि हम विश्व-शान्ति की बात को लें—तो जितने हितैषी और उदार मन के हम होंगे उतनी ही ज्यादा वास्तविक सुख-शान्ति विश्व में फैलेगी। छोटे बड़े हर एक देश की सुख-शान्ति उस देश या राष्ट्र के नागरिकों की उदारता और उपकार भावना पर निर्भर है। यही कारण है कि हरएक व्यक्ति का उदार मन होना चाहिए। यदि हमें राष्ट्र एवं विश्व स्तर पर शान्ति और मैत्री की आवश्यकता है तो उदारचित्त होना, सद्भाव, मैत्री, परोपकार, करुणा जैसे चित्त के अच्छे गुणों से युक्त मानव होने की आवश्यकता है। इसलिए संसार का हर एक धर्म समानरूप से उदारचित्त बनाने का उपदेश देता है। संक्षेप में, सभी धर्म हमें अच्छा और उदारचित्त वाले मनुष्य बनने की शिक्षा देता है। अतः जैसे मैंने कल परसों भी कहा था कि हरएक धर्म का आदर करना चाहिए, श्रद्धा रखनी चाहिए। एक वास्तविक धार्मिक व्यक्ति को चाहिए कि वह धर्म की शिक्षा एवं उपदेशों को कार्य रूप दे, यथासंभव धर्माचरण का अभ्यास करने का प्रयत्न करें। हमलोग भगवान् बुद्ध के अनुयायी होने के नाते अच्छे गुणों की शिक्षा लें और उनका अभ्यास करें, न कि हाथ में माला लेकर मुंह से झगड़ा करें, ऐसा व्यवहार नहीं करना चाहिए। यदि लड़ाई झगड़ा ही पसन्द है तो धर्म को त्याग कर ऐसा दुष्कर्म करें। यदि धर्म से संपर्क ही चाहते हैं तो धर्म के अनुरूप आचरण होना आवश्यक है।

यहाँ पर बोधिचर्यावतार का उपदेश लेने का उद्देश्य यह है कि क्लेशों का दमन हो, विशेषकर क्रोध कम हो और हम उदार चित्त के बनें। इस उपदेश को ग्रहण करके अपने दैनिक जीवन के आचरण में कुछ परिवर्तन करें, कुछ प्रभाव इसका आपके चित्त पर पड़े और आप यह कह सकें या

अनुभव कर सकें कि बोधिचर्यावतार के उपदेश से मुझे यह लाभ मिला, इतना अभ्यास मैं करूँगा। इसके विपरीत व्यवहार में कुछ न अपनाकर, काम, क्रोध, ईर्ष्या द्वेष के प्रबल रहते भी "मैं बहुत भाग्यशाली हूँ जो मुझे बोधिचर्यावतार का उपदेश सुनने को मिला" इतने ही से यहाँ उपदेश लेने का प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा।

किन्नौर, गडशा और स्पीति प्रदेशों में भी इस समय भौतिक विकास हर दिशा में हो रहा है। मानव समाज में सुख-सुविधा के लिए भौतिक विकास आवश्यक है। इसके साथ-साथ भगवान् तथागत की बहुमूल्य शिक्षा जो शताब्दियों से फली-फूली है उसे भी सुरक्षित रखना आवश्यक है। इन दोनों का साथ चलाने से बाहरी भौतिक सुख-सुविधा और आन्तरिक मन की शान्ति से पूर्ण एक बहुत-खुशहाल समाज का निर्माण होगा। भौतिक विकास के प्रयत्न में लगकर एकांगी विकास द्वारा एक ऐसा समय भी आ सकता है जब मनुष्य पैसे या भौतिक वस्तु का गुलाम बन जायें और सुख-शान्ति का प्रश्न खतरे में पड़ जाये। दोनों में संतुलन होना चाहिए।

उदार चित्त, प्रार्थना और अभिलाषा मात्र से उत्पन्न नहीं हो सकता। उसके लिए प्रयास करना होगा, यथासंभव उदार चित्त उत्पन्न होने में विघ्न डालने वाले विचारों का निराकरण में सहायक कारणों पर बारबार चिन्तन करके उदारता उत्पन्न करनी चाहिए। बोधिचर्यावतार में वर्णित उपायों का ज्ञान ही पर्याप्त नहीं, जानी हुई बात पर पुनः पुनः विचार करके उसे चित्त पर अंकित करके व्यावहारिक रूप देना चाहिए, क्योंकि धर्माभ्यास का अर्थ मात्र जानकारी नहीं अपितु धर्म के अर्थ को चित्त से जोड़ना है। अतः बोधिचर्यावतार जैसे ग्रन्थ को बारबार पढ़कर चिंतन और अभ्यास करने पर धीरे-धीरे हमारा कोयले की भाँति कलुषित चित्त भी शंख की तरह शुद्ध हो सकता हैं।] (अब हम पूव विषय पर आयें जहाँ अपने स्वार्थी 'आत्मा' के प्रति ईर्ष्या आदि करने की बात थी)

किं निर्गुणेन कर्तव्यं स्वस्यात्मा गुणान्वितः ।
सन्ति ते येष्वहं नीचः सन्ति ते येष्वहं वरः ॥ १४३ ॥

वह गुणी है, हम लोग निर्गुण । हमारे अन्दर तथागत गर्भ जैसे गुण निहित हैं, अतः प्रयत्न करने पर हम भी गुणी हो सकते हैं । हमें निराश होने का कोई कारण नहीं । यह सब बातें सापेक्ष है । हमारी अपेक्षा वह ज्यादा गुणी है परन्तु किसी और की अपेक्षा हम उच्च हैं, गुणी है ।

शीलदृष्टिविपत्त्यादि क्लेशशक्त्या न मद्वशात् ।
चिकित्स्योऽहं यथाशक्ति पीडाप्यङ्गीकृता मया ॥ १४४ ॥

शील-विपत्ति, दृष्टि-विपत्ति आदि के कारण भी निराश नहीं होना चाहिए, क्योंकि यह सब दोष सहज और नित्य नहीं है, वे आकस्मिक है । उस आत्मा से यह भी कहना चाहिए कि तुम्हें हम लोगों की विपत्ति से रक्षा करनी चाहिए और गुण सिद्ध करने का कष्ट भी उठाना चाहिए ।

अथाहमचिकित्स्योऽस्य कस्मान्मामवमन्यते ।
किं ममैतद्गुणैः कृत्यमात्मा तु गुणवानयम् ॥ १४५ ॥

यदि हम प्रणियों की रक्षा तुम नहीं करते तो फिर हमारा अवज्ञा क्यों करते हो ? ऐसी स्वार्थ-भावना वाले के गुणों से हमें क्या लेना देना है, अर्थात् 'आत्मा' का लाभ हमारे लिए सिद्ध नहीं होता ।

दुर्गतिव्याडवक्त्रस्थे नैवास्य करुणा जने ।
अपरान् गुणमानेन पंडितान् विजिगीषते ॥ १४६ ॥

दुराचरण तथा मिथ्या—दृष्टि के कारण दुर्गति-रूपी सर्प के मुँह पर स्थित वह स्वार्थी अपने बाहरी गुणों से अभिमानित होकर विद्वानों को जीतना चाहता है। (इस प्रकार यहाँ तक उस कल्पित अपने से श्रेष्ठ स्वार्थी 'आत्मा' के प्रति ईर्ष्या की भावना का वर्णन किया गया है।)

समभात्मानमालोक्य यतः स्वाधिक्यवृद्धये ।
कलहेनापि संसाध्यं लाभसत्कारमात्मनः ॥ १४७ ॥

यहाँ से उस स्वार्थी 'आत्मा' को अपने बराबर मानकर प्रतिद्वन्द्वी भाव उत्पन्न करने की विधि है—उस स्वार्थी 'आत्मा' से बढ़ने के लिए लाभ-सत्कार आदि ज्यादा पाने के लिए कलह करना पड़े तो भी प्रयत्न करेंगे।

अपि सर्वत्र मे लोके भवेयुः प्रकटा गुणाः ।
अपि नाम गुणा येऽस्य न श्रोऽयन्त्यपि केचन ॥ १४८ ॥

उस स्वार्थी 'आत्मा' को नीचा दिखाने हेतु हम अपने गुणों को सारे संसार में प्रकाशित करेंगे और उसका गुण कोई न सुने ऐसी स्पर्धा उपाय-पूर्वक करेंगे।

छाद्येरन्नपि मे दोषाः स्यान्मे पूजास्य नो भवेत् ।
सुलब्धा अद्य मे लाभाः पूजितोऽहमयं न तु ॥ १४९ ॥

प्रति स्पर्धा के लिए, अपने दोषों को गुप्त रखूंगा, 'जगत् में मेरी पूजा होगी उसकी नहीं और मुझे लाभ-सत्कार प्राप्त होंगे जो उसको प्राप्त नहीं हो सकते।

पश्यामो मुदितास्तावच्चिरादेनं खलीकृतम् ।
हास्यं जनस्य सर्वस्य निन्द्यमानमितस्ततः ॥ १५० ॥

इस प्रकार उस स्वार्थी आत्मा को नीचा दिखाकर चिर काल तक हम प्रसन्न होकर तिरस्कृत दृष्टि से देखेंगे और समस्त जगत के उपहास तथा निन्दा का साधन बनायेंगे।

अस्यापि हि वराकस्य स्पर्धा किल मया सह।
किमस्य श्रुतमेतावत् प्रज्ञा रूपं कुलं धनम्॥ १५१॥

(अब उस कल्पित स्वार्थी आत्मा से अपने को श्रेष्ठ समझकर उत्साह-उत्पत्ति का उपाय का प्रसंग आता है)—बेचारा यह हमारे साथ स्पर्धा की इच्छा रखता है, परन्तु वह असमर्थ है क्योंकि हम उससे श्रवण या प्रज्ञा अर्थात् ज्ञान और बुद्धि, रूप, कुल, धन आदि में बढ़कर है।

एवमात्मगुणान् श्रुत्वा कीर्त्यमानमितस्ततः।
संजातपुलको हृष्टः परिभोक्ष्ये सुखोत्सवम्॥ १५२॥

इस प्रकार सर्व-विख्यात हमारे गुणों को सुनकर तुम्हें (स्वार्थी आत्मा को) रोमाञ्चयुक्त प्रसन्नता अनुभव होनी चाहिए।

यद्यप्यस्य भवेल्लाभो ग्राह्योऽस्माभिरसौ बलात्।
दत्त्वास्मै यापनामात्रमस्मत्कार्यं करोति चेत्॥ १५३॥

यदि उस स्वार्थी आत्मा को लाभ प्राप्त हो, तो हमारी इच्छा के अनुसार कार्य करने पर जीविका मात्र देकर बाकी छीन लिया जायेगा।

सुखाच्च च्यावनीयोऽयं योज्योऽसद्व्यथया सदा।
अनेन शतशः सर्वे संसारव्यथिता वयम्॥ १५४॥

इस स्वार्थी की सभी सुख-सुविधाएँ नष्ट करके उसे हमेशा पीड़ित कर परकल्याण श्रम का दुःख देना चाहिए। (अब इस श्लोक के उत्तरार्ध से स्वयं अपने चित्त पर प्रस्थापित आत्मापरिग्रह को पहचानकर उस पर

काबू पाने की चिन्तन-विधि आती है)—इस आत्म-परिग्रहण ने सैकड़ों कल्पों तक की सांसारिक जन्मों में हमें सताया है।

[पृथग्जनों के लिए आत्म-परिग्रह और आत्म-सत्य की धारणाएँ यह दोनों मिलते-जुलते अर्थ के हैं और ऐसी धारणा उत्पन्न करने में एक दूसरे के सहायक तथा पूरक भी होते हैं।]

अप्रमेया गताः कल्पाः स्वार्थं जिज्ञासतस्तव।
श्रमेण महतानेन दुःखमेव त्वयार्जितम्॥ १५५॥

अपने स्वार्थी चित्त को इस प्रकार समझाना चाहिए कि तुम स्वार्थी होकर अपने स्वार्थ की इच्छा करते हुए इस कठोर श्रम में असंख्य कल्प बिता चुके परन्तु दुःख के सिवाय और कुछ नहीं प्राप्त हुआ।

मद्विज्ञप्त्या तथात्रापि प्रवर्तस्वाविचारतः।
द्रक्ष्यस्येतद्गुणान् पश्चाद्भूतं हि वचनं मुनेः॥ १५६॥

जैसा तथागत बुद्ध ने देशना की है, वैसा ही आज से यदि परकल्याण के लिए परिश्रम करें, तो परोपकार के अनेक गुण देखने को मिलेंगे, क्योंकि भगवान् का वचन यथार्थ है, प्रमाण है।

अभविष्यदिदं कर्म कृतं पूर्वं यदि त्वया।
बौद्धं संपत्सुखं मुक्त्वा नाभविष्यदिय दशा॥ १५७॥

हे स्वार्थी चित्त! यदि तुमने पहले ही इस परात्मपरिवर्तन भाव का अभ्यास किया होता तो आज मेरी ऐसी दुर्दशा नहीं होती। कब का बुद्धत्व प्राप्त हो गया होता।

तस्माद्यथान्यदीयेषु शुक्रशोणितबिन्दुषु।
चकर्थ त्वमहंकारं तथान्येष्वपि भावय॥ १५८॥

अतः दूसरों के शुक्र-शोणित की बूँदों से बने इस शरीर के प्रति जिस तरह आत्म-परिग्रहण करता है उसी प्रकार की भावना दूसरों के प्रति भी उत्पन्न करनी चाहिए।

अन्यदीयश्चरो भूत्वा कायेऽस्मिन् यद्यदीक्षसे।
तत्तदेवापहृत्यार्थं परेभ्यो हितमाचर॥ १५९॥

इस प्रकार अपने को पराया समझकर जितने भी गुण या सुविधायें अपने शरीर को प्राप्त है उन्हें हटाकर परकल्याण के लिए प्रयुक्त करना चाहिए।

अयं सुस्थः परो दुस्थो नीचैरन्योऽप्यमुच्चकैः।
परः करोत्ययं नेति कुरुष्वेर्ष्यां त्वमात्मनि॥ १६०॥

'यह स्वार्थी सुखी है, दूसरा नहीं, यह उच्च है दूसरे नीच, यह काम नहीं करता, दूसरे करते हैं' इस प्रकार विचार करके अपने चित्त से ईर्ष्या करनी चाहिए।

सुखाच्च च्यावयात्मानं परदुःखे नियोजय।
कदायं किं करोतीति छलमस्य निरूपय॥ १६१॥

अब हम स्वयं को सुख से वंचित करके उसे दूसरों को दें और दूसरों का दुःख स्वयं लेकर हर एक दोष का परीक्षण करें। [हर एक प्राणी चाहता तो सुख है, दुःख कभी नहीं फिर अज्ञानवश दुःख के निराकरण और सुख की प्राप्ति के उपाय न जानने के कारण सुख से वंचित है। वह अनायास दुःख उत्पन्न करने वाले कार्यों पर टूट पड़ता है। अतः करुणा के साथ हमें यह प्रतिज्ञा करनी चाहिए कि दूसरों के दुःख अपने ऊपर लेकर दूसरों का उपकार करें, क्योंकि जैसे हम स्वयं सुख के अभिलाषी हैं वैसे ही हर एक प्राणी भी है। दुःख भी अनेक प्रकार का है, जैसे दुर्गति का दुःख है,

सुगति में भी रोग तथा जन्म-मृत्यु आदि दुःख हैं, रूप और अरूपधातुओं में भी व्याप्त-संस्कार दुःख हैं। वैसे सब दुःखों को समाप्त करने की इच्छा होनी चाहिए। समूल या कारण सहित उन प्राणियों के पाप, क्लेश, उनकी वासनाओं सहित दूर करने के लिए उत्सुक होकर ऐसा विचार करना चाहिए कि यदि त्रिधातु के समस्त प्राणियों के दुःख मुझपर पड़ने से सभी प्राणी दुःख से मुक्त हो जाएँ तो इससे अच्छा और उचित क्या हो सकता है। इसलिए अब विभिन्न प्रकार के दुःखों को अपने पर लेने के लिए उनका इस प्रकार वर्णन आता है।]—

अन्नेनापि कृतं दोषं पातयास्यैव मस्तके।
अल्पमप्यस्य दोषं च प्रकाशय महाजनेः ॥ १६२ ॥

दूसरे के किये गये दोषों को भी अपने द्वारा किये गये पाप का फल मानकर, दोष स्वीकार करना चाहिए और यदि अपने द्वारा दूसरों के प्रति हुआ न्यूनतम दोष हो तो भी सबके सामने ढिंढोरा पीटकर उसे प्रकट करना चाहिए।

अन्याधिकयशोवादैर्यशोऽस्य मलिनीकुरु।
निकृष्टदासवच्चैनं सत्त्वाकार्येषु वाहय ॥ १६३ ॥

दूसरों के नाम या कीर्ति की प्रशंसा करके अपने नाम को नीचे अंकित करे और सबका दास समझकर प्राणियों के कार्य स्वयं करे।

नागन्तुकगुणांशेन स्तुत्यो दोषमयो ह्ययम्।
यथा कश्चिन्न जानीयाद् गुणमस्य तथा कुरु ॥ १६४ ॥

यह स्वार्थी आत्मा दोषपूर्ण है, इसके आरोपित गुणों की आंशिक स्तुति भी न करें, किसी को इसके गुणों का पता ही न होने दे।

संक्षेपाद्यद्यदात्मार्थे परेष्वपकृतं त्वया।
तत्तदात्मनि सत्त्वार्थे व्यसनं विनिपातय ॥ १६५ ॥

संक्षेप में अनादिकाल से स्वार्थ के लिए जो हानि अनेक प्राणियों को पहुँचाया है वही हानि अपने ऊपर लेनी चाहिए।

नैवोत्साहोऽस्य दातव्यो येनायं मुखरो भवेत्।
स्थाप्यो नववधूवृत्तौ ह्रीतो भीतोऽथ संवृतः ॥ १६६ ॥

अपने चित्त को लोभी होने में उत्साहित न कर, इसे नई बहू की तरह सलज्ज और समीत आचरण में बन्द रखे।

एवं कुरुष्व तिष्ठैत्रं न कर्तव्यमिदं त्वया।
एवमेव वशः कार्यो निग्राह्यस्तदतिक्रमे ॥ १६७ ॥

जैसा चित्त को अनुशासित रखने की इच्छा है, वैसा ही व्यवहार में होना चाहिए, यदि चित्त इस प्रकार के परकल्याण का उचित व्यवहार नहीं करता तो उसे स्मृति द्वारा वश में करके दण्डित करने की धमकी देनी चाहिए।

अथैवमुच्यमानेऽपि चित्त नेदं करिष्यसि।
त्वामेव निग्रहीष्यामि सर्वदोषास्त्वदाश्रिताः ॥ १६८ ॥

तू स्वार्थी चित्त, यदि मेरे कहने पर भी उचित व्यवहार नहीं करता तो इस लोक और परलोक में हर एक दोष पर आश्रित रहेगा और तेरा नाश होना निश्चित है।

क्व यास्यसि मया दृष्टः सर्वदर्पान्निहन्मि ते।
अन्योऽसौ पूर्वकः कालस्त्वया यत्रास्मि नाशितः ॥ १६९ ॥

वह पहले का समय कुछ और ही था जब तुमने मेरा नाश किया, परन्तु अब मैंने आत्मपरिग्रहीत तुम से होने वाले सभी दोष जान लिए हैं, अब तुम कहीं नहीं भटक सकते। तुम्हारा सारा घमंड नष्ट करूँगा।

अद्याप्यस्ति मम स्वार्थ इत्याशां त्यज सांप्रतम्।
त्वं विक्रीतो मयान्येषु बहुखेदमचिन्तयन्॥ १७०॥

हे स्वार्थी चित्त! अब स्वार्थ भावना त्याग दे, क्योंकि मैंने तुझ आत्मपरिग्रहण करने वाले को दूसरों के हाथ बेच दिया है, तुम्हें निराश न होकर यथाशक्ति दूसरों की भलाई करनी होगी।

त्वां सत्त्वेषु न दास्यामि यदि नाम प्रमादतः।
त्वं मां नरकपालेषु प्रदास्यसि न संशयः॥ १७१॥

यदि तुझ 'आत्मस्नेह' को दूसरों के हवाले न कर दूँ तो निश्चय ही तुम मुझे नरकपालों के हाथ सौंपने वाले हो।

एवं चानेकधा दत्वा त्वयाहं व्यथितश्चिरम्।
निहन्मि स्वार्थचेटं त्वां तानि वैराण्यनुस्मरन्॥ १७२॥

तुम्हारे द्वारा इस प्रकार नरक पालों के हवाले किये जाने से मैंने अनादि काल से दुःख ही दुःख अनुभव किया है, परन्तु अब उन वैरों का स्मरण करते हुए तुम्हारे स्वार्थ तथा आत्मस्नेह की भावनाओं को समूल नष्ट कर दूंगा।

न कर्तव्यागत्मनि प्रीतिर्यद्यात्मप्रीतिरस्ति ते।
यद्यात्मा रक्षितव्योऽयं रक्षितव्यो न युज्यते॥ १७३॥

यदि तुम सम्पूर्ण और वास्तविक आनन्द के अभिलाषी हो तो इस मूर्खता युक्त आत्मस्नेह को तुम्हें त्याग देना चाहिए, और स्वयं भव तथा मोक्ष दोनों से बचने के लिए सदा दूसरों की रक्षा करनी पड़ेगी।

यथा यथास्य कायस्य क्रियते परिपालनम्।
सकुमारतरो भूत्वा पतत्येव तथा तथा॥ १७४॥

जितना अधिक पालन हम इस शरीर का करेंगे उतना ही अधिक यह असहनशील होता जायेगा, कभी संतुष्ट नही होगा।

अस्यैवं पतितस्यापि सर्वापीयं वसुन्धरा।
नालं पूरयितुं वांछा तत्कोऽस्येच्छां करिष्यति॥ १७५॥
अशक्यमिच्छत: क्लेश आशाभङ्गश्च जायते।
निराशो यस्तु सर्वत्र तस्य संपदजीर्णका॥ १७६॥

और इस पतित की इच्छा की पूर्ति समुची धरती से भी नहीं हो सकती तो भला कौन मूढ़ उसकी इच्छा की पूर्ति करे, अर्थात् कोई नहीं कर सकता। यही नहीं, उस असाध्य इच्छा की पूर्ति का प्रयास करने से क्लेश उत्पन्न होगा, निराश होना पड़ेगा परन्तु जो व्यक्ति शरीर या धन-दौलत की चिन्ता से दूर रहता है उसका सुख-संपत्ति कभी नष्ट नहीं होता।

तस्मान्न प्रसरो देय: कायस्येच्छाभिवृद्धये।
भद्रकं नाम तद्वस्तु यदिष्टत्वान्न गृह्यते॥ १७७॥

अत: इस शरीर की माँग बढ़ने को अवसर न देना ही अच्छा है, और प्रिय वस्तुओं का स्मरण न कर संतुष्ट होना ही अच्छी वस्तु है। [संतुष्ट है तो धनी है। बाहरी वस्तु कितनी भी रहे यदि मन असंतुष्ट है तो निर्धन:

के बराबर है। जैसे कहा गया है, "संतुष्ट व्यक्ति के द्वार पर धनी लेटा ही होता है", अर्थात् जितना अपने पास है उसे ही पर्याप्त समझकर संतोष करने से सुखी रह सकते हैं, और लोभी तथा असंतुष्ट होकर लाखों करोड़ों रूपए होने पर भी और कमाने की इच्छा से अनेक प्रकार के कष्ट झेलने पड़ेंगे। कभी उस धन से सुख प्राप्त नहीं होगा। अतः संतोषी होना आवश्यक है, विशेषकर हम प्रव्रजित लोगों को।

भस्मनिष्ठावसानेयं निश्चेष्टान्येन चाल्यते।
अशुचिप्रतिमा घोरा कस्मादत्र ममाग्रहः॥ १७८॥

कितना भी पालन पोषण करें, अन्त में इस शरीर का भस्म होना निश्चित है, जो स्वयं अचेतन है, हिलने डोलने में असमर्थ है, परन्तु चित्त के द्वारा हिलता है, स्वभाव से अपवित्र और भयंकर है फिर क्यों हम उसके प्रति आत्म-परिग्रह का भाव रखते हैं?

किं मयानेन यन्त्रेण जीविना वा मृतेन वा।
लोष्टादेः को विशेषोऽस्य हाहंकार न नश्यसि॥ १७९॥

हम जीयें या मरें, इस शारीरिक यंत्र से कोई लाभ नहीं, अन्य ढेले में और इसमें कोई विशेष अन्तर नहीं है, अतः इसके प्रति अहंकार नष्ट होना चाहिए।

शरीरपक्षपातेन वृथा दुःखमुपार्ज्यते।
किमस्य काष्ठतुल्यस्य द्वेषेणानुनयेन वा॥ १८०॥

शरीर सत्कार में लगकर व्यर्थ में दुःख कमाता है। उपकार या हानि पहुँचाने वालों पर राग-द्वेष करना बेकार है, क्योंकि यह शरीर अचेतन है।

मया वा पालितस्यैवं गृध्राद्यैर्भक्षितस्य वा।
न च स्नेहो न च द्वेषस्तत्र स्नेहं करोमि किम् ।। १८१ ।।

इस समय मेरे द्वारा पालन होने और अन्त में गीध आदि से खाये जाने पर इस अचेतन शरीर को अपनी ओर से न मेरे प्रति राग है, न गीधों के प्रति द्वेष, फिर हमारा शरीर पर स्नेह या आसक्ति का होना व्यर्थ है।

रोषो यस्य खलीकारात्तोषो यस्य च पूजया।
स एव चेन्न जानाति श्रमः कस्य कृते नु मे ।। १८२ ।।

शरीर के तिरस्कृत होने पर हम क्रोधित होते हैं और पूजा-प्रशंसा होने पर संतोष प्रकट करते हैं, परन्तु स्वयं शरीर तो अचेतन होने से भला-बुरा कुछ नहीं समझता, अतः हमारे ये सब कष्ट निष्फल हैं।

इमं ये कायमिच्छन्ति तेऽपि मे सुहृदः किल।
सर्वे स्वकायमिच्छन्ति तेऽपि कस्मान्न मे प्रियाः ।। १८३ ।।

जिसको मेरा शरीर प्रिय लगता है वे मेरे मित्र हैं, इसलिए मुझे इससे स्नेह है। ऐसा तर्क देना भी उचित नहीं क्योंकि अपने शरीर से हर एक प्राणी प्रेम करता है, अतः हमें हर एक व्यक्ति के प्रति प्रेम व्यवहार करना चाहिए।

यस्मान्मयानपेक्षेण कायस्त्यक्तो जगद्धिते।
अतोऽयं बहुदोषोऽपि धार्यते कर्मभाण्डवत् ।। १८४ ।।

इस शरीर के प्रति आसक्ति छोड़कर परकल्याण के लिए इसका दान करना चाहिए और अनेक दोष होने पर भी कार्य साधन के रूप में धारण कर इसका प्रयोग करना चाहिए।

[आचार्य शान्तिदेव ने शिक्षासमुच्चय में शरीर, धन, तथा पुण्य के दान करने, रक्षा करने, शुद्धि एवं वृद्धि करने की जो शिक्षा दी है उसी के अनुसार उचित समय पर उनका सदुपयोग होना चाहिए। जैसे उचित समय पर शरीर परित्याग करना, महान् परोपकार सिद्ध करने हेतु शरीर की रक्षा करना, रक्षण करते समय आत्म-परिग्रह जैसे दोष से मुक्त होना और उसका पालन-पोषण करना चाहिए। इसी प्रकार धन और पु य के विषय में भी जानना चाहिए।]

तेनालं लोकचरितैः पंडिताननुयाम्यहम् ।
अप्रमादकथां स्मृत्वा स्त्यानमिद्धं निवारयन् ॥ १८५ ॥

अब तक जो बल-आचरण हमने किये उतने से संतुष्ट होकर विद्वानों का अनुसरण और अप्रमाद कथाओं का स्मरण कर निद्रा, स्त्यानमिद्ध आदि समाधि के आवरणों का परित्याग करना चाहिए।

१८५ ख .... ॥*

दुःखों से छुटकारा पाने के लिए हमें महाकरुणामय बोधिसत्त्वों का अनुसरण कर चित्त को वश में रखकर दिनरात निरन्तर अभ्यास करना आवश्यक है।

तस्मादावरणं हन्तुं समाधानं करोम्यहम् ।
विमार्गाच्चित्तमाकृष्य स्वालम्बननिरंतरम् ॥ १८६ ॥

इसलिए निद्रा, मिद्ध आदि ध्यान के पाँच आवरणों का नाश करने के लिए चित्त को असन्मार्ग की कल्पना से मुक्त करके संम्यक् लक्ष्य पर निरन्तर स्थिर रखकर विपश्यना की प्राप्ति के लिए समाधिस्थ होना चाहिए। यहाँ पर 'आवरणों' का अर्थ ज्ञेयावरण तथा क्लेशावरण भी ले सकता है।

॥ ध्यानपारमिता नामक अष्टम परिच्छेद समाप्त ॥

---

* यह श्लोक संस्कृत पाठ में नहीं है।

नवम परिच्छेद

प्रज्ञापारमिता

राग-द्वेष जैसे जो अनेक परित्याज्य दोष हैं, उनके निराकरण के लिए विभिन्न प्रकार के उपाय या प्रति-पक्ष होते हुए भी उनका समूल निराकरण असंभव है जब तक सत्य-ग्रहण का परित्याग नहीं होता क्योंकि समस्त क्लेशों की जड़ सत्य-ग्रहण है, जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से हर एक क्लेश-दोष का या तो हेतु है या प्रत्यय बनकर उसका उत्पाद करता है। सत्य-ग्रहण के समाप्त होने से इन सब दोषों की निवृत्ति संभव है। इसलिए "प्रमाणवार्तिक" में कहा गया है—'मैत्री आदि अविद्या के प्रति-कूल न होने के कारण, महान् दोषों का नाश नहीं कर पाते' अर्थात् मैत्री, करुणा आदि सत्य-ग्रहण के साथ एक लक्ष्यको विषय बनाकर परस्पर प्रतिकूल धारणा वाले न होने से सत्य-ग्रहण पर प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं डालता, अतः आत्म-ग्रहण के प्रतिपक्ष में निरात्मज्ञान का होना आवश्यक है, जिसके लिए निरात्म का अर्थ स्थापित करना चाहिए।

सामान्य तौर पर दार्शनिक दृष्टिकोण से बौद्ध होने या न होने का निर्णय "चार विशुद्ध दर्शन मुद्राओं" से होता है, जो इस प्रकार हैं—जो संस्कृत है वह अनित्य है, जो साश्रव है वह दुःख है, सभी धर्म शून्य एवं नैरात्म्य हैं, और निर्वाण शान्त है। हर एक बौद्ध सिद्धान्तवादी निरात्मता को स्वीकार करता है, परन्तु उस 'निरात्म' के अर्थ का विवेचन करते समय कोई सूक्ष्म अर्थ को लेता है और कोई स्थूल अर्थ को। इसमें स्पष्ट मतान्तर भी होते हैं। माध्यमिक तथा योगाचार दो महायानी सिद्धान्त धर्मनिरात्म सिद्ध

करते हैं और वैभाषिक तथा सौत्रान्तिक ये दोनों धर्मनिरात्म को न मानकर पुद्गल-निरात्म को मानते हैं। हाँ, कुछ विद्वानों की शंका है कि वैभाषिकों का कुछ उपशाखायें धर्मनिरात्म भी स्वीकार करते हैं। धर्मनिरात्म के अर्थ तथा परिभाषा में भी अन्तर है, परन्तु उनमें माध्यमिकों की दृष्टि प्रमुख है। उन माध्यमिकों में भी आचार्य नागार्जुन के अनुवर्त्ती आचार्य बुद्धपालित तथा चन्द्रकीर्ति की परम्परा प्रमुख है। यहाँ बोधिचर्यावतार में भी आचार्य शान्तिदेव ने नागार्जुन, चन्द्रकीर्ति आदि की परम्परा के अनुसार 'माध्यमकावतार' के सिद्धान्त को आधार मानकर निरात्म सिद्ध किया है।

यहाँ पर विवेच्य अविद्या का अर्थ सत्य-परिग्रह है, अतः अविद्या को क्लेश-आवरण मानकर व्याख्या की गयी है, जैसा कि आचार्य चन्द्रकीर्ति का मत है। वैसे भारत में इस विषय पर दो भिन्न चिन्तन धाराएँ हैं। पहली धारा में आचार्य असङ्ग आदि का मत आता है जो वस्तु स्थिति की अज्ञानता को ही अविद्या मानता है और दूसरी धारा आचार्य नागार्जुन आदि की है जो अविद्या का धर्म स्वभावतः असत्य होने पर भी स्वभावतः सत्य होने के विपरीत धारणा मानती है, मिथ्या दृष्टि मानती है। द्वादशाङ्ग प्रतीत्यसमुत्पाद के आदि में अविद्या जो संसार की मूल है वही सत्य-ग्रहण है। इसलिए सर्वज्ञान प्राप्त करने के लिए तो आवश्यक है ही मोक्ष मात्र प्राप्त करने के लिए भी शून्यता का ज्ञान आवश्यक है। यदि इस अविद्या को क्लेश-आवरण मानते हैं तो फिर ज्ञेयावरण की व्याख्या कैसे होगी? इस अविद्या या सत्य-ग्रहण के द्वारा संचित वासना को ज्ञेयावरण मानते हैं। उस ज्ञेयावरण की वासना के निराकरण के लिए अविद्या के निराकरण की स्पष्ट आवश्यकता है। इस प्रकार सर्वज्ञान प्राप्ति में विघ्न डालने वाला ज्ञेयावरण और मोक्ष प्राप्ति में विघ्न डालने वाला क्लेश–आवरण दोनों का प्रतिकारक मात्र शून्यता का ज्ञान या दर्शन है। अतः कहते हैं—

इमं परिकरं सर्वं प्रज्ञार्थं हि मुनिर्जगौ ।
तस्मादुत्पादयेत्प्रज्ञां दुःखनिवृत्तिकांक्षया ॥ १ ॥

जितने भी उपाय तथागत ने बताएँ हैं, वे सबके सब शून्यता-ज्ञान की प्रज्ञा प्राप्ति के साधन हैं। [दूसरे शब्दों में, जितने भी बुद्धवचन हैं प्राणी के कल्याण के लिए है। विनेय-जनों का लक्ष्य निःश्रेयस निर्वाण या अभ्युदय की प्राप्ति है, जैसा कि (आचार्य चोंखापा ने प्रतीत्यसमुत्पादस्तुति में) कहा है, "आपकी सभी देशनायें प्रतीत्यसमुत्पाद के प्रस्थान से ही प्रवृत्त हैं और वे भी निर्वाण प्राप्ति के लिए हैं। ऐसा कोई कार्य नहीं जो शान्ति या निर्वाण देने वाला न हो।" प्रज्ञा भी अनेक प्रकार के उपायों का सहारा लेकर क्लेशावरण तथा ज्ञेयावरण का प्रतिकारक बनकर उनका निराकरण कर सकती है। अतः सभी बुद्ध वचन शून्यता-ज्ञान की प्रज्ञा के विकास के लिए हैं। यहाँ 'परिकरं' का अर्थ इस प्रकार भी ले सकते हैं कि पारमिता की अब तक की क्षमा, शील, समाधि आदि की देशना अन्तिम पारमिता प्रज्ञा की उत्पत्ति के लिए है। इस अर्थ के प्रसंग में हमें इस प्रकार समझना होगा कि सामान्य तौर पर शून्यता का ज्ञान श्रावक तथा प्रत्येकबुद्ध को भी होता है और यह स्पष्ट है कि उसके लिए दान, शील आदि आवश्यक नहीं है अर्थात् क्लेशावरण के प्रतिकार के लिए अन्य पारमिताओं का होना भी आवश्यक नहीं, परन्तु यहाँ पर बोधिचित्त उत्पन्न करके प्राणिमात्र के कल्याण के लिए बुद्धत्व प्राप्त करना हमारा लक्ष्य है, जिसके लिए ज्ञेयावरण का निराकरण आवश्यक है। दान, शील आदि अन्य पारमिताओं का सहारा लेकर ही शून्यता करुणा सारभूत या 'सर्वाकारवरोपेतशून्यता' की ज्ञान प्राप्त होता है। इसलिए स्वयं अपने दुःखों के शमन के लिए और विशेषकर प्राणिमात्र के उपकार के लिए बुद्धत्व चाहने वालों को अपने और दूसरों के दुःखों के शमन के लिए प्रज्ञा उत्पन्न करनी चाहिए। यहाँ प्रज्ञा का अर्थ वस्तु परिस्थिति के ज्ञान से है जिसके लिए दो सत्यों

१६

को जानना आवश्यक है। अतः अगले श्लोक में दो सत्यों का वर्णन आता है—

संवृतिः परमार्थश्च सत्यद्वयमिदं मतम्।
बुद्धेरगोचरस्तत्त्वं बुद्धिः संवृतिरुच्यते॥ २॥

संवृति या व्यवहार सत्य और परमार्थ सत्य ऐसे ज्ञेय वस्तु के दो सत्य हैं। परमार्थ सत्य द्वैताभास प्रपंच-विषयक बुद्धि का विषय नहीं है और जो द्वैताभास प्रपंच-विषयक बुद्धि का विषय है वही संवृति सत्य है। या सरल शब्दों में सूक्ष्म विश्लेषण से सिद्ध होने वाले को परमार्थ सत्य और सामान्य ज्ञान से सिद्ध होने वाले को संवृति सत्य कहते हैं। [दोनों सत्यों को जानना क्यों आवश्यक है ? वह इस प्रकार एक उदाहरण से समझा जा सकता है—जैसे आप किसी व्यक्ति के साथ संपर्क रखकर उसके ज्ञान आदि गुणों का उपयोग करना या सहारा लेना चाहते हैं, परन्तु उससे संबन्ध बढ़ाने से पहले यह भी जानना आवश्यक है कि उस व्यक्ति का कैसा चरित्र है, बाहरी आचरण और आन्तरिक चरित्र में क्या अन्तर है ? उस अन्तर से तात्पर्य उस व्यक्ति के गुण दोष से है, उसे जानकर ही आप उससे लाभ उठा सकते हैं, अपने कार्य-सिद्धि में सहारा ले सकते हैं, उसके साथ यथेच्छा जीवन-निर्वाह कर सकते हैं। उसी प्रकार हमें संसार तथा निर्वाण के दृष्टि गोचर लौकिक धर्मों के साथ संपर्क में रहकर और उनका सहारा लेकर ज्ञान मार्ग प्राप्त करना है, कर्म-फल के सिद्धान्त का पालन करना है, फिर भी उन धर्मों के वास्तविक परिस्थिति की जानकारी होनी आवश्यक है। मात्र वस्तुओं की बाहरी परिस्थिति को वास्तविक स्थिति मानकर चलने से हमें गुमराह होने का खतरा है। वास्तविक स्थिति जानकर, असत्य समझकर, प्रयोग में लाना लाभदायक होगा। इसलिए दो सत्यों को जानना आवश्यक है।]

अब प्रश्न आता है कि क्या ये दोनों सत्य भिन्न स्वभाव के हैं ? स्वभाव

से दोनों सत्य एक हैं, एक ही वस्तु के दो पहलू हैं, फिर भी (व्यतिरेक) पृथक संज्ञा के हैं। अतः प्रज्ञापारमिताहृदयसूत्र में कहा गया है, "रूप शून्य है, शून्यता रूप है, रूप से शून्यता भिन्न नहीं और शून्यता से रूप भिन्न नहीं।" यहां रूप शून्य होने का अर्थ रूप स्तम्भ से रहित है शून्य है, ऐसा नहीं। जो रूप दिखाई दे रहा है वही शून्य है यह अर्थ है। शून्यता भी रूप इसलिए है कि प्रत्येक धर्म प्रतीति से समुत्पन्न है, हर एक चीज बनने या बिगड़ने के लिए हेतु और प्रत्यय की अपेक्षा रखती है। कुछ भी बिना कारण के स्वतन्त्र सिद्ध नहीं होता। यही स्वतन्त्र सिद्ध न होना ही शून्यता है। परन्तु स्वतन्त्र न होने से और हेतु-प्रत्यय की अपेक्षा रखते हुए भी यह रूप दिखाई देता है, अतः शून्यता रूप है। रूप के स्वभाव से असत्यता ही रूप का स्वभाव है, तत्त्व है, इसलिए रूप भी शून्यता से भिन्न नहीं, क्योंकि उसी रूप की परतन्त्रता से वही रूप शून्य सिद्ध होता है; अन्य किसी वस्तु पर रूप की शून्यता सिद्ध होना असंभव है। परतन्त्र और प्रत्यय-निर्भर होने के कारण ही वह रूप परतन्त्रतावश अनेक आकारो में दिखाई देता है। इसलिए शून्यता भी रूप से भिन्न नहीं होती।

या फिर इसकी व्याख्या इस प्रकार करें कि परमार्थ सत्य, द्वैताभास प्रपंच विषयक बुद्धि का विषय नहीं हो सकता, क्योंकि वह बुद्धि संवृति है। संवृति का अर्थ आवरण, व्यवहार आदि होता है, इसलिए यहां यह अर्थ होगा, जैसे "अज्ञान तामसी स्वभाव का आवरण है, अतः संवृति है" वह बुद्धि सत्यग्रहण से प्रत्यक्ष या उसकी वासना से दूषित है। इसलिए परमार्थ सत्य इस सत्यग्रहण विषयक बुद्धि का विषय नहीं बनता। यदि उपर्युक्त, "बुद्धि का विषय नहीं बनता" इसका अर्थ परमार्थ सत्य किसी भी बुद्धि का विषय नहीं होता, ऐसा समझे तो सर्वथा गलत होगा। यह बुद्धि का विषय होना आगे चौथे श्लोक के "बाध्यते धीविशेषेण योगिनोऽप्युत्तरोत्तरैः।" से स्पष्ट है कि योगियों में भी उत्तरोत्तर भूमि के

ज्ञान से निम्नतर भूमि के ज्ञान का निराकरण होता है। अतः पहला बुद्धि का अर्थ द्वैताभास प्रपंचविषयक बुद्धि है और दूसरा बुद्धि का अर्थ शून्यता ज्ञान की सामान्य बुद्धि है।

साधारणतः दो सत्यों की बात अनेक सिद्धान्तों में मिलती है। बौद्ध मत में भी वैभाषिकों से लेकर प्रासंगिक-माध्यमिकों तक में अपने-अपने सिद्धान्त के आधार पर विवेचना आती है। परमार्थ सत्य का विभिन्न प्रसंगों में अनेक अर्थ है, जैसे परमार्थगुरू का अर्थ अन्तिम या श्रेष्ठ गुरू है और शास्त्रों में परमार्थ ज्ञान, परमार्थ-अर्थ तथा परमार्थ-साधन के उल्लेख भी आते हैं। इसलिए परमार्थ का अर्थ भी अपने-अपने प्रसंगानुसार जानना चाहिए। सभी परमार्थ प्रयोगों के अर्थ का एक ही प्रसंग में समझने के प्रयास का मतलब, गलत अर्थ समझना होगा। तन्त्रों में भी अनेक अर्थों में परमार्थ का प्रयोग हुआ है जो पृथक् अर्थ-बोधक है, गुह्यसमाज जैसे अनुत्तर तन्त्र में परमार्थ-आभास्वर कहा गया है जो मुख्यतः विषयिक आभास्वर के अर्थ में है, मन से संबंधित है। ज़ोगछेन परम्परा में आदि-सहज चित्त को परमार्थ चित्त कहा गया है, जो स्वाभाविक अर्थ का है। यहाँ तन्त्र में चित्त का अर्थ साधारण चित्त से भिन्न है। मेरे इस विषय पर कुछ विस्तार से प्रकाश डालने का यह प्रयोजन है कि हमें परमार्थ जैसे एक शब्द का अनेक प्रसंगों में अलग-अलग अर्थ होने के कारण यथाप्रसंग अर्थ समझना चाहिए। विद्वानों के मत या लेखों के यथार्थ बोध के लिए जिस प्रसंग में उस शब्द का प्रयोग हुआ हो उसी प्रसंग में समझने से हमें कम मतभेद दिखाई देगा और यह सही है, वह गलत है, कहने का कम अवकाश होगा जिससे आरोप-प्रत्यारोप कम होंगे। ऐसा होने से सबके प्रति श्रद्धा और विश्वास उत्पन्न होगा और सभी के लक्ष्य में समानता की जानकारी मिलेगी।

तत्र लोको द्विधा दृष्टो योगी प्राकृतकस्तथा।
तत्र प्राकृतको लोको योगिलोकेन बाध्यते ॥ ३ ॥

बाध्यन्ते धीविशेषेण योगिनोऽप्युत्तरोत्तरैः।
दृष्टान्तेनोभयेष्टेन कार्यार्थमविचारतः ॥ ४ ॥

इन दो सत्यों की स्थापना करने वालों में भी दो तरह के लोग हैं। एक ध्यान के द्वारा समाधि से शून्यता के ज्ञान वाले हैं और अपने श्रुतज्ञान के द्वारा शून्यता का अर्थ जानने वाले रहस्यवादी तथा साधारण, अर्थात् वस्तुवादी हैं। उनमें से निम्न सिद्धान्त के मत उत्तर सिद्धान्तवादी माध्यमिक के मत से खण्डित होते हैं। योगियों में भी अधिक अभ्यास के अनुभव वाले उत्तरोत्तर भूमि के योगी के ज्ञान से निम्नतर भूमि के योगी के मत का खण्डन होता है। एक दूसरे के मत का खण्डन दोनो पक्षों द्वारा अभिमत स्वप्न, माया आदि उदाहरणों के द्वारा होता है और अपना मत स्थापित होता है। यद्यपि बुद्धत्व प्राप्ति ही हमारा परम फल है, लोग अविचार पूर्वक (विना परीक्षण ही) अपनी कार्य-सिद्धि में लगे रहते हैं। फल या कार्यार्थ का तात्पर्य बुद्धत्व से है जिसका उल्लेख अनेक बार आगे भी आता है।

लोकेन भावा दृश्यन्ते कल्प्यन्ते चापि तत्त्वतः।
न तु मायावदित्यत्र विवादो योगिलोकयोः ॥ ५ ॥

(जब अन्तिम फल या कार्यार्थ को व्यवहार में दोनों वस्तु स्वीकार करते हैं तो योगी और साधारण लोगों में मतभेद क्यों ?)—साधारण लोग वस्तु की वास्तविकता को स्वीकार करते हैं परन्तु योगी लोग वस्तुओं की वास्तविकता को नहीं मानते और वास्तव में उनको मायामय समझते है। इसी दृष्टिकोण के कारण दोनों में बहस है।

प्रत्यक्षमपि रूपादि प्रसिद्धया न प्रमाणतः।
अशुच्यादिषु शुच्यादिप्रसिद्धिरिव सा मृषा ॥ ६ ॥

रूप आदि जो हमें प्रत्यक्ष लगता है वह लोकप्रवाद के कारण ही वास्तविक लगता है, परन्तु मिथ्या दृष्टि है। कोई भी प्रमाण से सिद्ध नहीं है। जैसे वास्तव में अशुचि शरीर आदि को लोग शुचि मानते हैं, वैसे ही वास्तव में ऐसा न होने पर भी साधारण लोग जैसा दिखाई देता है वैसा ही समझते हैं।

लोकावतारणार्थं हि भावा नाथेन देशिताः।
तत्त्वतः क्षणिका नैते संवृत्या चेद्विरुध्यते ॥ ७ ॥
न दोषो योगिसंवृत्या लोकात् ते तत्त्वदर्शिनः।
अन्यथा लोकबाधा स्याद् अशुचिस्त्रीनिरूपणे ॥ ८ ॥

यदि वस्तुवादी यह तर्क देता है कि भगवान् बुद्ध ने चार आर्य सत्य, अनित्यता, दुःखमयता, शून्यता आदि की देशना की है, तो वास्तव में हुए विना ऐसी व्यवस्था हो नहीं सकती। उसका उत्तर यह है, कि भगवान् ने जगत् को तत्त्वज्ञान में प्रवेश कराने के लिए अनित्यता और क्षणिकता है ऐसा कहा है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वस्तु परमार्थतः या वास्तव में क्षणिक या अनित्य है। फिर दूसरी आशंका यह प्रकट होती है कि व्यवहार में भी लोक-प्रवाद विपरीत हो जायेंगे क्योंकि साधारण लोग वस्तु की क्षणिकता को नहीं जानते। परन्तु योगियों के लिए ऐसा कोई दोष नहीं। शुचि, सुखी, नित्य आदि की धारणा से मुक्त अशुचि, अनित्य आदि का ज्ञान साधारण लोगों के लिए परमार्थ की तरह है या लोक-प्रवाद के आधार पर। यदि हर एक लोक-प्रवाद से दोष सिद्ध होता है तो स्त्री आदि अशुचि को शुचि मानना होगा क्योंकि लोक व्यवहार में स्त्री को शुचि मानते हैं।

मायोपमाज्जिनात्पुण्यं सद्भावेऽपि कथं यथा ।
यदि मायोपमः सत्त्वः किं पुनर्जायते मृतः ॥ ९ ॥
यावत्प्रत्ययसामग्री तावन्मायापि वर्तते ।
दीर्घसंतानमात्रेण कथं सत्त्वोऽस्ति सत्यतः ॥ १० ॥

मायामय असत्य होने पर भी, बुद्ध पूजा आदि पुण्य संचय से मायामय पुण्य कर्म हो सकता है, जैसे तुम स्वयं वस्तवादी सत्य लक्ष्य के प्रतिकार से सत्य पुण्य का प्राप्त होना मानते हो। (प्रश्न)—यदि प्राणी मायामय है तो मृत्यु के बाद नरक आदि जन्म कैसे होता है? (उत्तर) जैसे माया भी अपने कारण-सामग्री के रहने पर ही माया के हाथी-घोड़े भी रहते हैं, उसी प्रकार जब तक कारण रहेगा पुनर्जन्म भी होते रहेंगे। एक जीव के चिरकाल तक और माया के बहुत थोड़े समय तक रहने के कारण एक का सत्य या वास्तविक और दूसरे के असत्य होने का तर्क नहीं दे सकते।

मायापुरुषघातादौ चित्ताभावान्न पापकम् ।
चित्तमायासमेते तु पापपुण्यसमुद्भवः ॥ ११ ॥

(प्रश्न) यदि सर्व जगत् मायामय है तो मनुष्य की हत्या करने में पाप क्यों लगता है? (उत्तर) माया पुरुष अचेतन होने के कारण उसकी हत्या से पाप नहीं लगता, परन्तु लौकिक-पुरुष माया रूपी चित्त से युक्त है, चेतन है। इसलिए उस के साथ आचरण से पाप या पुण्य होता है।

मंत्रादीनामसामर्थ्यान्न मायाचित्तसंभवः ।
सापि नानाविधा माया नानाप्रत्ययसंभवा ॥ १२ ॥
नैकस्य सर्वसामर्थ्यं प्रत्ययस्यास्ति कुत्र चित्

मन्त्र या द्रव्य में चित्त उत्पन्न करने की शक्ति न होने के कारण माया निर्मित हाथी-घोड़ों में मायामय-चित्त नहीं हो सकता परन्तु विभिन्न प्रकार

के मायामय धर्म नानाप्रकार के प्रत्यय पर निर्भर हैं। ऐसा कोई मायारुपी शक्तिशाली प्रत्यय नहीं होता जिससे हर एक धर्म उत्पन्न हो।

निर्वृतः परमार्थेन संवृत्या यदि संसरेत्॥ १३॥
बुद्धोऽपि संसरेदेवं ततः किं बोधिचर्यया।
प्रत्ययानामनुच्छेदे मायाप्युच्छिद्यते न हि॥ १४॥
प्रत्ययानां तु विच्छेदात् संवृत्यापि न संभवः।

यदि माध्यमिको के मतानुसार परमार्थ में न संसार है और न निर्वाण है, परन्तु स्वभाव से शून्य होना ही स्वाभाविक निर्वाण शक्ति है और स्वभाव से शून्य होने पर भी संसार में जन्म-मृत्यु का चक्र चलता रहता है, तो निर्वाण और संसार स्वभाव से एक होंगे। अतः बोधिसत्त्व को बुद्धत्व प्राप्ति के लिए बोधिचित्त के अभ्यास से क्या लाभ? (समाधान)—जब तक प्रत्ययों का उच्छेद नहीं होता माया भी समाप्त नहीं होती। स्वभाव से शून्य होने पर भी प्राणियों में बुद्धत्व प्राप्ति का प्रत्यय 'तथागत-गर्भ' निहित है और इन आकस्मिक दोषों की शुद्धि से निर्दोष स्वभाव प्रकट होने पर निर्वाण प्राप्त होता है। प्रत्ययों का उच्छेद तोने पर संवृति से भी उत्पत्ति नहीं हो सकती।

[अब यहाँ से विज्ञानवादियों के आक्षेपों का समाधान किया जा रहा है। विज्ञानवादियों का मत है कि स्वभाव-शून्य होने का अर्थ सर्वथा शून्य है। वे तीन स्वभावों* के आधार पर सूत्रों का अर्थ लेते हैं। जैसे 'प्रज्ञापारमिताहृदयसूत्र' में रूप से सर्वज्ञता तक शून्य होने का अर्थ भी उन तीन स्वभावों के आधार पर ही लिया जाता है उनके मत में बाह्य गृह्याकार और आन्तर ग्राहकार दोनों चित्त स्वरूप हैं। बाह्यार्थ न मानकर आन्तरिक

* १. परतन्त्र २. परिनिष्पन्न ३. परिकल्पित।

की वासना के प्रकाश में आने से ही नानाप्रकार के धर्म उत्पन्न होते हैं। वे मात्र विज्ञान को सत्य मानते हैं। अतः इस दृष्टिकोण से विज्ञानवादी माध्यमिक को उच्छेदान्त पतित मानकर उनके मत का खण्डन किया जा रहा है।]—

यदा न भ्रान्तिरप्यस्ति माया केनोपलभ्यते ।। १५ ।।
यदा मायैव ते नास्ति तदा किमुपलभ्यते ।
चित्तस्यैव स आकारो यद्यप्यन्योऽस्ति तत्त्वतः ।। १६ ।।

विज्ञानवादी आक्षेप करता है, "यदि भ्रान्ति युक्त चित्त भी स्वभावतः नहीं होता तो सब धर्मों के मायामय होने का बोध कराने वाली बुद्धि कैसे ? (माध्यमिकों का समाधान है)—तुम्हारे मत में तो मायामय धर्म की विवेचना हो ही नहीं सकती, क्योंकि तुम स्वभावतः न होने का अर्थ सर्वथा न होना मानते हो। इसलिए तुम्हारे मत में भी माया बोधक बुद्धि नहीं हो सकती। (विज्ञानवादी)—रूप आदि बाह्य वस्तुओं का जो आकार दिखाई देता है वही उनका स्वभाव नही होता, उनका स्वभाव चित्त का स्वभाव ही है, उससे भिन्न नहीं।

चित्तमेव यदा माया तदा किं केन दृश्यते ।
उक्तं हि लोकनाथेन चित्तं चित्तं न पश्यति ।। १७ ।।
न च्छिनत्ति यथात्मानमसिधारा तथा मनः ।

(माध्यमिकों का आक्षेप)—बाह्यार्थ न मानकर चित्त को ही मायामय माना जाएँ तो वह कौन-सा प्रमाण-ज्ञान है जो विषय हीन बुद्धि को सिद्ध करता है ? (विज्ञानवादी का समाधान) ऐसा कोई बात नहीं है। एक जो चित्त का अन्तर-मुखी भाग है, उसे देख सकता है, अर्थात् इसमें दृश्य और द्रष्टा की व्यवस्था होती है। (यह मत आगम विरुद्ध है, ऐसा माध्यमिकों का आक्षेप है)—यह आगम के भी प्रतिकूल है क्योंकि भगवान्

बुद्ध ने कहा है कि उस चित्त से उसी चित्त को नहीं देख सकते, जैसे उसी तलवार की धार से वही तलवार नहीं काटी जा सकती।

आत्मभात्रं यथा दीपः संप्रकाशयतीति चेत् ॥ १८ ॥
नैव प्रकाश्यते दीपो यस्मान्न तमसावृतः।
न हि स्फटिकवन्नीलं नीलत्वेऽन्यमपेक्षते ॥ १९ ॥
तथा किंचित्परापेक्षमनपेक्षं च दृश्यते।

(इसके समाधान हेतु विज्ञानवादी) कहते हैं कि जैसे दीप स्व एवं पर सभी पदार्थों को प्रकाशित करता है, वैसे ही यह चित्त अपने आपको देख सकता है। (फिर माध्यमिकों का आक्षेप)—तुम्हारा उदाहरण ही गलत है, क्योंकि दीप अंधकार में पड़ी वस्तु को प्रकाशित करता है परन्तु स्वयं को प्रकाशित नहीं करता क्योंकि दीप स्वयं प्रकाशमान है। यदि प्रकाशमान को भी प्रकाश से प्रकाशित करना पड़े तो अंधकार का कभी निराकरण हो ही नहीं सकता। फिर आगे विज्ञानवादी कहते हैं—

अनीलत्वे न तन्नीलं [कुर्यादात्मानमात्मना] ॥ २० ॥

कि स्फटिक को नीला दिखाने के लिए दूसरे नीले पदार्थ का होना आवश्यक है, परन्त नीला अपनी नीलिमा को दिखाने के लिए निरक्षेप है, उसी प्रकार विज्ञान अपने आप को दिखाने में सापेक्ष तथा निरक्षेप दो अवस्थाएँ स्वीकार कर सकता है।

[संक्षेप में इस प्रकार के तर्क-वितर्क का मूल कारण यह है कि किसी वस्तु का होना या न होना, उसे ग्रहण करने वाले प्रमाण के होने या न होने पर निर्भर है। रूप आदि धर्म हैं क्योंकि उनको जानने वाला प्रमाण-विज्ञान है, अर्थात् रूप आदि की स्थापना उसको ग्रहण करने वाले ज्ञान या प्रमाण से होती है। अब यह प्रश्न आता है कि रूप आदि को जानने

वाले उस प्रमाण या विज्ञान को कैसे सिद्ध किया जाय? माध्यमिक मत में विषय से विज्ञान और विज्ञान से विषय की स्थापना होती है। दोनों के प्रतीत्य-समुत्पन्न होने के कारण दोनों की स्थापना में कोई कठिनाई नहीं होती। एक दूसरे पर निर्भर होने के कारण स्वभाव शून्यता सिद्ध है। विज्ञानवादी यह स्वीकार नहीं करते, फिर भी रूप आदि विषय की स्थापना प्रमाण या विज्ञान से हो सकती है, परन्तु उस विज्ञान को विषय द्वारा सिद्ध नहीं कर सकते क्योंकि विज्ञानवादी बाह्य वस्तु को नहीं मानते। अतः उन्हें स्वसंवेदन स्वीकार करना पड़ता है, जिसके विना विज्ञान की स्थापना नहीं होती। इसलिए यहाँ स्वसंवेदन का आक्षेप होता है और दोनों मतों के बीच वाद-विवाद होता है।]

(माध्यमिक) स्फटिक जैसे पदार्थ को नीला दिखाने के लिए नील कारण बन सकता है परन्तु नील अपने आप नील में परिणत करने का कारण नहीं बन सकता। ऐसा होने से कर्ता और कर्म एक होने का दोष होगा।

> नीलमेव हि को नीलं [नीलहेतुर्यथेक्ष्यते]।
> ....। २१ ॥*
>
> दीपः प्रकाशत इति ज्ञात्वा ज्ञानेन कथ्यते।
> बुद्धिः प्रकाशत इति ज्ञात्वेदं केन कथ्यते ॥ २२ ॥
> प्रकाशा वाप्रकाशा वा यदा दृष्टा न केनचित्।
> वन्ध्यादुहितृलीलेव कथ्यमानापि सा मुधा ॥ २३ ॥

यदि विज्ञानवादी ऐसा माने कि दीप स्वयं अपने को प्रकाशित करता है और इसकी जानकारी विज्ञान से होती है इस पर (माध्यमिक) का कथन है कि चित्त के प्रकाशमान होने का ज्ञान किससे होता है? कौन सा

---

* संस्कृत टीका में आंशिक व्याख्या मिलता है परन्तु पूरा श्लोक न किसी भी संस्करण में मिलता है, न तिब्बती अनुवाद में।

दूसरा चित्त है? अन्य द्वारा जानने से तो अनन्त होगा और किसी के द्वारा नहीं जाना जाता है तो चित्त के गुणों की विवेचना करना वन्ध्या-पुत्री के सौन्दर्य की चर्चा करने के समान ही निष्प्रयोजन होगा।

यदि नास्ति स्वसंवित्तिर्विज्ञानं स्मर्यते कथम्।
अन्यानुभूते संबन्धात् स्मृतिराखुविषं यथा॥ २४॥

(विज्ञानवादी) इस प्रकार स्वसंवेदन सिद्ध करता है कि यदि कल-परसों किसी रूप को देखकर आज स्मरण आता है, उस रूप को ग्रहण करने वाला विज्ञान रूप का अनुभव करता है और कल मैंने रूप देखता है, ऐसा उस रूप-विषय का स्मरण होता है। दूसरे के अनुभव से स्मरण नहीं हो सकता, अतः स्वसंवेदन के कारण ही स्मरण होता है। माध्यमिक आक्षेप करता है कि रूप आदि देखने का तात्कालिक अनुभव होना आवश्यक नहीं है और स्वसंवेदन तथा परसंवेदन का होना भी जरूरी नहीं। इनके विना विषय-विषयी सम्बन्ध से स्मरण होता है, जैसे मूषिक-विष के शरीर में प्रवेश के समय विष का अनुभव न होने पर भी बाद में स्मरण होता है। [इसे अपने अनुभव से जान सकते हैं कि कल आपको मच्छर काटा और आज आपके शरीर पर सूजन है। कल मच्छर काटने का अनुभव हुआ, परन्तु विष प्रवेश का अनुभव नहीं हुआ। फिर भी आज विष के कारण सूजन देखने पर यह स्मरण आता है कि हाँ, कल मुझे मच्छर जब काटा उस समय मेरे शरीर में जहर प्रवेश के कारण यह सूजन हुआ है, ऐसा स्मरण होता है।]

प्रत्ययान्तरयुक्तस्य दर्शनात्स्वं प्रकाशते।
सिद्धाञ्जनविधेर्दृष्टो घटो नैवाञ्जनं भवेत्॥ २५॥

विज्ञानवादी फिर यह तर्क देता है कि शमथ प्राप्त होने पर व्यावस्थान आदि अन्य प्रत्ययों के कारण, देव लोक दूसरों के चित्त और सुदूर देश-

कालादि भी देख सकना संभव है, तो चित्त का अपने आपको देख सकना अवश्य संभव है। अतः इस चित्त को स्वसंवेदन की संज्ञा देना ही चाहिए।

(माध्यमिकों का समाधान)—यह कोई आश्चर्य की बात नहीं, मंत्र तथा द्रव्यों के योग से बनाये गये ओषधि (सिद्धांजन) आँख पर लगाने से दूर के घट और पृथ्वी के अन्दर का खजाना आदि दिखाई पड़ सकता है, परन्तु सिद्धांजन स्वयं नहीं देख सकता। इसी प्रकार विज्ञान अपने आप को नहीं देख सकता।

(इस प्रकार स्वसंवेदन न होने पर परसंवेदन का भी न होने की मत का प्रतिषेध होने पर भी जो लोक-व्यवहार में देखा, सुना या समझा जाता है उसका निषेध नहीं होता।)

यथा दृष्टं श्रुतं ज्ञातं नैवेह प्रतिषिध्यते।
सत्यतः कल्पनात्वत्र दुःखहेतुर्निवार्यते॥ २६॥

यहाँ लोक-व्यवहार में जो देखा, सुना या समझा जाता है उसका निषेध हम नहीं करते परन्तु उनके प्रति सत्य की कल्पना और ऐसी दृष्टि को जन्म देने वाले स्वसंवेदन आदि का प्रतिषेध करते हैं, क्योंकि यह कल्पना दुःखों का कारण बनती है।

चित्तादन्या न माया चेन्नाप्यनन्येति कल्प्यते।
वस्तु चेत् सा कथं नान्याऽनन्या चेन्नास्ति वस्तुतः॥ २७॥
असत्यपि यथा माया दृश्या द्रष्टृ तथा मनः।

ग्राह्य बाह्यार्थ, माया आदि चित्त से अभिन्न हैं। चित्त के आत्म-स्वरूप हैं, ऐसा माना जाय तो रूप आदि बाह्यार्थ सत्य होने से जैसा दिखाई देता है वैसे ही होने चाहिए। यदि होते तो चित्त से भिन्न होना

चाहिए और नाना प्रकार के आकार को चित्त का स्वरूप माना जाय तो असत्य होने के कारण वस्तु हो ही नहीं सकती। जैसी दिखाई देती है, वैसी कोई वस्तु नहीं हो सकती। (इसके उत्तर में विज्ञानवादी कहते हैं)—जैसे मायामय हाथी-घोड़े वास्तव में हाथी-घोड़े न होते हुए भी अपनी जगह हाथी-घोड़ा होते हैं, उसी प्रकार रूप आदि बाह्य ग्राह्य वस्तुयें भी बाह्यार्थसत् न होने पर भी देखे जा सकते हैं और विषय बनते हैं। (माध्यमिक)—यदि ऐसा होता तो इसी प्रकार के तर्क से चित्त, जिसे तुम सत्य मानते हो, उसे भी असत्य सिद्ध कर सकते क्योंकि वास्तव में न होते हुए भी ग्राहक चित्त विषयों की विवेचना कर सकता है। जैसा दृश्य है वैसी दृष्टि भी हैं।

वस्त्वाश्रयश्चेत् संसारः सोऽन्यथाकाशवद् भवेत् ॥ २८ ॥
वस्त्वाश्रयेणाभावस्य क्रियावत्त्वं कथं भवेत् ।
असत्सहायमेकं हि चित्तमापद्यते तव ॥ २९ ॥
ग्राह्यमुक्तं यदा चित्तं तदा सर्वे तथागताः ।
एवं हि को गुणो लब्धश्चित्तमात्रेऽपि कल्पिते ॥ ३० ॥

विज्ञानवादी कहता है, संसार के हर एक असत्य और कल्पित वस्तु का आधार सत्य होना आवश्यक है, नहीं तो सब आकाश के समान शून्य होगा और संसार या मोक्ष जैसी व्यवस्था ही नहीं बन सकेगी। यदि ऐसा है तो फिर यह अर्थ हुआ कि संसार का आधार चित्त है, जो सत्य है, और सत्य में कोई विकार नहीं होता, फिर संसार और मोक्ष आदि परिवर्तन असंभव है।

यहीं नहीं, विज्ञानवादियों के मत स्वीकार करने में और भी विसंगतियाँ हैं। जैसे मात्र चित्तको ग्राह्य-ग्राहक आदि मिथ्या दृष्टि या दोष से मुक्त माना जाय तो प्रत्येक जीवधारी अपने आप में तथागत हो जायेगा। इस-

लिए बुद्धत्व प्राप्त के लिए (तुम्हारे मत के अनुसार) विज्ञप्ति मात्रता की भावना आदि करना निरर्थक होगी।

मायोपमत्वेऽपि ज्ञाते कथं क्लेशो निवर्तते।
यदा मायास्त्रियां रागस्तत्कर्तुरपि जायते ।। ३१ ।।
अप्रहीणा हि तत्कर्तुर्ज्ञेयसंक्लेशवासना।
तद्दृष्टिकाले तस्यातो दुर्बला शून्यवासना ।। ३२ ।।

(वस्तुवादी का आक्षेप)—विषयों को मायामय जानने पर भी क्लेश की निवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि हम देखते हैं कि मायास्त्री के रूप पर स्वयं मायाकार को भी कभी राग उत्पन्न होता है। (इसका उत्तर माध्यमिक इस प्रकार देते हैं)—उस मायास्त्री का निर्माता न ज्ञेय-असत्यता को जानता है और न विशेषकर उस मायास्त्री की असत्यता को ही जानता। वह क्लेश-वासना से युक्त है, इसलिए उसे देखकर राग उत्पन्न होता है। उस मायास्त्री के स्त्री-अर्थ से शून्य होने का अर्थ सर्व धर्म शून्य अर्थ की शून्यता नहीं है, इसलिए ऐसी शून्यता-भावना प्रबल नहीं होती, मायास्त्री की सत्य-धारणा को कम नहीं कर सकती।

[इस प्रकार के उच्च ज्ञान के लिए प्रज्ञा के साथ-साथ पुण्य-संचय के उपाय का भी होना आवश्यक है, जिसके लिए हिंसा, चोरी, व्यभिचार जैसे कायिक अकुशल कर्म, मिथ्याभाषण, चुगली, कटुभाषण जैसे वाचिक अकुशल और लोभ, प्रतिहिंसा, और मिथ्या धारणा आदि चैत्तिक अकुशल कर्मों का त्याग होना चाहिए। एक आवश्यक बात यह भी कह दूं कि हर प्राणी को अपनी जान प्रिय होती है, इसलिए प्राणिवध नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार कुछ इलाकों में देवी-देवताओं को पशु बलि दी जाती है। बुद्ध के अनुयायी को ऐसा हिंसक कार्य नहीं करना चाहिए। पशु बलिदान करने से कुछ लाभ नहीं। अतः भविष्य में कोई बलि न चढ़ायें।

शराब और छांग जैसे मद्यसार का सेवन भी न करें तो अच्छा है। स्वयं भगवान् बुद्ध ने कहा है, "मुझे अपना शास्ता मानने वाले लोग तिनके पर जमी बूंन्द की मात्रा के भी मद्यसार का सेवन न करें।" यदि आप शराब या छांग के आदी है और उसे छोड़ने में असमर्थ हैं तो भी इसकी मात्रा कुछ कम करें, जरूरत से ज्यादा न पियें क्योंकि मद्य के नशे में आकर मनुष्य हर प्रकार के अकुशल कर्म तथा दुर्राचरण करते हैं।

अब प्रज्ञा पक्ष में यह प्रश्न उठता है कि प्रज्ञा का विषय यह शून्यता क्या है? शून्यता शब्द का अर्थ किसी स्थान पर घट नहीं है, वह घट से रहित है, शून्य है, ऐसा नहीं है। शून्यता का अर्थ यह है कि हमें दैनिक जीवन के व्यवहार में आने वाली देखी और सुनी वस्तुओं के वास्तविक परिस्थिति को पहचानना चाहिए। हर वस्तु अनेक प्रत्ययों पर निर्भर है। वह अन्य कारणों से बनती बिगड़ती है, वह परतन्त्र है। स्वतन्त्र रूप से कोई भी वस्तु सिद्ध नहीं होती। यही स्वतन्त्र रूप से न सिद्ध होना या दूसरे शब्दों में परतन्त्र स्वभावता ही शून्यता का अर्थ है। इस नियम से कोई भी वस्तु परे नहीं हो सकती।

अभ्यास करते समय किस प्रकार चिन्तन होना चाहिए जिससे शून्यता का सही ज्ञान हो? हम हर एक वस्तु में विभिन्न प्रकार के परिवर्तन देखते हैं, जिससे यह ज्ञात होता है कि हर वस्तु अनेक कारणों पर आश्रित है, दूसरे पर निर्भर है। अन्य प्रत्ययों पर निर्भर होने का यह अर्थ हुआ कि वह स्वतन्त्र नहीं है। भगवान् बुद्ध ने भी कहा है कि जो प्रत्यय से उत्पन्न होता है, वह उत्पन्न नहीं होता और उसके लिए उत्पत्ति-स्वभाव नहीं होती, अर्थात् जो कारणवश उत्पन्न होता है उसी की स्वतन्त्र या स्वाभाविक उत्पत्ति नहीं होती। आगे कहा है कि जो प्रत्यय पर निर्भर है वह शून्य है। इस प्रकार से शून्यता के ज्ञान से मिथ्या धारणाओं का निवारण होता है, जिससे निर्वाण प्राप्ति की आशा कर सकते हैं। अतः कहा गया

है—"जो शून्यता को जानता है, वह अप्रमाद का पालन करता है।" इसलिए अब आगे शून्यता के अर्थ का विस्तारपूर्वक वर्णन आता है।]—

आठवाँ दिन

(कल हम लोगों ने यह देखा कि मायास्त्री, स्त्री से शून्य होने के ज्ञान से मायास्त्री की सत्य-धारणा का निषेध नहीं होता, इसलिए मायास्त्री निर्माता को भी उस मायास्त्री पर राग उत्पन्न होता है। ऐसे शून्यता का ज्ञान कम प्रबल होता है।)—

शून्यतावासनाधानाद्धीयते भाववासना।
किंचिन्नास्तीति चाभ्यासात्सापि पश्चात्प्रहीयते ॥ ३३ ॥

परन्तु जब प्रतीत्यसमुत्पाद या दूसरे पर निर्भरता के कारण रूप से सर्वज्ञता तक के सारे धर्मों के स्वभाव एवं स्वतन्त्रता से शून्य होने के भाव के निरन्तर अभ्यास से हर एक धर्म की सत्य-वासना तक निवृत्त हो जाती है और रूप से सर्वज्ञता तक के किसी भी धर्म के स्वतन्त्रतः या स्वभावतः से किञ्चित् भी सिद्ध न होने की भावना के प्रभाव से शून्यता के प्रति सत्य-धारणा को भी क्रमशः त्याग सकते हैं, जैसे शून्यता-शूयता, परमार्थ-शून्यता कही गई है।

यदा न लभ्यते भावो यो नास्तीति प्रकल्प्यते।
तदा निराश्रयो भावः कथं तिष्ठेन्मतेः पुरः ॥ ३४ ॥

इस प्रकार जब कोई भी कल्पित वस्तु नहीं दिखाई देती, तो विना उस आश्रय की कल्पित सत्य-धारणा के कोई भी उदाहरण उस निःस्वभाव तथा शून्यता ज्ञान वाले मति के सामने टिक नहीं सकता।

यदा न भावो नाभावो मतेः संतिष्ठते पुरः।
तदान्यगत्याभावेन निरालम्बा प्रशाम्यति ॥ ३५ ॥

निरन्तर शून्यता की भावना से जब शून्यता ज्ञान के द्वारा बुद्धि विषयक भाव या अभाव कोई भी भाव सत्य नहीं रहता तो विषय-विषयी की भावना भी नष्ट होने से किसी भी विषय के सामने प्रकट न होने की दशा में सब कुछ परम-शांत हो जाता है।

चिन्तामणिः कल्पतरुर्यथेच्छापरिपूरणः।
विनेयप्रणिधानाभ्यां जिनबिम्बं तथेक्ष्यते ॥ ३६ ॥

(अब यह प्रश्न आता है कि यदि उस साधक ने पहले पहल प्राणि-कल्याण के लिए बोधिचित्त उत्पन्न किया, पर शून्यता ज्ञान के बाद जब कोई अभिलाषा ही नहीं रही तो कैसे परोपकार करेगा ? इसका समाधान इस प्रकार है।)—अपने प्रणिधान चित्तोत्पत्ति, प्रज्ञा के अभ्यास आदि के बल से किसी बुद्ध का निष्प्रपञ्च धर्मकाय स्वभाव से अचल होते हुए भी विनेयजनों की इच्छा तथा आवश्यकतानुसार उपकार हेतु अनेक रूपों में प्रकट होता है। जैसे चिन्तामणि और कल्पतरु मनोरथ पूरा करते हैं वैसे ही विनयजनों के भाग्य तथा स्वयं अपने पूर्वकाल के प्रणिधान आदि के प्रभाव से अनायास बुद्ध-काया प्रकट होती है। [बुद्ध-काया के परतन्त्र होने या न होने में मतभेद अवश्य है, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि जो जिसकी जैसी मनः स्थिति होती है उसके अनुकूल ही उसकी अभिव्यक्ति होती है, न कि हर एक के सामने एक ही प्रकार के साँचे की काया।

यथा गारुडिकः स्तंभं साधयित्वा विनश्यति।
स तस्मिंश्चिरनष्टेऽपि विषादीनुपशाम्यति ॥ ३७ ॥
बोधिचर्यानुरूप्येण जिनस्तंभोऽपि साधितः।
करोति सर्वकार्याणि बोधिसत्त्वेऽपि निर्वृते ॥ ३८ ॥

जैसे किसी समय शंकु नामक ब्राह्मण ने विष-शमन के लिए मंत्रों के द्वारा गरुड़ का स्तंभ सिद्ध किया और उसके मरने के चिरकाल बाद भी वह स्तंभ विष का शमन करता रहा। उसी प्रकार बोधिचर्या के अनुरूप 'जिनस्तंभ' सिद्ध होने पर बोधिसत्व निर्वाण प्राप्त हो जाने के पश्चात् अचल रहने पर भी प्राणिहित करते रहते हैं।

अचित्तके कृता पूजा कथं फलतीव भवेत्।
तुल्यैव पठ्यते यस्मात् तिष्ठतो निर्वृतस्य च ॥ ३९ ॥

(किसी श्रावक का आक्षेप)—जब बुद्ध को कल्पना से मुक्त होने के कारण अपने प्रति की गयी बुद्ध-पूजा की स्वीकृति या अस्वीकृति नहीं होती तो अचेतन के समान बुद्ध की पूजा से कैसे पुण्य-फल प्राप्त हो सकता है ? (माध्यमिकों का समाधान है कि) जीवित अवस्था की तथा परिनिर्वाण के बाद की अस्थि आदि की पूजा दोनों समान ही हैं, ऐसा 'मैत्रेयमहासिंहनादसूत्र' आदि में वर्णित है।

आगमाच्च फलं तत्र संवृत्या तत्त्वतोऽपि वा।
सत्यबुद्धे कृता पूजा सफलेति कथं यथा ॥ ४० ॥

मेरे मत से बुद्ध को संवृतसत्य मानकर या तुम वस्तुवादियों के मतानुसार बुद्ध को परमार्थसत्य मानकर जैसा भी हो, बुद्ध-पूजा से पुण्य फल प्राप्त होना आगम सिद्ध है, जैसे तुम लोग परमार्थ-बुद्ध की पूजा से परमार्थ-पुण्य को प्राप्त होने का विश्वास रखते हो, वैसे ही व्यवहार-सत्य मानकर पूजा करने से व्यावहारिक पुण्य प्राप्त होता है।

सत्यदर्शनतो मुक्तिः शून्यतादर्शनेन किम्।
न विनानेन मार्गेण बोधिरित्यागमो यतः ॥ ४१ ॥

चार आर्य सत्य के ज्ञान से मुक्ति प्राप्त होती है। शून्यता के ज्ञान की क्या आवश्यकता है ? इसके उत्तर में माध्यमिक कहते हैं कि आप का मत आगम-विरुद्ध है क्योंकि प्रज्ञापारमितासूत्र में, "जो वस्तु-सत् की धारणा रखता है उसे मोक्ष का अवसर नहीं" ऐसा कहा गया है। इसके अतिरिक्त श्रावक, प्रत्येक-बुद्ध तथा बोधिसत्त्व सभी को इस मार्ग की उत्पत्ति से अपनी-अपनी 'बोधि' प्राप्त होती है, ऐसा भी कहा गया है। इसलिए शून्यता का ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है, जिसके विना 'बोधि' प्राप्त नहीं हो सकती।

नन्वसिद्धं महायानं कथं सिद्धस्त्वदागमः।
यस्मादुभयसिद्धोऽसौ न सिद्धोऽसो तवादितः ॥ ४२ ॥
यत्प्रत्यया च तत्रास्था महायानेऽपि तां कुरु।
अन्योभयेष्टसत्यत्वे वेदादेरपि सत्यता ॥ ४३ ॥

(वस्तुवादी)—यह महायान आगम है। इसे हम प्रमाण नहीं मानते। (माध्यमिक)—यदि महायान सूत्रों को प्रमाण नहीं मानते तो आपका (हीनयान) आगम प्रमाणभूत कैसे हुआ ? (वस्तुवादी) हीनयान का आगम हम दोनों समान रूप से प्रमाण स्वीकार करते हैं, परन्तु मैं महायान आगम को प्रमाण स्वीकार नहीं करता हूँ। अतः यह स्वीकार्य नहीं है। (माध्यमिक)—तुम्हारे लिए हीनयान आगम जन्मजात सिद्ध नहीं था। क्रमशः अध्ययन-अध्यापन आदि के कारणवश तुमने इसे प्रमाण स्वीकार किया, और जिन कारणों से उसे प्रमाण माना है उन्हीं कारणों से महायान आगम को भी प्रमाण स्वीकार करना चाहिए। यदि हीनयान आगम को हम दोनों मानने से बहुमत समर्थन प्राप्त होने का तर्क दिया जा सकता है, फिर तो वेद आदि को भी प्रमाण मानना होगा।

सविवादं महायानमिति चेदागमं त्यज।
तीर्थिकैः सविवादत्वात्स्वैः परैश्चागमान्तरम् ॥ ४४ ॥

यदि महायान विवादग्रस्त है, इसलिए प्रमाण न होने का तर्क देते हैं, तो यह भी युक्तिसंगत नहीं, क्योंकि हीनयान आगम तीर्थिकों के साथ और यों भी अनेक निकायों में विवाद ग्रस्त है, अतः इसे भी प्रमाण नहीं माना जा सकता। [बुस्तोन टीका में "यत सूत्रेऽवतरेद् वाक्यं" आदि तीन श्लोकों को यहाँ लिया गया है जो विषय प्रसंग की दृष्टि से उचित लगते हैं, परन्तु पंजिका में सिद्धान्त के प्रति आक्षेप होने के कारण इनके शान्तिदेव की रचना होने में संदेह प्रकट किया गया है।]

शासनं भिक्षुतामूलं भिक्षुतैव च दुःस्थिता।
सावलम्बनचित्तानां निर्वाणमपि दुःस्थितम् ॥ ४५ ॥

यदि शून्यता को न माने तो अर्हत् भिक्षु* जो बुद्ध शासन के मूल बताये गये है, हो नहीं सकते और इसी प्रकार कोई भी पुद्गल वस्तु सत्य की धारणा रखते हुए कभी निर्वाण प्राप्त नहीं करेगी। इसलिए निर्वाण प्राप्त होना भी असंभव होगा।

क्लेशप्रहाणान्मुक्तिश्चेत् तदनन्तरमस्तु सा।
दृष्टं च तेषु सामर्थ्यं निष्क्लेशस्यापि कर्मणः ॥ ४६ ॥

(परन्तु वस्तुवादी कहते हैं)—चार आर्य सत्य के अनित्यतादि सोलह गुणों के ज्ञान और उनकी भावना के विकास से पुद्गल-आत्मा से प्रेरित क्लेश समाप्त कर अर्हत् बना जा सकता है। (माध्यमिकों का समाधान) यदि अभिधर्म में वर्णित सक्रिय क्लेशों के शमन से अर्हत्-पद प्राप्त होता, तो भावना-मार्ग की वज्रोपम–समापत्ति के तुरन्त बाद अर्हत् पद

* ऽजोरछोस्–केलसङ्ग डिनग्यन में शून्यता के ज्ञानी को भिक्षु कहा गया है।

प्राप्त होना चाहिए। परन्तु अभिधर्म में वर्णित सक्रिय क्लेश न होने पर भी सत्य-परिग्रहण के कारण कर्म का फल भोगना पड़ता हैं, जो न्याय और आगम से सिद्ध होता है।

तृष्णा तावदुपादानं नास्ति चेत्संप्रधार्यते।
किमक्लिष्टापि तृष्णैषां नास्ति संमोहवत् सती।। ४७।।

(वस्तुवादी)—उन अर्हतों* में क्लेश उत्पन्न नहीं होता क्योंकि वे तृष्णा से रहित हैं। (माध्यिमिक) ऐसा नहीं हो सकता। उन अर्हतों में अभिधर्म में बताये स्थूल क्लेश न रहने पर भी सूक्ष्म क्लेश रहते हैं जैसे कि अविद्या।

वेदनाप्रत्यया तृष्णा वेदनषां च विद्यते।
सालम्बनेन चित्तेन स्थातव्यं यत्र तत्र वा।। ४८।।

यही नहीं, उन अर्हतों में सत्य-वेदना की धारणा रहती है जिससे तृष्णा उत्पन्न होती है, क्योंकि जब तक सत्य-धारणा के विषय रहते हैं वेदना रहेगी और वेदना के कारण तृष्णा उत्पन्न होगी।

विना शून्यतया चित्तं बद्धमुत्पद्यते पुनः।
यथासंज्ञिसमापत्तौ भावयेत्तेन शून्यताम्।। ४९।।

संक्षेप में स्वभाव से सत्य न होने का शून्यता ज्ञान न होने पर कुछ समय तक शांत होने पर भी वासना रहने के कारण प्रत्यय से संपर्क होने पर फिर क्लेश उत्पन्न होता है क्योंकि उसकी जड़ सत्य-धारणा रहती है।

---

* यहाँ से आगे 'अर्हत्' का अर्थ अभिधर्म में वर्णित 'अर्हत्' लिया जायेगा, वास्तविक अर्हत् नहीं।

इसलिए जब तक सत्यभाव रहता है, क्लेश रहता है। जैसे असंज्ञि-समापत्ति से स्थूल विज्ञान निष्क्रिय हो जाने पर भी प्रत्यय से संपर्क होने पर फिर उनकी संतति चलती है। शक्ति रहने से फिर कभी न कभी कारण-वश क्लेश उत्पन्न होता है। अतः क्लेशों के समूल निराकरण के लिए शून्यता की भावना करनी चाहिए, जिससे शून्यता ज्ञान प्राप्त हों।

यत्सूत्रेऽवतरेद् वाक्यं तच्चेद् बुद्धोक्तमिष्यते।
महायानं भवत्सूत्रैः प्रायस्तुल्यं न किं मतम् ॥ ५० ॥
एकेनागम्यमानेन सकलं यदि दोषवत्।
एकेन सूत्रतुल्येन किं न सर्वं जिनोदितम् ॥ ५१ ॥

जो वाक्य विनय में अनुज्ञात हैं, सूत्रके अनुकूल और अभिधर्म के विरुद्ध न होने के कारण बुद्ध वचन माने जाकर हीनयान सूत्र प्रमाण माने जाते हैं तो प्रायः वही बात महायान सूत्रों पर भी प्रयुक्त होती हैं। फिर क्यों महायान आगम को बुद्ध वचन नहीं मानते ? यदि एक असंगति के कारण सब दोषी (अप्रमाण) समझे जायँ तो एक संगति के कारण सभी को प्रमाण मानकर सबको बुद्ध वचन मानना चाहिए।

महाकाश्यपमुख्यैश्च यद् वाक्यं नावगाह्यते।
तत्त्वयानवबुद्धत्वादग्राह्यं कः करिष्यति ॥ ५२ ॥

प्रज्ञापारमितासूत्र आदि महायान सूत्रों को बुद्ध वचन होते हुए भी जब महाकाश्यप जैसे प्रमुख अर्हतों ने नहीं समझा तो यह तर्क देना कि यह बुद्ध वचन नहीं हो सकता क्योंकि मेरी समझ में नहीं आता, कहाँ तक उचित है ? अर्थात् कोई भी इस तर्क के आधार पर महायान सूत्रों को अग्राह्य नहीं मानेगा।

सक्तित्रासान्तनिर्मुक्त्या संसारे सिध्यति स्थितिः।
मोहेन दुःखिनामर्थे शून्यताया इदं फलम्। ५३॥

अविद्या के कारण दुःखों से पीड़ित प्राणियों के उपकार के लिए एक बोधिसत्त्व द्वारा आसक्ति-संसार के अन्त तथा मोक्ष-त्रास अन्त दोनों में पतित न होकर जब तक प्राणी रहें तब तक व्यवहार-सत्य के आधार पर परकल्याण का आचरण करना शून्यता ज्ञान का फल या लाभ है। दूसरे शब्दों में श्रावक तथा प्रत्येक बुद्ध के समान सांसारिक दुःख से स्वयं मुक्त होने की चेष्टा न कर प्राणिमात्र की सुख-शान्ति के लिए अनन्तकाल तक कष्ट सहन करते हुए परहित के आचरण का रहस्य, शून्यता ज्ञान की प्रज्ञा और बोधिचित्त जैसे उपाय ही हैं।

तदेवं शून्यतापक्षे दूषणं नोपपद्यते।
तस्मान्निर्विचिकित्सेन भावनीयैव शून्यता॥ ५४॥

इस प्रकार के पक्ष का खण्डन करना अनुचित समझकर निःसन्देह-भाव से शून्यता की भावना करनी चाहिए। [यहाँ तक सर्वज्ञता के लिए तो है ही, मोक्ष प्राप्ति के लिए भी शून्यता के ज्ञान के आवश्यक होने की चर्चा हुई है। हाँ, बौद्ध सिद्धान्तवादी अविद्या को संसार का मूल मानते हैं, परन्तु उस अविद्या की परिभाषा या पहचान में कुछ अन्तर अवश्य हैं। जैसा भी हो हमारे चित्त में हर प्रकार के दोष या मिथ्या धारणायें उत्पन्न करने वाला यही स्वभाव से न होने पर भी होने की अवधारणा है। राग-द्वेष आदि की शुरूआत भी विषयों के वास्तविक और स्वभाव से सिद्ध होने की धारणा के सहारे होती हैं। स्थूल और सूक्ष्म सभी राग-द्वेष सत्य धारणा से उत्पन्न होते हैं। अतः यहाँ पर मोक्ष अभिलाषियों को शून्यता की भावना करनी चाहिए, ऐसा कहा गया है।] अब आगे कहते हैं कि—

क्लेशज्ञेयावृतितमः प्रतिपक्षो हि शून्यता।
शीघ्रं सर्वज्ञताकामो न भावयति तां कथम्॥ ५५॥

शून्यता ही क्लेशावरण तथा ज्ञेयावरण के अन्धकार की निवारिका है। अतः शीघ्र सर्वज्ञता की प्राप्ति चाहने वालों को इसकी भावना करनी चाहिए।

यद् दुःखजननं वस्तु त्रासस्तस्मात्प्रजायताम्।
शून्यता दुःखशमनी ततः किं जायते भयम्॥ ५६॥

वस्तु-सत्य की धारणा सभी दुःखों का कारण होने से और वस्तु-सत्य की धारणा से डरने वालों को शून्यता की दृष्टि से भय नहीं होना चाहिए क्योंकि यह शून्यता, सत्य-धारणा का प्रतिपक्ष है, अर्थात् दुःख का निवारक है।

यतस्ततो वास्तु भयं यद्यहं नाम किंचन।
अहमेव न किंचिच्चेद् भयं कस्य भविष्यति॥ ५७॥

यदि आत्मा वास्तव में होता तो भय करना भी उचित होता, परन्तु जब तर्क द्वारा विवेचना करने पर वास्तव में आत्मा, मैं, सुख, दुःख कोई भी है ही नहीं तो किसे भय होगा? किन्चित् भी भय नहीं होना चाहिए।

[संक्षेप में, शून्यता भावना के दो विषय हैं, सुख-दुःख के उपभोग करने वाला आत्मा और भोग्य विषय-धर्म। हमें शून्यता-भावना करने की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि हम सुख और दुःख के कारणों को जानना चाहते हैं। आत्मा की शून्यता को पुद्गल-निरात्मा और विषय-धर्मों की शून्यता को धर्मनिरात्मा कहते हैं। जैसे आप लोगों में सामने की इस गद्दी पर दलाई लामा को देखकर इस दलाई लामा

के मन तथा शरीर को चलाने या उपयोग करने वाले किसी प्रकार के स्वाभाविक या प्रत्ययों से मुक्त स्वतन्त्रतापूर्वक उपदेश देने वाले व्यष्टि की धारणा उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार की भावना मुझे आप प्रत्येक लोगों के प्रति उत्पन्न होती है। यही आत्म-दृष्टि की धारणा है। किसी व्यक्ति को देखकर बिना परीक्षण किये हम यह समझते हैं कि स्वभावतः वह व्यक्ति है और उसी को पुरुष, पुद्गल, आत्मा आदि की संज्ञा देते हैं, परन्तु सूक्ष्म रूप से परीक्षा करें तो वह शरीर वह व्यक्ति नहीं होता, वह उस व्यक्ति का शरीर है। इसी प्रकार मन भी वह व्यक्ति नही होता, वह उस व्यक्ति का मन है। फिर वह व्यक्ति कौन है, कैसा है, जो उस मन और शरीर को धारण करते हैं। यदि स्वभाव से होता तो इस प्रकार जितनी परीक्षा करें उतना स्पष्ट होता, परन्तु ऐसा कभी नहीं होता। इसके विपरीत जितना परीक्षण होता है उतना दूर और अस्पष्ट होता जाता है, जिससे यह सिद्ध होता है कि वह स्वभाव से सिद्ध नहीं है।] अतः आगे लिखते हैं—

दन्तकेशनखा नाहं नास्थि नाप्यस्मि शोणितम्।
न शिंघानं न च श्लेष्मा न पूयं लसिकापि वा ॥ ५८ ॥
नाहं वसा न च स्वेदो न मेदोऽन्त्राणि नाप्यहम्।
न चाहमन्त्रनिर्गुण्डी गूथमूत्रमहं न च ॥ ५९ ॥
नाहं मांसं न च स्नायु नोष्मा वायुरहं न च।
न च छिद्राण्यहं नापि षड् विज्ञानानि सर्वथा ॥ ६० ॥

(शरीर अहंकार का विषय न होने की परीक्षा)—मैं दाँत, केश, नख नहीं हूँ। अस्थि, रक्त नहीं हूँ। नखमैल, थूक या कफ भी नहीं हूँ। लस और पित्त भी नहीं हूँ। न मैं वसा और स्वेद हूँ। फेफड़ा, कलेजा या अन्य आँतें भी नहीं हूँ। मैं मल-मूत्र नहीं हूँ। मांस और

खाल नहीं हूँ। ऊष्मा और वायु नहीं हूँ। छिद्र नहीं हूँ और छह विज्ञान भी मैं नहीं हूँ। [यहाँ छह विज्ञान माना है परन्तु आठ, नौ या मात्र एक विज्ञान मानने वाले भी हैं। जैसे 'रत्नावली' में कहा गया है, "उससे भिन्न भी पुरुष नहीं होता।" जब हम शरीर और चित्त को अहं नहीं सिद्ध कर सकते तो इसका यह अर्थ नहीं कि शरीर तथा मन से पृथक् या असंबन्धित कोई अहं है। यदि अहं होता तो इन्हीं पर या इनसे संबन्धित अवश्य होना चाहिए, क्योंकि अहं की कल्पित धारणा से आसक्ति उस पर उत्पन्न हो और अहं स्वयं कहीं और रहे, ऐसा असंभव है। इसलिए शरीर के सिर से पाँव तक प्रत्यंग और त्रिकालिक हर एक विज्ञान पर परीक्षा कर के खोजने पर यह अहं, मैं या आत्मा कहीं नहीं मिलता। परन्तु मनुष्य से लेकर कीड़े मकोड़े तक यह धारणा बनी है कि मुझे सुख चाहिए, मुझे दुःख नहीं चाहिए। ऐसी धारणा जब हर एक चेतन में है, निश्चित रूप से कुछ होता है और खोजने पर मिल नहीं सकता। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सभी धर्म मात्र—कल्पित हैं, शब्द मात्र हैं, अन्य प्रत्यय पर निर्भर है, परतन्त्र है, व्यवहार मात्र है। इसलिए स्वभाव से सिद्ध नहीं हैं, शून्य है, निरात्म है। इस प्रकार परीक्षण करके अनायास उत्पन्न होने वाले आत्म-परिग्रह के निषेध के लिए भावना करनी चाहिए।] अब सिद्धान्त पर आधारित अहंकार की निराकरण का प्रश्न आता है, जिसमें सर्वप्रथम सांख्य मत का खण्डन है।—

शब्दज्ञानं यदि तदा शब्दो गृह्येत सर्वदा।
ज्ञेयं विना तु किं वेत्ति येन ज्ञानं निरुच्यते ॥ ६१ ॥

अजानानं यदि ज्ञानं काष्ठं ज्ञानं प्रसज्यते।
तेनासंनिहितज्ञेयं ज्ञानं नास्तीति निश्चयः ॥ ६२ ॥

(सांख्य मत के अनुसार ज्ञान को ही अहं या आत्मा माना गया है जो नित्य, अकेला और स्वतन्त्र है।)—

यदि शब्द आदि उपयोग करने वाला कोई नित्य ज्ञान-पुरुष होता तो सदा उसे शब्द सुन पड़ना चाहिए, चाहे शब्द रहे या न रहे। शब्द आदि विषयों में परिवर्तन स्पष्ट है, फिर भी यदि ज्ञान नित्य है तो उसका ज्ञेय-विषय क्या है, क्योंकि ज्ञान उसे कहते हैं जो ज्ञेय को जाने। ज्ञेय के विना ज्ञान हो ही नहीं सकता।

यदि ज्ञेय-रहित कोई ज्ञान हो सकता है तो काष्ट को भी ज्ञान होना चाहिए। अतः इससे यह निष्कर्ष लेना चाहिए कि ज्ञेय के विना ज्ञान होना असंभव है।

तदेव रूपं जानाति तदा किं न श्रृणोत्यपि।
शब्दस्यासंनिधानाच्चेत्ततस्तज्ज्ञानमप्यसत् ॥ ६३ ॥

(सांख्य)—शब्द न रहने पर ज्ञान न होने का दोष नहीं हो सकता, क्योंकि वह उस समय रूप आदि जान सकता है। (माध्यमिक)—यदि पुरुषसत् होता तो रूप ग्रहण करते समय शब्द भी ग्रहण करता। (सांख्य)—उस समय शब्द पास में न होने के कारण नहीं सुन पाता। (माध्यमिक)—जो ज्ञान रूपग्राही है, वह शब्दग्राही नहीं होता। परन्तु नित्य धर्म पर पास या दूर का प्रभाव नहीं हो सकता। ऐसा परिवर्तन होने क. अर्थ यह हुआ कि वह ज्ञान-पुरुष अनित्य ही है।

शब्दग्रहणरूपं यत् तद्रूपग्रहणं कथम्।
एकः पिता च पुत्रश्च कल्प्यते न तु तत्त्वतः ॥ ६४ ॥

सत्त्वं रजस्तमो वापि न पुत्रो न पिता यतः।
शब्दग्रहणयुक्तस्तु स्वभावस्तस्य नेक्षते ॥ ६५ ॥

(सांख्य)—जो ज्ञान शब्दग्राही है वही रूपग्राही है, जैसे एक ही पुरुष किसी के संबन्ध के आधार पर पिता भी होता है और पुत्र भी। (माध्यमिक)—यह तो मात्र एक कल्पित बात है, तत्त्व की बात नहीं, क्योंकि जो पिता का स्वभाव है वह पुत्र का स्वभाव नहीं हो सकता। तुम्हारे मतानुसार सत्त्व, रजस् और तमस् परमार्थ तत्त्व हैं, इसलिए पिताः के सत्त्व आदि तत्त्व पुत्र-स्वभाव नहीं हो सकते और पुत्र के सत्त्व आदि स्वभाव पिता नहीं हो सकते। यह उदाहरण ही गलत है। वह शब्दग्राही ज्ञान यदि स्वभाव से रूपग्राही होता तो प्रमाण से दिखना चाहिए परन्तु ऐसा प्रतीत नहीं होता।

तदेवान्येन रूपेण नटवत्सोऽप्यशाश्वतः।
स एवान्यस्वभावश्चेदपूर्वेयं तदेकता॥ ६६॥

(माध्यमिक)—यदि नर्तक के समान अनेक रूप धारण कर प्रकट होता है ऐसा माना जाय, तो फिर वह स्वभावतः अनित्य ही हुआ और उसी ज्ञान में स्वभाव भेद माना जाये तो यह अपूर्व एकता हुयी।

अन्यद्रूपमसत्यं चेन्निजं त द्रूपमुच्यताम्।
ज्ञानता चेत्ततः सर्वपुंसामैक्यं प्रसज्यते॥ ६७॥

(माध्यमिक)—यदि वे अन्य रूप सत्य नहीं हैं, तो तुम सांख्यवादी इस पर और प्रकाश डालो कि उस तत्त्व का स्वरूप क्या है। (सांख्य)—ज्ञान के कारण एक रूपता मानी जा सकती है। (माध्यमिक)-ऐसा मानने से सब पुरुषों को एक मानना पड़ेगा।

चेतनाचेतने चैक्यं तयोर्येनास्तिता समा।
विशेषश्च यदा मिथ्या कः सादृश्याश्रयस्तदा॥ ६८॥

इसी प्रकार चेतन-अचेतन धर्मों को भी एक मानना होगा, क्योंकि तुम्हारे मतानुसार सबमें अस्तित्व-धर्म वर्तमान है। जब विशेष को मिथ्या ही मानना है फिर वह सत्य सामान्य क्या है ? अतः ज्ञान-स्वरूप आत्मा अहंकार का विषय नहीं हो सकता। अब आगे नैय्यायिकों के मत का खण्डन आता है।—

अचेतनश्च नैवाहमाचैतन्यात्पटादिवत्।
अथ ज्ञश्चेतनायोगादज्ञो नष्टः प्रसज्यते ॥ ६९ ॥

(नैय्यायिकों का मत है कि आत्मा नित्य और अचेतन है फिर भी चेतन के योग से विषयों का ज्ञाता बनता है।) अतः माध्यमिक का यह आक्षेप है कि अचेतन भी अहंकार का विषय नहीं हो सकता। जैसे वस्त्र आदि अचेतन होने के कारण ही अहंकार के विषय नहीं होते, इसी प्रकार आत्मा अचेतन होने पर भी चेतन के योग से ज्ञाता है, ऐसा तर्क देना भी युक्ति-संगत नहीं, क्योंकि चेतन के योग से ज्ञाता होने का अर्थ उस नित्य आत्मा का परिवर्तन होगा, फिर तो उसे अनित्य ही स्वीकार करना होगा, उसे नाशवान् मानना पड़ेगा।

अथाविकृत एवात्मा चैतन्येनास्य किं कृतम्।
अज्ञस्य निष्क्रियस्यैवमाकाशस्यात्मता मता ॥ ७० ॥

(नैय्यायिक)—आत्मा नष्ट नहीं होता, वह सदा अविकारी है। (माध्यमिक)—यदि आत्मा नित्य और अविकारी है तो चैतन्य उसपर परिवर्तन कैसे लाता है ? यदि ऐसा संभव है तो आकाश को भी आत्मा मानना पड़ेगा, क्योंकि वह भी निष्क्रिया और ज्ञानहीन है।

न कर्मफलसंबन्धो युक्तश्चेदात्मना विना।
कर्म कृत्वा विनष्टे हि फलं कस्य भविष्यति ॥ ७१ ॥

द्वयोरप्यावयोः सिद्धे भिन्नाधारे क्रियाफले।
निर्व्यापारश्च तत्रात्मेत्यत्र वादो वृथा ननु ॥ ७२ ॥

(नैय्यायिक)—तुम बौद्ध लोग भी कर्म-फल के संबन्ध को मानते हो, फिर आत्मा के माने विना इस प्रकार के कर्म और फल के संबन्ध की व्यवस्था हो ही नहीं सकती क्योंकि कर्म क्षणिक होने के कारण नष्ट हो जाता है, फिर भला इस कर्म का फल कैसे बनेगा ?

(माध्यमिकों का समाधान)—जब कर्म और फल का आधार भिन्न होना और फल भोगने वाले का कर्म करने वाला न होना इसे हम दोनों स्वीकार करते हैं, तो तुम्हारे ये तर्क वितर्क व्यर्थ है।

हेतुमान् फलयोगीति दृश्यते नैष संभवः।
संतानस्यैक्यमाश्रित्य कर्ता भोक्तेति देशितम् ॥ ७३ ॥

यही नहीं, हेतु-कर्म करते समय उसी का फल भोगना भी असंभव है। (नैय्यायिक)—फिर तुम माध्यमिक लोगों के मत में कर्म-कर्त्ता और फल-भोक्ता की व्यवस्था कैसे होती है ? (माध्यमिक)—हमारे सिद्धान्त में ऐसी कठिनाई नहीं है। कर्म का कर्त्ता अनित्य और क्षणिक होने से कर्त्ता ही भोक्ता नहीं होता और एक निरन्तर संतान (सतत्) होने से असंबंधित भी नहीं होता, अतः एक ही आधार पर यह व्यवस्था हो सकती है।

[इस प्रकार निरात्म और अनित्य सिद्ध होने पर भी लोक-व्यवहार में कोई आपत्ति नहीं आती, क्योंकि सत्य और नित्य के विवेचन के व्यावहारिक तौर पर धर्म-कर्म की बातें होती हैं, अर्थात् स्वभाव-सत्ता और स्वतन्त्रता न मानकर सामान्य व्यावहारिकता के आधार पर ही कर्म तथा फल के संबन्ध स्थापित होते हैं।] (बौद्ध दर्शनवादी उपर्युक्त प्रकार का आत्मा नहीं मानते फिर भी कुछ विज्ञानवादी आचार्य चित्त को अहंकार का विषय

मानते है। परन्तु यह भी अनुचित है, इसलिए आगे इसका निषेध होता है।)—

अतीतानागतं चित्तं नाहं तद्धि न विद्यते।
अथोत्पन्नमहं चित्तं नष्टेऽस्मिन् नास्त्यहं पुनः॥ ७४॥

यथैव कदलीस्तंभो न कश्चिद् भागशः कृतः।
तथाहमप्यसद्भूतो मृग्यमाणो विचारतः॥ ७५॥

(माध्यमिक)—चित्त भी अहंकार का विषय नहीं हो सकता, क्योंकि अतीत चित्त बीत चुका है, और अनागत चित्त आने को है। इसी तरह वर्तमान चित्त भी अगले ही क्षण निरुद्ध होने वाला है, जिससे अहंहार भी नहीं रहने वाला है। अतः जैसे कदली-स्तंभ को बाहर से उवेड़ते जाने पर अन्त में कुछ नहीं रहता, वैसे ही परीक्षा से खोजने पर परमार्थ अहम् भी नहीं मिलता।

यदि सत्त्वो न विद्यते कस्योपरि कृपेति चेत्।
कार्यार्थमभ्युपेतेन यो मोहेन प्रकल्पितः॥ ७६॥

(विज्ञानवादी का आक्षेप)—यदि वास्तव में सत्त्व (अहं) नहीं होता तो करुणा का विषय नहीं रहता, फिर किस पर करुणा करें? (माध्यमिक)—फल अर्थात् बुद्धत्व प्राप्ति के लिए संवृति-सत्य के आधार पर जिस सत्त्व की कल्पना होती है उसी पर करूणा का अभ्यास होता है। या फिर, मोह का अर्थ मिथ्या मानकर उसका निषेध करना है परन्तु उसका कल्पित व्यवहार होता है। इसलिए उस फल को स्वीकार करना होगा। ऐसा भी अर्थ हो सकता है।

कार्यं कस्य न चेत्सत्त्वः सत्यमीहा तु मोहतः।
दुःखव्युपशमार्थं तु कार्यमोहो न वार्यते॥ ७७॥

(विज्ञानवादी)—जब सत्त्व है ही नहीं तो करूणा अभ्यास के फल-स्वरूप बुद्धत्व प्राप्त करेगा कौन ? (माध्यमिक)—यह सच है कि यदि सत्त्व न रहे तो बुद्धत्व प्राप्त करने वाला भी नहीं हो सकता। परन्तु इसकी व्यवस्था उपर्युक्त उत्तर से स्पष्ट है। दुःख निवृत्ति के लिए मोहवश कल्पित सत्त्वों को मानना चाहिए, जिनके द्वारा सुख-दुःख का उपभोग होता है।

दुःखहेतुरहंकार आत्ममोहात्तु वर्धते।
ततोऽपि न निवर्त्यश्चेद् वरं नैरात्म्यभावना ॥ ७८ ॥

फिर भी आत्म-परिग्रह की धारणा नहीं होनी चाहिए क्योंकि उससे दुःख उत्पन्न होता है। यही नहीं उस आत्मदर्शन से अहंकार की निवृत्ति नहीं हो सकती। अतः अहंकार की समूल निवृत्ति के लिए नैरात्म्य की भावना करना सर्वोत्तम उपाय सिद्ध होता है। (यहाँ तक पुद्गल-नैरात्म्य सिद्ध हुआ और आगे धर्मनैरात्म्य की चर्चा आती है।)

[यहाँ बोधिचर्यावतार में धर्मनैरात्म्य को चार-स्मृत्युपस्थान के द्वारा स्थापित किया गया है। सर्वप्रथम कायस्मृत्युपस्थान आता है। इसमें शरीर के वास्तविक स्वभाव का परीक्षण होता है। हम जिसे अपना शरीर समझते हैं, जिसे देखकर शरीर की धारणा उत्पन्न होती है, वह शरीर है कहाँ ? अवयवों के समूह पर शरीर की कल्पना होती है, उनसे भिन्न शरीर कहीं होता नहीं।]

कायो न पादौ न जंघा नोरू कायः कटिर्न च।
नादरं नाप्ययं पृष्ठं नोरो बाहू न चापि सः ॥ ७९ ॥
न हस्तौ नाप्ययं पार्श्वौ न कक्षौ नांसलक्षणः।
न ग्रीवा न शिरः कायः कायोऽत्र कतरः पुनः ॥ ८० ॥

न पैर काय है, न जांघ। न उरू काय है, न कमर, न उदर काय है और न पीठ। न वक्षस्थल काय है, न बाहु। न पार्श्व काय है, न हाथ, न कांख काय है और न ही कंधा काय है। न आंतें काय है, न गर्दन काय है, और न सिर। फिर कैसे हम इसे काय समझते हैं?

यदि सर्वेषु कायोऽयमेकेदेशेन वर्तते।
अंशा अंशेषु वर्तन्ते स च कुत्र स्वयं स्थितः॥ ८१॥
सर्वात्मना चेत्सर्वत्र स्थितः कायः करादिषु।
कायस्तावन्त एव स्युर्यावन्तस्ते करादयः॥ ८२॥

यदि शरीर के हर अवयव में उस अवयवी काय का अंश रहता है तो वह स्वयं अवयवी कहाँ रहा? और यदि वह समूचा अवयवी हर एक अंग में रहता है तो शरीर में जितने अंग हैं उतने काय होने चाहिए।

नैवान्तर्न बहिः कायः कथं कायः करादिषु।
करादिभ्यः पृथग् नास्ति कथं नु खलु विद्यते॥ ८३॥
तन्नास्ति कायो मोहात्तु कायबुद्धिः करादिषु।
संनिवेशविशेषेण स्थाणौ पुरुषबुद्धिवत्॥ ८४॥
यावत्प्रत्ययसामग्री तावत्कायः पुमानिव।
एवं करादौ सा यावत् तावत्कायोऽत्र दृश्यते॥ ८५॥

काय न बाहरी अवयवों में मिलता है और न ही आत्मा जैसी कोई चीज अन्दर है, फिर हाथ आदि अंगों में काय कैसे रह सकता है अर्थात् नहीं रहता। परन्तु हाथ आदि अवयवों से भिन्न काय प्राप्त नहीं होता। अतः स्वभाव से सिद्ध कोई काय नहीं है। भ्रमवश हाथ आदि अवयवों पर काय स्वभाव से सिद्ध होने की धारणा होती है, जैसे आकार-प्रकार की विशेषता के कारण स्थाणु पर भी मनुष्य होने की धारणा उत्पन्न होती है।

इससे यह बात स्पष्ट है कि जब तक अंधकार आदि कारण रहते हैं तो स्थाणु के प्रति पुरुष या स्त्री होने का भ्रम रहता है। उसी प्रकार हाथ आदि कारण जब तक रहे स्वभाव से सिद्ध काय होने की धारणा रहती है।

एवमङ्गुलिपुंजत्वात्पादोऽपि कतरो भवेत्।
सोऽपि पर्वसमूहत्वात् पर्वापि स्वांशभेदतः॥ ८६॥

अंशा अप्यणुभेदेन सोऽप्यणुर्दिग्विभागतः।
दिग्विभागो निरंशत्वादाकाशं तेन नास्त्यणुः॥ ८७॥

एवं स्वप्नोपमे रूपे को रज्येत विचारकः।
कायश्चैवं यदा नास्ति तदा का स्त्री पुमांश्च कः॥ ८८॥

इसी प्रकार हाथ आदि अंग भी अपने-अपने अंशों के संघटन से बने हैं। जैसे उंगलियों के समूह से भिन्न कहीं हाथ नहीं मिलता, उँगलियां भी जोड़ों का समूह है और एक जोड़ भी अपने अंशों से बना है। अंश भी परमाणुओं में विघटित हो सकते हैं। और प्रत्येक परमाणु भी दिशाओं में विभक्त होता है। दिशाओं में विभक्त परमाणु का अंश आकाश के समान शून्य है। अतः परमाणु भी स्वभावतः तथा स्वतन्त्र रूप से नहीं होते, जो धर्म-आत्मा का आधार बन सकें।

अतः किसी भी बुद्धिमान् को इस स्वप्न के समान काय पर आसक्ति उत्पन्न नहीं होगी और जब काय ही नहीं होगा तो कैसे स्वभाव से स्त्री और पुरूष जैसे आसक्ति के विषय होंगे?

यद्यस्ति दुःखं तत्त्वेन प्रहृष्टान् किं न बाधते।
शोकाद्यार्ताय मृष्टादि सुखं चेत् किं न रोचते॥ ८९॥

(यहाँ से वेदनास्मृत्युपस्थान का पाठ है)—यदि वेदना और उसका

विषय दुःख परमार्थसत् होता तो वह अपरिवर्तनशील होना चाहिए जिससे कभी सुख का अवसर नहीं हो सकता। उसी प्रकार सुख यदि परमार्थसत् होता तो पुत्र की मृत्यु आदि के कारण शोक में डूबे लोगों को स्वादिष्ट भोजन से आनन्द क्यों नहीं होता।

बलीयसाभिभूतत्वाद्यदि तन्नानुभूयते।
वेदनात्वं कथं तस्य यस्य नानुभवात्मता ॥ ९० ॥

(प्रतिपक्षी)—प्रबल सुख या दुःख से दब जाने से अनुभव में नहीं आता। (माध्यमिक)—जो भी कारण माने, यदि वह (सुख, दुःख) अनुभव में नहीं आते, फिर उनमें वेदनीयता कैसी? अर्थात वेदना हो ही नहीं सकती।

अतिसूक्ष्मतया दुःखं स्थौल्यं तस्य हृतं ननु।
तुष्टिमात्राऽपरा चेत्स्यात्तस्मात् साप्यस्य सूक्ष्मता ॥ ९१ ॥

(प्रतिपक्षी) इस प्रकार का दोष नहीं होगा, क्योंकि प्रबल सुख-अनुभव के समय दुःख सूक्ष्म रूप में रहता है। इसलिए दुःख का अत्यन्त सूक्ष्म अनुभव होता है। (माध्यमिक)—प्रबल सुख से स्थूल दुःख हटाया जाता है, सूक्ष्म दुःख के अनुभव को सुख नही मान सकते क्योंकि सुख की अवस्था में दुःख का अनुभव नहीं होता। वह सूक्ष्म दुःख भी दुःख ही होता है।

विरुद्धप्रत्ययोत्पत्तौ दुःखस्यानुदयो यदि।
कल्पनाभिनिवेशो हि वेदनेत्यागतं ननु ॥ ९२ ॥

दुःख के विरुद्ध सुख के प्रत्यय से दुःख उत्पन्न नहीं होता है, ऐसा माना जाय तो प्रबल सुख जैसे विरुद्ध प्रत्यय से दुःख समाप्त भी नहीं हो

सकता। अतः वेदना भी प्रत्ययों पर निर्भर है, परतन्त्र है, स्वभाव से सिद्ध नहीं है।

अत एव विचारोऽयं प्रतिपक्षोऽस्य भाव्यते।
विकल्पक्षेत्रसंभूतध्यानाहारा हि योगिनः॥ ९३॥

अतएव इस स्वभाव से सिद्ध वेदना की धारणा के प्रतिपक्ष की भावना कर कल्पना से ही उत्पन्न होने वाले योगी के ध्यानाहार से अपने ज्ञान का विकास करना चाहिए। वेदना, स्पर्श के द्वारा उत्पन्न होती है, इसलिए आगे स्पर्श चर्चा का विषय है—

सान्तराविन्द्रियार्थौ चेत्संसर्गः कुत एतयोः।
निरन्तरत्वेऽप्येकत्वं कस्य केनास्तु संगतिः॥ ९४॥

यदि इन्द्रिय और अर्थ (विषय) के परमाणुओं में अन्तर रहता है तो दोनों में संसर्ग नहीं हो सकता और अन्तर रहता ही नहीं, फिर तो दोनों एक ही हुए। किसी इन्द्रिय से किसी अर्थ का संयोग कैसे बनेगा?

नाणोरणौ प्रवेशोऽस्ति निराकाशः समश्च सः।
अप्रवेशे न मिश्रत्वममिश्रत्वे न संगतिः॥ ९५॥

एक परमाणु का दूसरे परमाणु में बराबर प्रवेश नहीं हो सकता। परन्तु प्रवेश के विना उनका मिलना असंभव है, और विना मिले संसर्ग संभव नहीं।

निरंशस्य च संसर्गः कथं नामोपपद्यते।
संसर्गे च निरंशत्व यदि दृष्टं निदर्शय॥ ९६॥

विना अवयव के पदार्थों में संसर्ग हो नहीं सकता। यदि तुम्हारे पास निरवयव होते हुए भी संसर्ग होने का कोई उदाहरण हो तो बताओ।

विज्ञानस्य त्वमूर्तस्य संसर्गो नैव युज्यते।
समूहस्याप्वस्तुत्वाद् यथा पूर्वं विचारितम् ॥ ९७ ॥
तदेवं स्पर्शनाभावे वेदनासंभवः कुतः।
किमर्थंमयमायासः बाधा कस्य कुतो भवेत् ॥ ९८ ॥

विज्ञान से किसी पदार्थ का संसर्ग नहीं हो सकता, क्योंकि वह निराकार है। परमाणु के समूह का स्थूल रूप भी स्वभाव से संसर्ग में नहीं आ सकता, जैसे हाथ और उँगलियों आदि पर परीक्षण द्वारा सिद्ध हो चुका है। इस प्रकार जब विज्ञान, इन्द्रिय, और अर्थ का स्वभाव से संसर्ग नहीं होता, स्वभाव से वेदना होने का कारण ही नहीं। जब कोई स्वभावतः सत्य वेदना नहीं होती तो सुख-दुःख की वेदना के लिए दौड़धूप करना व्यर्थ है। यदि दुःख की वेदना स्वभाव से होती, तो कोई इस का निराकरण नही कर सकता।

यदा न वेदकः कश्चिद् वेदना च न विद्यते।
तदावस्थामिमां दृष्ट्वा तृष्णे किं न विदीर्यसे ॥ ९९ ॥

स्वभावतः वेदयिता और वेदना न होने की अवस्था को देख लेने से सत्य मानकर न तो सुख प्राप्ति की तृष्णा उत्पन्न होगी और न दुःख से निवृत्ति की तृष्णा ही, जो कुछ दिखेगा और जिससे स्पर्श होंगे वे स्वप्न और माया की भांति निसार तथा निस्वभाव प्रतीत होंगे।

दृश्यते स्पृश्यते चापि स्वप्नमायोपमात्मना।
चित्तेन सहजातत्वाद् वेदना तेन नेक्ष्यते ॥ १०० ॥
पूर्वं पश्चाच्च जातेन स्मर्यते नानुभूयते।
स्वात्मानं नानुभवति न चान्येनानुभूयते ॥ १०१ ॥

वेदना, विज्ञान के साथ उत्पन्न होने के कारण भी देखी नहीं जा सकती,

क्योंकि संकलित पृथक द्रव्य असंबन्धित होता है। इसी प्रकार पूर्व और पश्चात् उत्पन्न होने वाली वेदना का स्मरण कर सकते हैं परन्तु अनुभव नहीं। जब स्वसंवेदन का निषेध हो चुका तो अपने आप भी नहीं देख सकते। स्वभावतः सिद्ध एक-दूसरे का अनुभव भी असंभव होगा, क्योंकि उनमें संबन्ध नहीं हो सकेगा।

न चास्ति वेदकः कश्चिद् वेदनातो न विद्यते।
निरात्मके कलापेऽस्मिन् क एव बाध्यतेऽनया॥ १०२॥

परमार्थ में जब वेदयिता और वेदना नहीं होते तो इस निरात्मक स्कन्ध को सुख और दुःख की वेदना से कुछ लाभ या हानि नहीं होगी, अतः वेदनास्मृत्युपस्थान की भावना करनी चाहिए।

नेन्द्रियेषु न रूपादौ नान्तराले मनः स्थितम्।
नाप्यन्तर्न बहिश्चित्तमन्यत्रापि न लभ्यते॥ १०३॥

(अब चित्तस्मृत्युपस्थान की बात आती है।)—परीक्षा करने पर चित्त न इन्द्रियों में है, न रूप आदि विषयों में है, न उन दोनों के बीच में कहीं है। चित्त न शरीर के भीतर है, न बाहर है और न इनसे अलग कहीं अन्य स्थान पर स्थित है।

यन्न काये न चान्यत्र न मिश्रं न पृथक् क्वचित्।
तन्न किंचिदतः सत्त्वाः प्रकृत्या परिनिर्वृताः॥ १०४॥

जो न शरीर है, न शरीर से मिला हुआ है, न अलग से कहीं जुड़ा हुआ है, न अन्यत्र ही स्वतन्त्र रूप से है, अतः प्राणी स्वभाव से परिनिर्वृत्त है।

ज्ञेयात्पूर्वं यदि ज्ञानं किमालंब्यास्य संभवः।
ज्ञेयेन सह चेद् ज्ञानं किमालंब्यास्य संभवः॥ १०५॥

अथ ज्ञेयाद् भवेत् पश्चात्तदा ज्ञानं कुतो भवेत् ।
एवं च सर्वधर्माणामुत्पत्तिनविसीयते ॥ १०६ ॥

(इन्द्रिय-ज्ञान का निषेध) इन्द्रिय–ज्ञान ज्ञेय-विषय से पूर्व उत्पन्न नहीं हो सकता है, क्योंकि ज्ञान ज्ञेय के आधार पर ही उत्पन्न होता है। इसी प्रकार इन्द्रिय ज्ञान और उनका ज्ञेय युगपात भी नहीं हो सकते, क्योंकि इन्द्रिय-ज्ञान उत्पत्ति के पहले ज्ञेय उत्पन्न नहीं हो सकता और साथ उत्पन्न होने में कोई प्रयोजन नहीं क्योंकि ज्ञान उत्पन्न हो चुका है। इसलिए कार्य-कारण भाव नहीं हो सकेगा। ज्ञेय के पश्चात् भी ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता क्योंकि उस समय ज्ञेय निरुद्ध हो चुका होता है। इसी प्रकार आन्तिरिक और बह्य सभी धर्मों की स्वभावतः उत्पत्ति नहीं हो सकती।

यद्येवं संवृतिर्नास्ति ततः सत्यद्वयं कुतः ।
अथ साप्यन्यसंवृत्या स्यात्सत्वो निर्वृतः कुतः ॥ १०७ ॥
परचित्तविकल्पोऽसौ स्वसंवृत्या तु नास्ति सः ।
स पश्चान्नितः सोऽस्ति न चेन्नस्त्यव संवृतिः ॥ १०८ ॥

(प्रतिपक्ष)— इस प्रकार ज्ञान और ज्ञेय के स्वभावतः सिद्ध न होने पर संवृति भी नहीं रही, तो संवृति और परमार्थ दो सत्यों की बात कहां तक उचित है ? तुम्हारे संवृति सत्य का अर्थ रज्जु स्वभावतः सर्प न होने पर भी सर्प होने की सत्य धारणा वाले के लिए सर्प होता है, और संवृति भी किसी अन्य ज्ञान की धारणा के कारण होती है, अतः प्राणियों को संवृति में भी मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती।

(माध्यमिकों का समाधान)—यहाँ पर संवृति का तात्पर्य अविद्या-वश सत्य-धारणा नहीं है, और न ही संवृति-सत्य है, परन्तु उस विषय

की स्थापना करने वाला ज्ञान प्रमाण है। इसलिए हम माध्यमिकों के ही संवृति का अर्थ इस प्रकार है कि कोई भी धर्म विषय पर स्वतन्त्र नहीं होता, फिर भी लोक व्यवहार में प्रचलित है, उस पर दूसरे प्रमाण के द्वारा अनिषिद्ध और परमार्थ विवेचनात्मक ज्ञान से भी अनिषिद्ध व्यावहारिक आधार की व्यवस्था हो सकती है जिससे एक बहुत सुगम हेतु-फल तथा प्रतीत्यसमुत्पाद की व्यस्था स्थापित कर सकते हैं। ऐसा मानने से स्वभावतः नित्यान्त और व्यवहार में न होने से सर्वथा कुछ न होने का उच्छेदान्त दोनों से मुक्त एक माध्यम मार्ग या व्यवथा की स्थापना होती है। स्वभाव का निषेध करने के पश्चात् स्वभावतः न होने पर भी व्यावहारिक आधार पर कल्पित तथा नाम-मत्र का रहने वाला धर्म जिसके आधार पर कर्त्ता-कर्म, हेतु-फल आदि की व्यवस्था स्थापित होती है, वही संवृति-सत्य है। परन्तु मात्र ज्ञान की धारणा पर किसी धर्म का होना नहीं माना जा सकता। जैसे स्वप्न के पुरुष को पुरुष नहीं मान सकते क्योंकि ऐसा व्याहारिक प्रमाण के विरूद्ध है, उसी प्रकार खरगोश की सींग की धारणा वाला ज्ञान होता अवश्य है, परन्तु वह मिथ्या ज्ञान होने के कारण व्यवहार में स्वीकार नहीं होता। अतः संवृति धर्म भी प्रमाण ज्ञान के आधार पर होना चाहिए, न कि मात्र उसकी धारणा से। स्वतन्त्रता की धारणा मिथ्या ही होती है। (ये सब बहुत महत्त्वपूर्ण सैद्धान्तिक बातें हैं।)

कल्पना कल्पितं चेति द्वयमन्योन्यनिश्रितम्।
यथाप्रसिद्धिमाश्रित्य विचारः सर्व उच्यते॥ १०९॥

अतः कल्पना और उससे कल्पित पदार्थ दोनों एक दूसरे पर आश्रित हैं और लोक व्यवहार के आधार पर ही इन सभी प्रकार की विवेचनायें चलती हैं।

विचारितेन तु यदा विचारेण विचार्यते।
तदानवस्था तस्यापि विचारस्य विचारणात् ॥ ११० ॥

(प्रतिपक्षी)—बुद्धि के द्वारा जब किसी धर्म का सत्य न होने का विचार होता है तो यदि उस विचार करने वाली बुद्धि के भी सत्य या असत्य होने का पुनः विचार करना पड़े तो कभी परीक्षण का अन्त नहीं होगा और अनवस्था-दोष हो जायेगा।

विचारिते विचार्ये तु विचारस्यास्ति नाश्रयः।
निराश्रयत्वन्नोदेति तच्च निर्वाणमुच्यते ॥ १११ ॥

(माध्यमिकों का समाधान) ऐसा कोई दोष नहीं, जब विचार्य धर्म असत्य बुद्धि की परीक्षा से निश्चित हो जाता है तो उस बुद्धि के सामने ऐसा कोई विषय नहीं रहता जिससे फिर सत्य-धारणा उत्पन्न हो सके। विषय के आश्रय के बिना पुनः सत्य-धारणा उत्पन्न नहीं होगी, इसे आकस्मिक आव ण रहित 'निर्वाण' कहा जाता है। अतः अनवस्था-दोष का आरोपण सिद्ध नहीं होता।

यस्य त्वेतद् द्वयं सत्यं स एवात्यन्तदुः स्थितः।
यदि ज्ञानवशादर्थो ज्ञानास्तित्वे तु का गतिः ॥ ११२ ॥

अथ ज्ञेयवशज्ज्ञानं ज्ञेयास्तित्वे तु का गतिः।
अथान्योन्यवशात् सत्त्वमभावः स्याद् द्वयोरपि ॥ ११३ ॥

पिता चेन्न विना पुत्रं कुतः पुत्रस्य संभवः।
पुत्राभावे पिता नास्ति तथासत्त्वं तयोर्द्वयो ॥ ११४ ॥

(विज्ञानवादी आदि) जो ज्ञान और अर्थ (विषय) दोनों को सत्य मानते हैं, उन्हीं की दुर्दशा है क्योंकि ये दोनो कदाचित् सत्य सिद्ध नहीं हो सकते। यदि सत्य ज्ञान के कारण सत्य-ज्ञेय होता हो, तो ज्ञान का अस्तित्व

किस पर निर्भर करता। उसी प्रकार ज्ञेय से ज्ञान होता तो ज्ञेय का अस्तित्व किस पर निर्भर होता? यदि एक दूसरे पर निर्भर होकर परतन्त्रतावश होते हों, तो दोनों स्वभाव से सिद्ध या सत्य नहीं हो सकते। जैसे पुत्र के विना पिता या पिता के विना पुत्र का होना असंभव है।

अंकुरो जायते बीजाद् बीजं तेनैव सूच्यते।
ज्ञेयाज्ज्ञानेन जातेन तत्सत्ता किं न गम्यते॥ ११५॥

(प्रतिपक्षी)—स्वभावतः सिद्ध बीज से अंकुर उत्पन्न होता है। वही अंकुर उस बीज का सूचक है। इसी प्रकार ज्ञेय से उत्पन्न सत्य-ज्ञान से परमार्थ में ज्ञेय का होना सिद्ध क्यों नहीं होता? अवश्य होना चाहिए।

अंकुरादन्यतो ज्ञानाद् बीजमस्तीति गम्यते।
ज्ञानास्तित्वं कुतो ज्ञातं ज्ञेयं यत्तेन गम्यते॥ ११६॥

(माध्यमिक)—अंकुर से भिन्न ज्ञान के द्वारा अंकुर देखने पर उसका बीज अवश्य होना चाहिए, ऐसा ज्ञान हो सकता है। परन्तु उस ज्ञेय को जानने से ज्ञान का होना किस प्रमाण से सिद्ध होगा, जब कि स्वसंवेदन का निषेध हो चुका है।

अब आगे चतुष्कोटिक-उत्पादनिषेध अर्थात् अपने से, दूसरे से, दोनों से और निर्हेतुक से उत्पन्न होने के मत का निषेध किया जाता है—

लोकः प्रत्यक्षतस्तावत्सर्वं हेतुमुदीक्षते।
पद्मनालादिभेदो हि हेतुभेदेन जायते॥ ११७॥
किं कृतो हेतुभेदश्चेत् पूर्वहेतुप्रभेदतः।
कस्माच्च फलदो हेतुः पूर्वहेतुप्रभावतः॥ ११८॥

(निर्हेतुक उत्पत्ति का निषेध)—लोक व्यवहार में प्रत्यक्षरूप म बीज आदि हेतु से अंकुर जैसे फल देखकर ही बीज बोते हैं और कमल,

उसके नाल आदि नानाप्रकार की वस्तुओं की उत्पत्ति विभिन्न प्रकार के हेतुओं से होता है। हेतु-भेद भी अपने अपने पूर्व हेतु भेद से होता है। प्रत्येक हेतु अपने अपने विषेश प्रकार का फल भी अपने पूर्व हेतु की शक्ति के कारण देता है।

ईश्वरो जगतो हेतुर्वद कस्तावदीश्वरः।
भूतानि चेद् भवत्वेवं नाममात्रेऽपि किं श्रमः ॥ ११९ ॥

यदि ईश्वर को जगत् का हेतु मानते हैं, तो यह बतायें कि ईश्वर क्या है? (प्रतिपक्षी)—पृथ्वी आदि भूत ही है। (माध्यमिक)—चार या पांच भूतों से यह जगत् बना है, ऐसा हम भी स्वीकार करते हैं। तुम सीधे जगत् का हेतु भूत हैं, ऐसा क्यों नहीं कहते? उन्हे ईश्वर का नाम देने का अयास क्यों करते हो?

अपि त्वनेकेऽनित्याश्च निश्चेष्टा न च देवताः।
लंध्याश्चाशुयश्चैव क्ष्मादयो न स ईश्वरः ॥ १२० ॥
नाकाशमीशो ऽचेष्टत्वान्नात्मा पूर्वनिषेधतः।
अचिन्त्यस्य च कर्तृत्वमप्यचिन्त्यं किमुच्यते ॥ १२१ ॥
तेन किं स्रष्टुमिष्टं च आत्मा चेन्नन्वसौ ध्रुवः।
क्ष्मादिस्वभाव ईशश्च ज्ञानं ज्ञेयादमादि च ॥ १२२ ॥
कर्मणः सुखदुःखे च वद किं तेन निर्मितम्।
हेतोरादिर्न चेदस्ति फलस्यादिः कुतो भवेत् ॥ १२३ ॥

(माध्यमिक)—पृथ्वी आदि भूतों को ईश्वर मानने में अनेक दोष हैं—पृथ्वी आदि भूत अनेक हैं, अनित्य है। अचेतन होने से फल उत्पत्ति के पूर्व इच्छा नही रहती, न ही देवता हैं, वे पांव से दब जाते हैं, अशुचि है, जब कि तुम्हारे मतानुसार, ईश्वर एक है, नित्य है, चेतन है, देवता

है, और शुचि है। आकाश भी इश्वर नहीं, क्योंकि यह अचेतन है, और आत्मा को ईश्वर मानने का मत इससे पूर्व निराकृत हो चुका है। यदि ईश्वर अचिन्त्य है तो तुम उसे समझ नही सकते और उसकी चर्चा भी नहीं हो सकती।

सुख-दुःख की वेदना पूर्व कर्म से होती है, फिर अपनी इच्छा से उस ईश्वर ने किसकी सृष्टि की? (उत्तर)—आत्मा की। (माध्यमिक)—अपना भावी स्वरूप, पृथ्वी आदि भी नित्य मानना चाहिए। परन्तु नित्य में उत्पादक और उत्पाद्य की व्यवस्था नहीं हो सकती।

हम माध्यमिकों का यह सिद्धान्त है कि ज्ञान ज्ञेय से उत्पन्न होता है और अनादिकाल से सुख-दुःख की उत्पत्ति पुण्य और पाप कर्म से होती आई है। ऐसा कोई भी फल या वस्तु नहीं जो ईश्वर ने उत्पन्न किया हो। [अतः 'दशभूमिसूत्र' में कहा गया है कि त्रिधातु चित्त-मात्र है अर्थात् चित्त के शुद्ध या अशुद्ध होने के कारण ही नानाप्रकार के विषय होते हैं। इसलिए चित्त की शुद्धि सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। किन्तु इस का अर्थ यह नहीं कि चित्त से भिन्न कुछ होता ही नहीं, चित्त की प्रक्रिया लोक व्यवहार का आधार है, वह मुख्य हैं, ऐसा इस का अर्थ है।] कोई अनादि ईश्वर-हेतु होता तो वर्तमान वेदना आदि फल सादि नहीं हो सकता और आज की वेदना भी अनादिकाल से उत्पन्न की हुई होनी चाहिए।

कस्मात् सदा न कुरुते नहि सोऽन्यमपेक्षते।
तेनाकृतोऽन्यो नास्त्येव तेनासौ किमपेक्षताम्॥ १२४॥

अपेक्षते चेत्सामग्रीं हेतुर्न पुनरीश्वरः।
नाकर्तुमीशः सामग्र्यां न कर्तुं तदभावतः॥ १२५॥

यदि सब का हेतु ईश्वर होता तो प्रत्येक वस्तु को सदा उत्पन्न होना चाहिए क्योंकि वह किसी और प्रत्यय पर निर्भर नहीं होती। वस्तुओं की उत्पत्ति के लिए ईश्वर को किसी प्रत्यय पर यदि निर्भर रहना हो तो सहकारी-प्रत्यय और उपादान-हेतु प्रत्यय हुये न कि ईश्वर। अतः प्रत्यय पूरा होने पर ईश्वर द्वारा न चाहते हुए भी सृष्टि होगी और प्रत्यय न रहने पर ईश्वर के चाहते हुए भी सृष्टि नहीं हो सकती।

करोत्यनिच्छन्नीशश्चेत्परायत्तः प्रसज्यते।
इच्छन्नपीच्छायत्तः स्यात् कुर्वतः कुत ईशता॥ १२६॥

ईश्वर के न चाहते भी नरक के दुःख आदि की सृष्टि है, अतः वह पराधीन हुआ। इच्छा पर निर्भर होना भी इच्छाधीनता हुयी। कोई ऐसा अनित्य ईश्वर नहीं हो सकता।

येऽपि नित्यानणूनाहु तेऽपि पूर्वंनिवारिताः।
संख्या प्रधानमिच्छन्ति नित्यं लोकस्य कारणम्॥ १२७॥

(वैशेषिक आदि नित्य परमाणु मानने वालों का खण्डन)—वैशेषिक आदि द्वारा नित्य परमाणुओं को जगत् का हेतु मानने का मत पहले परमाणु की परीक्षा के समय निराकृत हो चुका है। अतः यहाँ पुनः चर्चा की आवश्यकता नहीं।

(सांख्य मत के प्रकृति का निषेध)—सांख्य मत के अनुसार नित्य प्रधान जगत् हेतु है, और उस प्रधान की परिभाषा इस प्रकार है—

सत्त्वं रजस्तमश्चेति गुणा अविषमस्थिताः।
प्रधानमिति कथ्यन्ते विषमैर्जगदुच्यते॥ १२८॥

सत्त्व, रजस् तथा तमस् गुणों की साम्यावस्था को प्रधान या प्रकृति

कहते हैं, और उनकी वैषम्यावस्था में स्थित होने पर जगत् या विकृति कहते हैं।

एकस्य त्रिस्वभावत्वमयुक्तं तेन नास्ति तत्।
एवं गुणा न विद्यन्ते प्रत्येकं तेऽपि हि त्रिधा ॥ १२९ ॥

गुणभावे च शब्दादेरस्तित्वमतिदूरतः।
अचेतने न च वस्त्रादौ सुखादेरप्यसंभवः ॥ १३० ॥

(माध्यमिक)—एक प्रधान के तीन स्वभाव होने का अर्थ यह हुआ कि वह परमार्थसत् नहीं हैं। इस प्रकार गुण भी परमार्थसत् नहीं हो सकते क्योंकि उसका भी स्वभाव तीन प्रकार का है। जब गुण ही नहीं रहे तो उत्पन्न होने वाले शब्दादि का परमार्थसत् होना कदापि सम्भव नहीं। अतः अचेतन वस्त्र आदि में सुख-दुःख की वेदना नहीं हो सकती।

तद्धेतुरूपा भावाश्चेन्ननु भावा विचारिताः।
सुखाद्येव च ते हेतुः न च तस्मात्पटादयः ॥ १३१ ॥

अचेतन वस्त्र आदि को सुख-दुःख का परमार्थ हेतु नहीं मान सकते क्योंकि इस मत का निराकरण हो चुका हे। तुम्हारे मतानुसार वस्त्र आदि का हेतु भी सुख आदि की साम्यावस्था प्रधान ही है। परन्तु प्रधान से वस्त्र आदि उत्पन्न नहीं हो सकता क्योंकि प्रधान है ही नहीं।

पटादेस्तु सुखादि स्यात्तदभावात्सुखाद्यसत्।
सुखादीनां च नित्यत्वं कदाचिन्नोपलभ्यते ॥ १३२ ॥

वस्त्र आदि से सुख-दुःख उत्पन्न होता है, ऐसे हेतु से नित्य प्रकृति उत्पन्न नहीं हो सकती क्योंकि सुख आदि सर्वथा अनित्य हैं, किसी भी प्रमाण से वे नित्य सिद्ध नहीं हो सकते।

सत्यमेव सुखव्यक्तौ संवित्तिः किं न गृह्यते ।
तदेव सूक्ष्मतां याति, स्थूलं सूक्ष्मं च तत्कथम् ॥ १३३ ।
स्थौल्यं त्यक्त्वा भवेत् सूक्ष्ममनित्ये स्थौल्यसूक्ष्मते ।
सर्वस्य वस्तुनस्तद्वत् किं नानित्यत्वमिष्यते ॥ १३४ ॥
न स्थौल्यं चेत्सुखादन्यत् सुखस्यानित्यता स्फुटम् ।

(माध्यमिक)—यदि सुख आदि नित्य वस्तु होते, तो दुःख अनुभाव करते समय भी सुख की वेदना होनी चाहिए क्योंकि वे नित्य हैं। (सांख्य)—होता यह है कि दुःख की वेदना होते समय सुख की वेदना बहुत सूक्ष्म अवस्था में रहती हैं। (माध्यमिक)—नित्य धर्म में ऐसा परिवर्तन होता ही नहीं। जिस धर्म का स्थूलता से सूक्ष्मता और सूक्ष्मता से स्थूलता में परिवर्तन होता है वह नित्य हो ही नहीं सकता। इसी प्रकार सभी तत्त्वों को अनित्य स्वीकार करना अच्छा है। स्थूलता सुख से भिन्न होती तो स्थूलता के अभाव में भी सुख का अनुभव होना चाहिए। इससे सुख के स्पष्ट अनुभव को स्थूलता का स्वरूप मानना निराधार सिद्ध हुआ। यदि दोनों अभिन्न हों तो स्थूलता के निरुद्ध होने से सुख का भी निराकरण होगा जिससे सुख भी अनित्य सिद्ध होगा।

नासदुत्पद्यते किंचिदसत्त्वादिति चेन्मतम् ॥ १३५ ॥
व्यक्तस्यासत उत्पत्तिरकामस्यपि ते स्थिता ।
अन्नादौ ऽमेध्यभक्षः स्यात् फलं हेतौ यदि स्थितम् ॥ १३६ ॥
पटार्घेणैव कर्पासबीजं क्रीत्वा निवस्यताम् ।
मोहाच्चेन्नेक्षते लोकः तत्त्वज्ञस्यापि सा स्थितिः ॥ १३७ ॥
लोकस्यापि च तज्ज्ञनमस्ति कस्मान्न पश्यति ।
लोकाप्रमाणतायां चेद् व्यक्तदर्शनमप्यसत् ॥ १३८ ॥

(स्वजातिवाद का निषेध)—(माध्यमिक) यदि हेतु के समय जो फल अव्यक्तावस्था में रहता है उसके ही व्यक्त होने का अर्थ उत्पत्ति है ऐसा मानें तो उसको अव्यक्त-स्थिति की संज्ञा दी जाती है, परन्तु अर्थ यही है कि हेतु में फल स्थित है। यदि ऐसा होता तो अन्नभक्षी को मलभक्षी कहना उचित होगा, अतः कपड़े न खरीदकर कपास के बीजों को खरीदकर पहनना चाहिए।

(सांख्य)—जगत् के लोग मोहवश कपास के बीज में उसका फल कपड़ा नहीं देख पाते इसलिए कपड़ा ही खरीदकर पहनते हैं। परन्तु स्वभाव से दोनों एक हैं। (माध्यमिक)—फिर द्वैपायन आदि जिन्हें तुम तत्त्वज्ञानी मानते हो वे लोग भी कपड़ा ही क्यों खरीदकर पहनते हैं? यही नहीं तुम्हारे मतानुसार जगत् भी तत्त्वज्ञानी होता है, फिर वह हेतु में फल को क्यों नहीं देखता?

(सांख्य)—लौकिक-ज्ञान प्रमाण नहीं होता, इसलिए वह नहीं जानता। (माध्यमिक)—फिर तो जगत् से देखे जाने वाले व्यक्तदर्शन भी असत्य सिद्ध हुए। (ऐसा मानने पर भी माध्यमिकों पर कोई दोष नहीं सिद्ध होता जिसकी चर्चा आगे आती है।)—

प्रमाणमप्रमाणं चेन्ननु तत्प्रमितं मृषा।
तत्त्वतः शून्यता तस्माद् भावानां नोपपद्यते ।। १३९ ।।

(सांख्यों का आक्षेप)—तुम माध्यमिकों के मत में भी यदि प्रमाण परमार्थ में प्रमाण न होता तो प्रमिति विषय भी भ्रान्त और मिथ्या सिद्ध होता। इसलिए तुम्हारे मत में शुन्यता की भावना भी भ्रान्त होगी, क्योंकि उससे प्रमिति करने वाला ज्ञान मिथ्या है।

कल्पितं भावमस्पृष्ट्वा तदभावो न गृह्यते।
तस्माद् भावो मृषा यो हि तस्याभावः स्फुटं मृषा ।। १४० ।।

तस्मात्स्वप्ने सुते नष्टे स नास्तीति विकल्पना।
तद्भावकल्पनोत्पादं विबध्नाति मृषा च सा ॥ १४१ ॥
तस्मादेवं विचारेण नास्ति किंचिदहेतुतः।

(माध्यमिकों का समाधान)—सत्य धारणा से कल्पित भाव की अच्छी तरह कल्पना किये विना उसके अभाव या शून्यता को समझ नहीं सकते, अर्थात् निरात्म के स्पष्ट ज्ञान के लिए आत्मा क्या है जानना अनिवार्य है। अतः जब निषिद्ध कल्पित भाव मिथ्या है, उसका अभाव या शून्यता भी स्पष्ट ही मिथ्या सिद्ध होता है, और वह स्वभाव से असिद्ध है। [अब यह प्रश्न आता है कि परमार्थ क्या है ? परमार्थ शब्द के दो अर्थ हैं, प्रथमतः सब धर्म असत्य है, परमार्थतः सभी धर्म शून्य हैं, इस अर्थ में, और दूसरे, परमार्थसत्य का अर्थ है—निषेध्य के स्वयं में असत् (सतसिद्धनिषेध्य न) होने से शून्यता भी परमार्थतः सिद्ध नहीं है, परन्तु श्रुत और चिंतन-मनन के प्रज्ञान के लिए शून्यता परमार्थ है। और उस प्रज्ञान का विषय है।] इसलिए, जैसे पुत्र की मृत्यु के स्वप्न के कारण, पुत्र के न होने की मिथ्या कल्पना भी उस पुत्र के होने की कल्पना का रोधक होती है, वैसे ही मिथ्या प्रमाण के द्वारा मिथ्या विषयों के विश्लेषण और मिथ्या प्रतिपक्ष से मिथ्या त्याज्य का निराकरण होना हम लोगों के मत में संभव है, परन्तु तुम सांख्य लोग सभी वस्तुओं को सत्यसिद्ध मानने के कारण, ऐसी व्यवस्था स्थापित नहीं कर सकते। इस प्रकार की परीक्षा से यह सिद्ध हुआ कि ईश्वर, प्रकृति आदि विपरीत हेतुओं से जगत् उत्पन्न नहीं होता और न ही कोई भी फल विना किसी हेतु के उत्पन्न होता है।

न च व्यस्तसमस्तेषु प्रत्ययेषु व्यवस्थितम् ॥ १४२ ॥
अन्यतो नापि चायातं न तिष्ठति न गच्छति।
मायातः को विशेषोऽस्य यन्मूढैः सत्यतः कृतम् ॥ १४३ ॥

मायया निर्मितं यच्च हेतुभिर्यच्च निर्मितम्।
आयाति तत्कुतः कुत्र याति चेति निरूप्यताम् ॥ १४४ ॥

(स्व तथा पर दोनों में स्वभावतः उत्पत्ति का निषेध)—अंकुर आदि फल या पदार्थ पृथक् अवस्था में या उनकी संयुक्त अवस्था अथवा किसी भी अवस्था में स्वभावतः वर्तमान नहीं होते। न ही उन प्रत्ययों से दूर कहीं से आते हैं, न स्वभावतः सिद्ध होकर वर्तमान रहते हैं और न निरुद्ध होने पर कहीं अन्यत्र जाते हैं। अतएव न स्वभावतः, न स्वयं, न परतः और न दोनों से उत्पन्न होते हैं। मोहवश, जो इसे परमार्थसत् मानता हैं, वह माया से कुछ भिन्न गुण नहीं रखता। जो माया से निर्मित है और जिसका निर्माण हेतुओं से होता है, वह कहाँ से आता है और कहाँ जाता है, इसपर तर्कसंगत विचार करना आवश्यक है।

यदन्यसंनिधानेन दृष्टं न तदभावतः।
प्रतिबिम्बसमे तस्मिन् कृत्रिमे सत्यता कथम् ॥ १४५ ॥

(प्रतीत्यसमुत्पाद का तर्क)—जो पदार्थ या फल अपने अपने हेतु के सामीप्य से उत्पन्न होते दिखाई देते हैं, और उस हेतु के विना उत्पन्न नहीं होते, वे स्वभावतः और स्वतन्त्रतः उत्पन्न नहीं हो सकते, क्योंकि वे दूसरे प्रत्यय और हेतुओं पर निर्भर हैं, जैसा कि प्रतिबिम्ब है, वैसे ही असत्य हैं। (इस तर्क से स्वभावतः होना और सर्वथा न होना दोनों अन्त दूर होता है।)

विद्यमानस्य भावस्य हेतुना किं प्रयोजनम्।
अथाप्यविद्यमानोऽसौ हेतुना किं प्रयोजनम् ॥ १४६ ॥

यदि पदार्थ स्वभाव और सत् हो तो हेतु से कोई प्रयोजन नहीं और फल न होने पर भी कोई प्रयोजन नहीं।

नाभावस्य विकारोऽस्ति हेतुकोटिशतैरपि ।
तदवस्थः कथं भावः को वान्यो भावतां गतः ॥ १४७ ॥

(भावाभाव उत्पत्ति निषेध)—जो है उसको उत्पन्न करने में हेतु का प्रयोजन नहीं, परन्तु जो नहीं है उसे उत्पन्न करने के लिए हेतु का प्रयोजन होता है, ऐसा तर्क देना भी असंगत है, क्योंकि जो नहीं है उसे शतकोटि हेतुओं से भी भावरूप में परिवर्तित नहीं कर सकते । यही नहीं, अभाव का स्वरूप न त्यागकर उसका विपरीत भाव अवस्था में होना भी स्वीकार नहीं कर सकते, क्योंकि दोनों अवस्थायें एक-दूसरे के विपरीत हैं ।

नाभावकाले भावश्चेत् कदा भावो भविष्यति ।
नाजातेन हि भावेन सोऽभावोऽपगमिष्यति ॥ १४८ ॥
न चानपगतेऽभावे भावावसरसंभवः ।
भावश्चाभावतां नैति द्विस्वभावप्रसंगतः ॥ १४९ ॥

यदि परिवर्तित होता हो, तो या तो भाव से परिवर्तित होना चाहिए या अभाव से। अभाव अवस्था खोये विना भाव नहीं हो सकता और अभाव अभाव-अवस्था खोकर परिवर्तित होता हो, तो भी उचित नहीं क्योंकि विना पदार्थ उत्पन्न हुए अभाव का त्याग नहीं होगा और विना अभावावस्था छोड़े भावावस्था होना असंभव है, क्योंकि दोनों अवस्थायें परस्पर विरुद्ध हैं। जैसे अभाव भाव में परिवर्तित नहीं होता, उसी प्रकार भाव भी अभाव में बदल नहीं सकता, नहीं तो एक में दो परस्पर-विरोधी स्वभाव स्वीकार करने पड़ेंगे ।

एवं च न निरोधोऽस्ति न च भावोऽस्ति सर्वदा ।
अजातमनिरुद्धं च तस्मात्सर्वमिदं जगत् ॥ १५० ॥

इस प्रकार स्वभाव से उत्पन्न न होने की परीक्षा से सिद्ध होता

है कि स्वभावतः न पदार्थ हैं, न उनकी उत्पत्ति है और न निषेध है। अतः यह समस्त जगत् सर्वदा अजात, अनिरुद्ध और स्वभाव से परिनिर्वृत है।

[इसलिए परमार्थसत् में, जैसा 'मध्यमककारिका' में कहा गया है—

"न स्वतो, नऽपि परतो, न द्वाभ्यां, नाप्यहेतुतः।
उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन ॥"

किसी प्रकार की उत्पत्ति, वर्तमान सत्ता, निरोध आदि कुछ नहीं होता। मिलारेस्पा के दोहे में "परमार्थसत् में न पुण्य है, न बुद्ध है, न धर्म है, न पुद्गल है, फिर भी व्यावहारिक चित्त के आधार पर सब कुछ होता है" ऐसी देशना है। इन सब बातों का भी यही अर्थ है।

स्वप्नोपमास्तु गतयो विचारे कदलीसमाः।
निर्वृतानिर्वृतानां च विशेषो नास्ति वस्तुतः ॥ १५१ ॥

इस प्रकार की माया और स्वप्न के तरह जगत् की परीक्षा करने से परमार्थतः वह कदली स्तंभ के समान निःसार हैं, और सांसारिक बंधन तथा मुक्ति में भी कोई अन्तर नहीं।

एवं शून्येषु धर्मेषु किं लब्धं किं हृतं भवेत्।
सत्कृतः परिभूतो वा केन कः संभविष्यति ॥ १५२ ॥

कुतः सुखं वा दुःखं वा किं प्रियं वा किमप्रियम्।
का तृष्णा कुत्र वा तृष्णा मृग्यमाणा स्वभावतः ॥ १५३ ॥

(अतएव शून्यता की भावना करनी चाहिए क्योंकि) इस प्रकार सभी को शून्य समझने पर सत्कार प्राप्ति के राग नहीं होगा, और सत्कार आदि खोने पर क्रोध भी नहीं होगा। किससे किसके आदर या तिरस्कार से लाभ या हानि होगी? जब शून्य है, तो प्रिय मित्रबन्धु

और अप्रिय शत्रु भी कहाँ है ? वास्तविकता के खोजने पर कौन किसकी तृष्णा करें, ऐसा कोई उचित आधार नहीं मिलता।

विचारे जीवलोकः कः को नामात्र मरिष्यति ।
को भविष्यति को भूतः को बन्धुः कस्य कः सुहृत् ॥ १५४ ॥
सर्वमाकाशसंकाशं परिगृह्णन्तु मद्विधाः ।

इस प्रकार कर्म और कर्म-संचित करने वालों पर विचार करें, तो कौन जीवितलोक इस संसार में मरता है, कौन होगा, कौन हुआ ? कौन किसका बन्धु है ? कौन किसका मित्र ? अर्थात् परमार्थ में ऐसा कुछ भी नहीं होता। अतएव, हम आप जैसे लोगों को सभी धर्म आकाशवत् शून्य समझना चाहिए, जिससे सांसारिक-बंधन तोड़कर सर्वज्ञता मार्ग प्राप्त हों।

इस तरह की परीक्षा से शून्य, असत्य और अनात्म होने पर भी दूषित धारणा के कारण जैसा दिखाई देता है वैसा ही वास्तव में होने का विश्वास होता है, जो आत्म-परिग्रहण से प्रेरित होता है। शून्यता के ज्ञान के कारण सत्य-धारणा से काम-क्रोध, राग-द्वेष आदि उत्पन्न होने पर निःस्वभाव और निरात्मा का विचार हो सकेगा जिससे दोषों की निवृत्ति होती है और श्रद्धा, मैत्री, करुणा आदि के लिए शून्यता का ज्ञान कभी बाधक नहीं होगा। यह स्पष्ट है कि प्रारम्भिक अवस्था में करूणा आदि के अभ्यास में सत्य-धारणा कुछ हद तक सहायाक सिद्ध हो सकती है फिर भी अपनी भावना या चिंतन में अभ्यस्त हो जाने पर आवश्यक नहीं होती। शून्यता-ज्ञान से भी प्रभावशाली सहारा मिलता है। संक्षेप में शून्यता का ज्ञान काम-क्रोध आदि में सहायता देने वाले आत्मा-परिग्रहण का निषेधक होता है, तथा करुणा आदि के अभ्यास में सहायक

सिद्ध होता है। यही कारण है कि यहाँ पर नैरात्म्य और शून्यता की स्थापना के लिए बहुत लम्बा तर्क-वितर्क दिया गया है।]

प्रहृष्यन्ति प्रकुप्यन्ति कलहोत्सवहेतुभिः ॥ १५५ ॥
शोकायासैर्विषादैश्च मिथश्छेदनभेदनैः ।
यापयन्ति सुकृच्छ्रेणपा पैरात्मसुखेच्छवः ॥ १५६ ॥
मृताः पतन्त्यपायेषु दीर्घतीव्रव्यथेषु च ।
आगत्यागत्य सुगतिं भूत्वा भूत्वा सुखोचिताः ॥ १५७ ॥

इसके विपरीत हम लोग जीवनकाल में अपनी सुख-सुविधा के लिए प्रयत्न करते हैं, परन्तु दुःख ही दुःख मिलता है। जैसे—कोई शत्रु पर संघर्ष से क्रोधित होता है और मित्रों के साथ हर्ष-उत्सव पर प्रसन्न होता है। अभीष्ट पूर्ति के लिए श्रम करने पर विफलता होने से शोक और विषाद उत्पन्न होते हैं, दूसरों से विवाद करने लगते हैं। परस्पर मार-काट होती है और अनेक प्रकार के पाप कमाते हुए दुःख ही दुःख में जीवन व्यतीत होता है। कल्याण-मित्र की सत्संगति होने पर अल्पकाल के लिए बारम्बार सुगति प्राप्त करने पर भी सुख-आनन्द भोगकर, फिर मरने के बाद पापवश अनन्त कल्पों तक नरक की असह्य-व्यथा में पतित होना पड़ता है

भवे बहुप्रपातश्च तत्र चातत्त्वमीदृशम् ।
तत्रान्योन्यविरोधश्च न भवेत् तत्त्वमीदृशम् ॥ १५८ ॥

*(संसार के दोष पर विचार)—तत्त्व-ज्ञान के विना काम, रूप और अरूप भव जगत् में दुःख पीड़ा की खाई में बार-बार गिरना पड़ता है। ऐसी अवस्था में भी मोक्ष के प्रतिकूल अनेक आचरणों के कारण संसार में

---

* यहाँ से इस परिच्छेद के अन्त तक रिकार्डिङ्ग प्राप्त नहीं हो पाया।

निरन्तर घूमना पड़ता है। अतः तत्त्वज्ञान प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

> तत्र चानुपमास्तीव्रा अनन्तदुःखसागराः।
> तत्रैवमल्पबलता तत्राप्यल्पत्वमायुषः ॥ १५९ ॥
> तत्रापि जीवितारोग्यव्यापारैः क्षुत्क्लमश्रमैः।
> निद्रयोपद्रवैर्बालसंसर्गैर्निष्फलैस्तथा ॥ १६० ॥
> वृथैवायुर्वहत्याशु विवेकस्तु सुदुर्लभाः।
> तत्राप्यभ्यस्तविक्षेपनिवारणगतिः कुतः ॥ १६१ ॥

इस भव में अनन्त दुःख के समुद्र हैं। सुगति प्राप्ति होने पर भी बहुत कम पुण्य की कमाई, आयु की अल्पता, जीने की इच्छा से स्नान आदि शरीर की सेवा, रोग दूर करने हेतु ओषधि का सेवन, भूख-प्यास दूर करने की दौड़-धूप, श्रम की थकावट, निद्रा, बाहरी उपद्रव और पृथग्जनों की कुसंगति के व्यर्थ कार्यों में ही जीवन बीत जाता है। ऐसे अवसर में विवेक बहुत दुर्लभ है और अनादि-कालिक अभ्यास के कारण भावना आदि में चित्त एकाग्र न होकर चंचलतावश भटक जाता है, उसे नियन्त्रित करना कठिन है।

> तत्रापि मारो यतते महापायनिपातने।
> तत्रासन्मार्गबाहुल्याद् विचिकित्सा च दुर्जया ॥ १६२ ॥
> पुनश्च क्षणदौर्लभ्यं बुद्धोत्पादोऽतिदुर्लभः।
> क्लेशौघो दुर्निवारश्चेत्यहो दुःखपरम्परा ॥ १६३ ॥

सुगति प्राप्त होने पर भी देवपुत्र, मार आदि इसी प्रयत्न में लगे हुए हैं कि इस प्राणी को महानरक में गिरा दे। यही नहीं, उस परिस्थिति में अनेक मिथ्या-मार्ग (मत) प्रचलित होने के कारण विशुद्ध मार्ग को अपनाने में नानाप्रकार के संदेह से मुक्त होना कठिन होता है।

इसलिए आज कल्याण-मित्र और गुरुजनों के सत्संगत के सुअवसर के समय यथासंभव प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि फिर क्षणसंपत्ति दुर्लभ है। यही नहीं जगत् में बुद्ध का आना और सद्धर्म से संपर्क होना और भी अधिक दुर्लभ है। क्लेशों की नदी को पारकर मुक्त होना अत्यन्त कठिन है। दुःखों की यह सिलसिला निरन्तर चलती रहती है।

अहो बतातिशोच्यत्वमेषां दुःखौघवर्तिनाम्।
ये नेक्षन्ते स्वदौःस्थित्यमेवमप्यतिदुःथिस्ताः ॥ १६४ ॥

इस प्रकार दुःख की बाढ़ में डूबे रहने पर भी दुःख को दुःख न देखने वाले प्राणी शोचनीय और करुणा के पात्र है।

स्नात्वा स्नात्वा यथा कश्चिद् विशेद् वह्नि मुहुर्मुहुः।
स्वसौस्थित्यं च मन्यन्ते एवमप्यतिदुःस्थिताः ॥ १६५ ॥

अजरामरलीलानामेवं विहरतां सताम्।
आयास्यन्त्यापदो घोराः कृत्वा मरणमग्रतः॥ १६६ ॥

जैसे किसी को बार-बार अत्यन्त ठंढ़े पानी में डुबाकर फिर आग में तपाने और फिर पानी में डुबोने के कष्ट को सुख समझते हैं, वैसे ही सांसारिक दुःख को सुख समझकर अजर और अमर की तरह विलासपूर्ण जीवन व्यतीत करनेवाले प्राणियों के सामने मृत्यु सर्वप्रथम आकर तीनों दुर्गतियों की घोर विपत्तियों में गिराता है।

एवं दुःखाग्नितप्तानां शान्ति कुर्यामहं कदा।
पुण्यमेघसमुद्भूतैः सुखोपकरणैः स्वकैः ॥ १६७ ॥

(परिणामना)—इस प्रकार अनेक दुःखों की अग्नि से पीड़ित प्राणी मेरे दान आदि पुण्यों के पवित्र मेघ से बरसने वाले ओषधि, आहार आदि से

सुखी हो। मुझे ऐसी शक्ति मिले कि मैं उन सबका दुःख दूर कर सकूँ। इस प्रकार करुणा का अभ्यास करना चाहिए।

कदोपलंभदृष्टिभ्यो देशयिष्यामि शून्यताम्।
संवृत्यानुपलंभेन पुण्यसंभारमादरात्॥ १६८॥

(सांसारिक दुःखों से मुक्ति के लिए परिणामना)—"तत्त्व-ज्ञान के लिए त्रिकोटि परिशुद्ध दान आदि को व्यवहार में अपनाकर पुण्य संचय करके सत्य-दृष्टि के कारण संसार में भटकने वाले प्राणियों का दुःख दूर करने के लिए मैं शून्यता की देशना देने में समर्थ होऊँ" ऐसा संकल्प और प्ररिणामना करनी चाहिए और शून्यता ज्ञान के लिए भावना करनी चाहिए।

॥ प्रज्ञापारमिता नामक नवम परिच्छेद समाप्त ॥

दशम परिच्छेद

परिणामना

जैसे कहा गया है कि समुद्र में गिरी एक बूंद भी उस समय तक समाप्त नहीं होती जब तक कि वह समुद्र सूख नहीं जाता। उसी प्रकार बोधि प्राप्ति के लिए परिणामना किये पुण्य भी समाप्त नहीं होते जब तक बोधि प्राप्ति नहीं हो जाती। किसी भी पुण्य का यथेष्ट फल प्राप्त करने के लिए (बोधि)—परिणामना करनी अतिआवश्यक है। अतः यहां बोधि-चर्यावतार में भी अन्त में बोधि-परिणामना का यह परिच्छेद आता है जिसका हमें अनुसरण करना है।

बोधिचर्यावतारं मे यद्विचिन्तयतः शुभम्।
तेन सर्वे जनाः सन्तु बोधिचर्याविभूषणाः॥ १॥

बोधिचर्यावतार की रचना, अध्ययन-अध्यापन और चिंतन से मुझे जो कुछ पुण्य प्राप्त हुआ हो, उससे समस्त जगत् के प्राणी बोधिचर्या के यथार्थ आचरण में प्रविष्ट हो जायें।

सर्वासु दिक्षु यावन्तः कायचित्तव्यथातुराः।
ते प्राप्नुवन्तु मत्पुण्यैः सुखप्रामोद्यसागराः॥ २॥

सभी दिशाओं में जो कोई भी शारीरिक और मानसिक व्यथाओं से पीड़ित हैं, वे मेरे पुण्यों से उन सभी व्यथाओं से मुक्त होकर सुख-आनन्द का समुद्र प्राप्त करें।

असंसारं सुखज्यानिर्मा भूत् तेषां कदाचन।
बोधिसत्त्वसुखं प्राप्तं भवत्वविरतं जगत् ॥ ३ ॥

जब तक प्राणी संसार में रहें उनको निरन्तर सुख प्राप्त हो और अन्त में सर्वोत्तम बोधि का सुख मिले।

यावन्तो नरकाः केचिद् विद्यन्ते लोकधातुषु।
सुखावतीसुखामोदैर्मोदन्तां तेषु देहिनः ॥ ४ ॥

लोक-धातुओं में जितने भी शीत और तप्त नरक हैं, उनके सभी प्राणी नरक के दुःखों से मुक्त होकर सुखावतीक्षेत्र के सुख से प्रमुदित हो।

शीतार्ताः प्राप्नुवन्तूष्णमुष्णार्ताः सन्तु शीतलाः।
बोधिसत्त्वमहामेघसंभवैर्जलसागरैः ॥ ५ ॥

शीत-नरक से पीड़ित प्राणियों की राहत के लिए गरमी मिले। बोधि-सत्वों के संभार के महामेघों से उत्पन्न जल, नरक के ताप से पीड़ित प्राणियों को शीतलता प्रदान करे।

असिपत्रवनं तेषां स्यान्नन्दनवनद्युतिः।
कूटशाल्मलिवृक्षाश्च जायन्तां कल्पपादपाः ॥ ६ ॥

कादंबकारण्डवचक्रवाकहंसादिकोलाहलरम्यशोभैः।
सरोभिरुद्दामसरोजगन्धैर्भवन्तु हृद्या नरकप्रदेशाः ॥ ७ ॥

तप्त-नरक के आस-पास के असिपत्र-वन उन नारकी-प्राणियों के लिए नन्दन-वन में परिवर्तित हों, शालमलिवृक्ष भी देवलोक के कल्पवृक्ष बनें, तथा वह नरक-प्रदेश कादंब, कारंडव, चक्रवाक, हंस, सारस और सुगंधित कमलों से सुशोभित सुन्दर सरोवरों से मनोहर हो।

सोऽङ्गारराशिर्मणिराशिरस्तु तप्ता च भूः स्फाटिककुट्टिमं स्यात् ।
भवन्तु संघातमहीधराश्च पूजाविमानाः सुगतप्रपूर्णाः ॥ ८ ॥

नरक के जलते अंगार विभिन्न प्रकार की मणिराशि हो जायें, ताप से जलती भूमि निर्मल स्फटिक बने। संघात-नरक के पर्वत बुद्ध पूजा के विमानों में परिवर्तित हों तथा उनमें तथागत बुद्ध अधिष्ठित हो।

अङ्गारतप्तोपलशस्त्रवृष्टिरद्यप्रभृत्यस्तु च पुष्पवृष्टिः ।
तच्छस्त्रयुद्धं च परस्परेण क्रीडार्थमद्यास्तु च पुष्पयुद्धम् ॥ ९ ॥

नरक के अंगार, जलते पत्थर और विभिन्न शस्त्रों की वर्षा आज से पुष्पवर्षा बनें और आपस के ये शास्त्र युद्ध भी आज से क्रीड़ा में परिवर्तित हो जायें तथा एक दूसरे पर फूलों की वर्षा करे।

पतितसकलमांसाः कुन्दवर्णास्थिदेहा
दहनसमजलायां वैतरण्यां निमग्नाः ।
मम कुशलबलेन प्राप्तदिव्यात्मभावाः
सह सुरवनिताभिः सन्तु मन्दाकिनीस्थाः ॥ १० ॥

अग्नि के समान दहकते हुए वैतरणी-जल में डूबने के कारण मांस गिर जाने से जिन प्राणियों की हड्डियाँ कुन्द फूल की तरह श्वेत हो गई हों, उन्हें मेरे पुण्यबल से दिव्य शरीर प्राप्त हो और वे मंदाकिनी में देवियों के साथ आनन्दपूर्वक विहार करें।

त्रस्ताः पश्यन्त्वकस्मादिह यमपुरुषाः काकगृध्राश्च घोरा
ध्वान्तं ध्वस्तं समन्तात् सुखरतिजननी कस्य सौम्या प्रभेयं ।
इत्यूर्ध्वं प्रेक्षमाणा गगनतलतलं वज्रपाणिं ज्वलन्तम्
दृष्ट्वा प्रामोद्यवेगाद् व्यपगतदुरिता यान्तु तेनैव सार्धं ॥ ११ ॥

एकाएक नरक का वातावरण बदल जाने पर आश्चर्य से कि यहां नरक के अंधकार में यमदूत, काक, गृद्ध आदि का भय और दुःख ही दुःख रहा है फिर यह अचानक सुखावसर कैसे? यह किसकी सौम्य प्रभा है? जिससे अंधकार नष्ट हो गया और नरक में सुख का वातावरण छा गया, ऐसा सोचते हुए जब ऊपर देखें तो उन्हें आकाश में वज्रपाणि बोधिसत्त्व का दर्शन हो तथा वे उनकी शरण-प्राप्ति के हर्ष के प्रभाव से निष्पाप होकर उस बोधिसत्त्व के साथ विचरण करें।

पतति कमलवृष्टिर्गन्धपानीयमिश्राऽ-
शमितनरकवह्निं दृश्यते नाशयन्ती।
किमिदमिति सुखेनाह्लादितं नाम
कस्माद् भवतु कमलपाणेर्दर्शनं नारकाणाम् ॥ १२ ॥

फूलों से मिश्रित सुगन्धित वर्षा के जल से नरक की दहकती अग्नि को तुरन्त बुझाते देख, आनन्दित होकर नारकीय जब सोचें कि यह सब किसकी कृपा से हो रहा है? तो उनको पद्मपाणि (बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर) का दर्शन हो।

आयातायात शीघ्रं भयमपनयत भ्रातरो जीविताः स्म
संप्राप्तोऽस्माकमेष ज्वलदभयकरः कोऽपि चीरीकुमारः।
सर्वं यस्यानुभावाद् व्यसनमपगतं प्रीतिवेगाः प्रवृत्ता
जातं संबोधिचित्तं सकलजनपरित्राणमाता दया च ॥ १३ ॥

पश्यन्त्वेनं भवन्तः सुरशतमुकुटैरर्च्यमानाङ्घ्रिपद्मं
कारुण्यादार्द्रदृष्टिं शिरसि निपतितानेकपुष्पौघवृष्टिम्।
कूटागारैर्मनोज्ञैः स्तुतिमुखरसुरस्त्रीसहस्रोपगीतैर्
दृष्ट्वाग्रे मंजुघोषं भवतु कलकलः सांप्रतं नारकाणाम् ॥ १४ ॥

भाइयो ! भय दूर करो ! शीघ्र हमारे पास आओ ! फिर, अभयकारी सुकुमार बोधिसत्त्व आ पहुँचे हैं, जिनके प्रताप से सभी दुःख दूर हो गये और सुख-आनन्द छा गया, ऐसा एक दूसरे को पुकारें, और उनको उन मंजुघोष का दर्शन हो जिनका चरण-कमल शत-शत देवताओं के मुकुटों से पूजित हो रहे हों, और सहस्रों सुरांगनाओं की स्तुतिओं से गूंजने वाले देव कूटागारों में कोलाहल मच गया हो, सिर पर देव पुष्प-वर्षा कर रहे हो, बोधिसत्त्व की आँखें करुणा से अर्द्र हो, ऐसा विचित्र दृश्य देखने को मिले।

इति मत्कुशलैः समन्तभद्रमुखानावृतबोधिसत्त्वमेघान् ।
सुखशीतसुगन्धवातवृष्टीनभिनन्दन्तु विलोक्य नारकास्ते ॥ १५ ॥

इस प्रकार मेरे पुण्यों के प्रभाव से समंतभद्र, आकाशगर्भ आदि अपने प्रणिधान के बल वाले बोधिसत्त्वों के विमलमेघ से सुखद, शीतल और सुगंधित वर्षा होते देखकर नारकीय-प्राणी आनन्दित हों।

अन्योन्यभक्षणभयं तिरश्चामपगच्छतु ।
भवन्तु सुखिनः प्रेता यथोत्तरकुरौ नराः ॥ १६ ॥[1]
संतर्प्यन्तां प्रताः स्नाप्यन्तां शीतला भवन्तु सदा ।
आर्यावलोकितेश्वरकरगलितक्षीरधाराभिः ॥ १७ ॥

पशु-पक्षियों में परस्पर भक्षण दूर हों और प्रेत भी उत्तरकुरु के मनुष्यों की भांति सुखी हों।

आर्य अवलोकितेश्वर के कर-कमलों से निकली दूध की अमृत धाराओं से प्रेत जगत् सदा तृप्त हो और उनके स्नान से शीतल रहें।

अंधाः पश्यन्तु रूपाणि श्रृण्वन्तु बधिराः सदा ।
गर्भिण्यश्च प्रसूयन्तां मायादेवीव निर्व्यथाः ॥ १८ ॥

वस्त्रभोजनपानीयं स्त्रक्चन्दनविभूषणम् ।
मनोऽभिलाषितं सर्वं लभन्तां हितसंहितम् ॥ १९ ॥

अन्धे को सदा रूप दिखाई दे, बहरे को शब्द सुनाई दे और गर्भवती स्त्रियों को प्रसव भी विना व्यथा के हो, जैसे मायादेवी को हुई ।

निर्वस्त्र को वस्त्र, भूखे को भोजन, प्यासे को जल तथा स्वादिष्ट पेय प्राप्त हों । निर्धन को धन मिले, शोक पीडित को आनन्द मिले, निराश को उत्साह और धृति प्राप्ति हो ।

भीताश्च निर्भयाः सन्तु शोकार्ताः प्रीतिलाभिनः ।
उद्विग्नाश्च निरुद्वेगा धृतिमन्तो भवन्तु च ॥ २० ॥[2]

भयभीत लोगों का भय दूर हो, बन्धन में पड़े लोग बन्धन से मुक्त हो, दुर्बल लोग बलवान् बनें और परस्पर प्रेम व्यवहार हों ।

{ शाम्यन्तु वेदनास्तीव्रा नारकाणां भयानि च ।
दुर्गतिभ्यो विमुच्यन्तां सर्वदुर्गतिवासिनः ॥ २१ ॥[3] }

आरोग्यं रोगिणामस्तु मुच्यन्तां सर्वबन्धनात् ।
दुर्बला बलिनः सन्तु स्निग्धचित्ताः परस्परम् ॥ २२ ॥

जितने भी रोगी प्राणी हैं वे तुरन्त निरोग हों, और जगत् के समस्त रोगों का निराकरण हों ।

सर्वा दिशः शिवाः सन्तु सर्वेषां पथिवर्तिनाम् ।
येन कार्येण गच्छन्ति तदुपायेन सिध्यतु ॥ २३ ॥
नौयानयात्रारूढाश्च सन्तु सिद्धमनोरथाः ।
क्षेमेण कूलमासाद्य रमन्तां सह बन्धुभिः ॥ २४ ॥

---

1. १६ से २० तक का श्लोक संख्या तिब्बती पाठानुसार है ।
2. तिब्बती पाठ में २०वाँ श्लोक के अन्तिम दो चरण नहीं है ।
3. यह श्लोक तिब्बती पाठ में नहीं मिला और इन श्लोकों में अनेक पाठान्तर भी है ।

पथिकों के लिए हर दिशा मंगलमय हो, वे जिस कार्य के लिए यात्रा करें वह कार्य अनायास सिद्ध हो। नाव तथा जहाज के द्वारा जल-यात्रा करने वालों का मनोरथ सिद्ध हो। वे सरलता से तट पर पहुँचकर अपने बन्धुओं के साथ आनन्दपूर्वक विहार करें।

कान्तारोन्मार्गपतिता लभन्तां सार्थसंगतिम्।
अश्रमेण च गच्छन्तु चौरव्याघ्रादिनिर्भयाः ॥ २५ ॥

इसी प्रकार कान्तार आदि निर्जन स्थानों में राह भटके लोगों को सह-यात्री मिलें और चोर, बटमार आदि एवं हिंस्र व्याघ्र आदि के भय से मुक्त आसान यात्रा हो।

सुप्तप्रमत्तमत्तानां व्यध्वारण्यादिसंकटे।
अनाथबालवृद्धानां रक्षां कुर्वन्तु देवताः ॥ २६ ॥

जंगल आदि निर्जन में राह भटककर सोए अनाथ, बाल और वृद्ध आदि की देवता रक्षा करें।

सर्वाक्षणविनिर्मुक्ताः श्रद्धाप्रज्ञाकृपान्विताः।
आकाराचारसंपन्नाः सन्तु जातिस्मराः सदा ॥ २७ ॥
भवन्त्वक्षयकोषाश्च यावद् गगनगंजवत्।
निर्द्वन्द्वा निरुपायासाः सन्तु स्वाधीनवृत्तयः ॥ २८ ॥

(विशेषकर मनुष्य जन्म पाकर) अष्ट-अक्षणों से मुक्त हो, श्रद्धा, प्रज्ञा तथा परोपकार की करुणा से युक्त हों, जीविका तथा शीलाचरण से सम्पन्न और सदा पूर्व-जन्म स्मरणकारी हों। निर्धन लोगों को आकाश-व्यापक कोष सम्पत्ति प्राप्त होने के समान अक्षय की कोश प्राप्त हों, परस्पर निर्द्वन्द और हानि रहित हों, और सब की अपनी स्वतन्त्र जीविका हो।

अल्पौजसश्च ये सत्त्वास्ते भवन्तु महौजसः ।
भवन्तु रूपसंपन्ना ये विरूपास्तपस्विनः ॥ २९ ॥

दूसरों से अपमानित अल्प-ओजस्वी लोग महान-ओजस्वी बनें और धूप, हवा या परिश्रम से पीड़ित कुरूप लोग सुन्दर हों।

याः काश्चन स्त्रियो लोके पुरुषत्वं व्रजन्तुताः ।
प्राप्नुवन्तु च तां नीचा हतमाना भवन्तु च ॥ ३० ॥

लोकमें जितनी स्त्रियाँ हैं वे पुरुष बन जायँ। नीच जन्म वालों को ऊँच जन्म मिले और इस पर उन्हें अभिमान न हो।

अनेन मम पुण्येन सर्वसत्त्वा अशेषतः ।
विरम्य सर्वपापेभ्यः कुर्वन्तु कुशलं सदा ॥ ३१ ॥
बोधिचित्ताविरहिता बोधिचर्यापरायणाः ।
बुद्धैः परिगृहीताश्च मारकर्मविवर्जिताः ॥ ३२ ॥

बोधिचर्या अभ्यास आदि के मेरे पुण्य के कारण सभी प्राणी, हत्या आदि पापकर्म से दूर रहें और सदा पुण्यकर्म में व्यस्त रहें। वे कभी बोधिचित्त से हीन न हों, सदा बोधिचर्या के अभ्यास में लगे रहें। उन प्राणियों पर बुद्धों का अनुग्रह हो और सभी मारकर्म से दूर रहें।

अप्रमेयायुषश्चैव सर्वसत्त्वा भवन्तु ते ।
नित्यं जीवन्तु सुखिता मृत्युशब्दोऽपि नश्यतु ॥ ३३ ॥

उन प्राणियों की आयु अपार हो, जीवन सदा सुखी हो और मृत्यु का फन्द न रहे।

रम्याः कल्पद्रुमोद्यानैः दिशः सर्वाः भवन्तु च ।
बुद्धबुद्धात्मजाकीर्णधर्मध्वनिमनोहरैः ॥ ३४ ॥

शर्करादिव्यपेता च समा पाणितलोपमा।
मृद्वी च वैडूर्यमयी भूमिः सर्वत्र तिष्ठतु॥ ३५॥

सभी दिशाएँ बुद्ध तथा बोधिसत्त्वों की धर्मध्वनि से गूंजने वाले कल्प-वृक्षों के रमणीय उपवनों से व्याप्त हों। वह भूमि भी सर्वत्र रोड़े, काँटे आदि से रहित हथेली के समान समतल और वैडूर्यमयी हो।

बोधिसत्त्वमहापर्षन्मंडलानि समन्ततः।
निषीदन्तु स्वशोभाभिर्मण्डयन्तु महीतलम्॥ ३६॥

धर्मोपदेश के लिए अनुयायियों की मंडलियों में उपदेश देते हुए बोधि-सत्त्व अपने गुणों से भूतल को अलंकृत करें।

पक्षिभ्यः सर्ववृक्षेभ्यो रश्मिभ्यो गगनादपि।
धर्मध्वनिरविश्रामं श्रूयतां सर्वदेहिभिः॥ ३७॥

बोधिसत्त्वों के समान सभी देहधारियों को पक्षियों, वृक्षों, किरणों और आकाश से निरन्तर धर्मध्वनि सुनाई दे।

बुद्धबुद्धसुतैर्नित्यं लभन्तां ते समागमम्।
पूजामेघैरनन्तैश्च पूजयन्तु जगद्गुरुम्॥ ३८॥

उन प्राणियों को सदा बुद्ध तथा बुद्धपुत्रों (बोधिसत्त्वों) का सत्-संग मिले और अनन्त पूजा-मेघ से जगद्गुरु बुद्ध की पूजा करें।

देवो वर्षतु कालेन सस्यसंपत्तिरस्तु च।
स्फीतो भवतु लोकश्च राजा भवतु धार्मिकः॥ ३९॥

शक्ता भवन्तु चौषध्यो मन्त्राः सिध्यन्तु जापिनाम्।
भवन्तु करुणाविष्टा डाकिनीराक्षसादयः॥ ४०॥

धर्माभ्यास की सुविधा हेतु, देव समय पर वर्षा करें, फसल संपन्न हं

देश में धार्मिक राजा का शासन हो और लोक समृद्ध हो। ओषधि प्रभाव-शाली हो, जप से मंत्र सिद्ध हों, डाकिनी, राक्षस हिंस्र जानवर आदि के चित्त में करुणा उत्पन्न हो।

मा कश्चिद् दुःखितः सत्वो मा पापी मा च रोगितः।
मा हीनः परिभूतो वा मा भूत् कश्चिच्च दुर्मनाः ॥ ४१ ॥

संक्षेप में कोई भी प्राणी न दुःखी हो, न पापी हो, न रोगी हो; न किसी प्रकार का ड़र हो, न कोई तिरस्कृत हो और न दुष्टचित्त हो।

पाठस्वाध्यायकलिला विहाराः सन्तु सुस्थिताः।
नित्यं स्यात्संघसामग्री संघकार्यं च सिध्यतु ॥ ४२ ॥

(संघ के लिए सामान्य परिणाना)—विहारों में रहने वाले संघों में बुद्धोपदेश तथा उनकी व्याख्या आदि का पठन-पाठन और अध्ययन-अध्यापन हों, कभी संघभेद न हो और संघ के हर पुण्यकार्य सिद्ध हों।

विवेकलाभिनः सन्तु शिक्षाकामाश्च भिक्षवः।
कर्मण्यचित्ता ध्यायन्तु सर्वविक्षेपवर्जिताः ॥ ४३ ॥

(प्रव्रजितों के लिए परिणामना)—शिक्षाओं की यथोचित रक्षा चाहने वाले भिक्षुओं को शारीरिक मनोरंजन से मुक्त एकांत मिले, मन की अस्थि-रता रहित, विवेकशील और कर्मण्य चित्त से वे ध्यान करें।

लाभिन्यः सन्तू भिक्षुण्यः कलहायासवर्जिताः।
भवन्त्वखंडशीलाश्च सर्वे प्रव्रजितास्तथा ॥ ४४ ॥
दुःशीला सन्तु संविग्नाः पापक्षयरताः सदा।
सुगतेर्लाभिनः सन्तु तत्र चाखंडितव्रताः ॥ ४५ ॥

भिक्षुणियों को उचित लाभ हो, उनमें कलह न हों, और दूसरों के हानि से मुक्त हों। इसी प्रकार सभी प्रव्रजितों का शील खंडित न हों।

दुःशील लोग पश्चात्ताप के साथ सदा पाप-क्षय करने का प्रयत्न करें जिससे सुगति प्राप्त हो और उस जीवन में व्रत भंग न हो।

पंडिताः सत्कृताः सन्तु लाभिनः पैण्डपातिकाः।
भवन्तु शुद्धसंतानाः सर्वदिक्ख्यातकीर्तयः ॥ ४६ ॥

पंडितों को लोक में लाभ और सत्कार मिले, अहंकार रहित शुद्ध चिंतन हों और सभी दिशाओं में उनकी कीर्ति फैले।

अभुक्त्वापायिकं दुःखं विना दुष्करचर्यया।
दिव्येनैकेन कायेन जगद् बुद्धत्वमाप्नुयात् ॥ ४७ ॥

विना दुर्गति के दुःख भोगे और कठोर तपस्या किये देव से बढ़कर सुगति का शरीर पाकर बुद्धत्व प्राप्त हो।

पूजयन्तां सर्वसंबुद्धा सर्वसत्त्वैरनेकधा।
अचिन्त्यबौद्धसौख्येन सुखिनः सन्तु भूयसा ॥ ४८ ॥

सभी प्राणियों द्वारा समस्त बुद्धों की अनेक बार पूजा हो और बुद्धत्व के अचिन्तनीय सुख से वे सदा सुखी रहे।

सिध्यन्तु बोधिसत्त्वानां जगदर्थं मनोरथाः।
यच्चिन्तयन्ति ते नाथास्तत्सत्त्वानां समृध्यतु ॥ ४९ ॥

बोधिसत्त्वों के प्राणिहित कार्य सफल हों और उन नाथों की जो इच्छा हो, वे सब प्राणियों को संपन्न हों।

प्रत्येकबुद्धाः सुखिनो भवन्तु श्रावकास्तथा।
देवासुरनरैर्नित्यं पूज्यमानाः सगौरवैः ॥ ५० ॥*

---

* तिब्बती अनुवाद में इस श्लोक की अन्तिम दो चरण नहीं मिलता।

प्रत्येकबुद्ध तथा श्रावक अर्हत् भी गौरव के साथ देव, असुर तथा मनुष्यों की पूजा से सुखी हो। (श्लोक संख्या ५१ से ५६ तक ग्रन्थ रचयिता की अपने लिए परिणामना है)

जातिस्मरत्वं प्रव्रज्यामहं च प्राप्नुयां सदा।
यावत्प्रमुदिताभूमिं मंजुघोषपरिग्रहात् ॥ ५१ ॥

येन तेनाशनेनाहं यापयेयं बलान्वितः।
विवेकवाससामग्रीं प्राप्नुयां सर्वजातिषु ॥ ५२ ॥

अपने इस पुण्य के बल और बोधिसत्त्व मंजुघोष की कृपा से प्रमुदिता-भूमि तक मुझे सदा पूर्वजन्मों का स्मरण और प्रव्रज्या प्राप्त हो। अल्प एवं साधारण भोजन करके भी स्वस्थ तथा सबल रह सकूँ। प्रत्येक जन्म में मुझे सुख-संपत्ति और एकान्तवास प्राप्त हो।

यदा च द्रष्टुकामः स्यां प्रष्टुकामश्च किंचन।
तमेव नाथं पश्येयं मंजुनाथमविघ्नतः ॥ ५३ ॥

जब दर्शन करने या कुछ अर्थ पूछने की इच्छा उत्पन्न हो, तो प्रभु-मंजुनाथ का विना विघ्न के स्पष्ट साक्षात्कार हो।

दशदिग्व्योमपर्यन्तसर्वसत्त्वार्थसाधने।
यथा चरति मंजुश्रीः सैव चर्या भवेन्मम ॥ ५४ ॥

दशदिशाओं के आकाश पर्यंन्त प्राणियों के उपकार के लिए मेरा आचरण वैसे ही हो जैसी कि मंजुश्री की है।

आकाशस्य स्थितिर्यावद्यावच्च जगतः स्थितिः।
तावन्मम स्थितिर्भूयाज् जगद्दुःखानि निघ्नतः ॥ ५५ ॥

जब तक आकाश और संसार की स्थिति रहे, मुझे संसार में रहकर जगत् का दुःख दूर करने के अवसर मिलें।

यत्किंचिज्जगतो दुःखं तत्सर्वं मयि पच्यताम्।
बोधिसत्त्वशुभैः सर्वैर्जगत् सुखितमस्तु च॥ ५६॥

जगत् का प्रत्येक दुःख मुझे भोगने को मिले और बोधिसत्त्व के पुण्यों के फलस्वरूप सभी जगत् सुखी हो।

जगद्दुःखैकभैषज्यं सर्वसंपत्सुखाकरम्।
लाभसत्कारसहितं चिरं तिष्ठतु शासनम्॥ ५७॥

(बुद्धशासन के जगत् में फलने-फूलने के लिए परिणामना)—पुण्यबल से जगत् के दुःखों का एकमात्र निवारक औषधि और सभी सुख-संपत्तियों का स्रोत बुद्धशासन लाभ-सत्कार के साथ उस काल तक स्थिर रहे जब तक संसार रहे।

मंजुघोषं नमस्यामि यत्प्रसादान्मतिः शुभे।
कल्याणमित्रं वन्देऽहं यत्प्रसादाच्च वर्धते॥ ५८॥

(कृतज्ञतानुस्मरण के साथ नमस्कार)—और अन्त में, जिसकी कृपा से बोधिचित्त की भावना, बोधिचर्या का अभ्यास और बोधिचर्यावतार जैसे ग्रन्थ की रचना का पुण्य-विचार हुआ है, उस मंजुघोष को नमस्कार करता हूँ। जिनकी कृपा से मुझमें पुण्य कर्म की प्रेरणा उत्पन्न हुई उन कल्याण-मित्रों की भी चारण-वन्दना करता करता हूँ।

[इस मूलग्रन्थ का तिब्बती अनुवाद, भारतीय पंडित सर्वज्ञादेव तथा लोच्चावा (तिब्बती अनुवादक) वन्दे पालचेग ने कश्मीर से प्राप्त मूल-ग्रन्थ के आधार पर किया और कुछ समय बाद लोच्चावा रिनछेन

सङ्‌पो तथा शाक्यमति ने मध्य भारत से प्राप्त मूलग्रन्थ तथा टीका के अनुरूप भारतीय पंडित धर्मश्रिभद्र के सहयोग से इसका संशोधन हुआ।

तत्पश्चात् आचार्य सुमतिकीर्ति और तिब्बती अनुवादक भिक्षु लोदेन शेरब के द्वारा इसका अन्तिम संशोधन भी किया गया।]

बोधिचर्यावतार का परिणामना नामक दशम परिच्छेद समाप्त ॥

॥ सर्वमङ्गलम् ॥